प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, १९८३ ई०
मूल्य : रु० ५०-००

फोन : ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
229

ŚAṄKARĀCĀRYA'S

PAÑCĪKARAṆAM

With

(1) Sureśvara's Vārtika (2) Nārāyaṇa's Vārtikābharaṇa (3) Ānandagiri's Vivaraṇa (4) Rāmatīrtha's Tattvacandrikā (5) Śāntyānanda's Advaitāgamahṛdaya & (6) Gaṅgādhara's Pañcīkaraṇacandrikā and their Hindi translation

By

Dr. KAMESHWAR NATH MISHRA
Reader, Deptt. of Sanskrit
Central Institute of Higher Tibetan Studies,
SARNATH, Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

First Edition : 1983

Price : Rs. 50-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

प्राक्कथन

अद्वैत-वेदान्त में पञ्चीकरण एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके निरूपण से सृष्टि तथा प्रलय के क्रमों के साथ ही साधन-चतुष्टय-सम्पन्न संन्यासियों के आत्मानुसन्धान की प्रक्रिया भी स्पष्ट हो जाती है। मुझको प्रसन्नता है कि इस महत्त्वपूर्ण विषय पर सूत्ररूप में लिखित आचार्य शङ्कर के प्रकरण-ग्रन्थ 'पञ्चीकरणम्' से सम्बद्ध यावदुपलब्ध सामग्री एक साथ संगृहीत करके जिज्ञासुओं के समक्ष हिन्दी अनुवाद के साथ उपस्थित कर पा रहा हूँ।

यहाँ सन्निविष्ट समस्त संस्कृत-सामग्री गुजराती-प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, तथा चौखम्बा से प्रकाशित संस्करणों के आधार पर है। अनेक टीकाकारों की टीकायें उपलब्ध होने से, जहाँ कहीं भी मूल-ग्रन्थ में पाठान्तर की सम्भावनायें रही हैं, स्वतः यथास्थान चर्चित हो गयी हैं, अतः अन्य हस्तलेखों की ओर प्रयास नहीं किया गया। मूलग्रन्थ के साथ वार्तिक, वार्तिक की टीका आभरण, विवरण और उसकी टीका तत्त्व-चन्द्रिका और अद्वैतागमहृदय इन सब का हिन्दी भाषान्तर साथ होने से हिन्दी-भाषियों को भी गूढ प्रतिपाद्य समझने में सुगमता होगी। विद्वान् टीकाकारों ने 'पञ्चीकरण' से सम्बद्ध प्रायः समस्त शङ्काओं की उद्भावना करके समाधान भी प्रस्तुत कर दिया है, अतः भूमिका में पिष्ट-पेषण नहीं किया गया है, यही कारण है कि भूमिका को अनावश्यक-रूप से विस्तृत नहीं किया गया है, अपितु ग्रन्थ, उसके टीकाकार, प्रक्षेप और मूल-सिद्धान्त पर सम्भव कुछ महत्त्वपूर्ण शङ्का-समाधानों को प्रस्तुत करके सन्तोष कर लिया गया है।

हर भाषा की अपनी शैली और अपनी अभिव्यक्ति होती है, जो दूसरी भाषा के स्वभाव के अनुकूल नहीं भी हो सकती है। अतः मूल तथा टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर करते समय यह ध्यान रखा गया है कि भाव स्पष्ट हो जायें, किन्तु संस्कृत की प्रतिपादन-विधि ज्यों की त्यों बनी रहे। सामान्य हिन्दीभाषियों को अनुवाद की रीति कुछ अटपटी लग सकती है, किन्तु भारतीय दर्शन के संकृत-ग्रन्थों के अविकल हिन्दी-अनुवाद को पढ़ने में अभ्यस्त मनीषियों को कुछ भी असहज नहीं लगेगा। वैसे भी अनुवाद की अपनी बहुत सी सीमायें तथा विषमतायें भी होती ही हैं।

हिन्दी भाषा में संस्कृत के मूल ग्रन्थों को छोड़कर उनकी टीको-पटीकाओं का अनुवाद बहुत कम हुआ है। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य आदि कुछ आचार्यों के ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता पर रचित भाष्यों के अतिरिक्त सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि कुछ ही टीका-ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाश में आया है। स्नातकोत्तर कक्षाओं में पाठचक्रम में निर्धारित कुछ ग्रन्थों की टीकायें या उनके भी कुछ अंश ही यत्र-तत्र प्रकाशित हुये हैं। मुझे प्रसन्नता है कि 'पञ्चीकरणम्' की पाँच टीकोपटीकाओं का हिन्दी भाषान्तर दिया जा रहा है। साथ में यतिवर गङ्गाधर की टीका अर्वाचीन होने के कारण परिशिष्ट में मूलरूप में दी जा रही है।

इस संस्करण में मूल-पञ्चीकरण का अनुवाद प्रारम्भ में ही अलग से दे दिया गया है, अतः बाद में टीकाओं के साथ उल्लिखित मूल के अंशों का हिन्दी अनुवाद नहीं दिया गया। प्रतीक के रूप में ही मूल को वहाँ बैठाया गया है। उद्धरणों के आकरों का निर्देश परिशिष्ट में किया गया है, अतः मूल में प्रायः आकर निर्देश नहीं किया गया।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिये चौखम्भा संस्कृत संस्थान के स्वत्वाधिकारियों, विशेषकर श्रीमोहनदास गुप्त एवं उनके पुत्र चि० राजेन्द्रकुमार गुप्त को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने कई वर्षों से पीछे पड़कर यह कार्य सम्पन्न करा लिया और कहीं पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत न होने पर भी इस ग्रन्थ की टीकोपटीकाओं का हिन्दी भाषान्तर छापने का साहस किया। प्रेस के श्री ब्रजरत्नदास गुप्त जी भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने मनोयोग से इस कार्य को लिया। प्रेस के ही कर्मठ कार्यकर्त्ता पं० गणपति शङ्कर त्रिवेदी जी को मैं साधुवाद देता हूँ जिन्होंने इतनी अधिक टीकाओं और उनके अनुवादों के क्रमबद्ध-संयोजन में अथक परिश्रम किया और अन्ततः ग्रन्थ को मनोनुकूल रूप में छाप ही डाला।

मेरी अन्य अनेक कृतियों की भाँति यह भी द्वारका-शारदापीठ तथा ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरुशङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी के चरण-कमलों में श्रद्धासहित समर्पित है।

सारनाथ
१५-१२-८३

—कामेश्वरनाथ मिश्र

भूमिका

आद्यश्रीशङ्कराचार्य भगवत्पाद (५०९ ई० पू० अथवा ७८८ ई०) ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता) पर अपना महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखकर निर्विशेषाद्वैत अथवा अद्वैत मत की स्थापना दार्शनिक जगत् में की। इन भाष्यों के अतिरिक्त लगभग ६० स्तोत्रों, लगभग दस छुटपुट व्याख्याओं, अनेक तन्त्र-ग्रन्थों के साथ लगभग छिहत्तर वेदान्तप्रकरण-ग्रन्थों का भी रचयिता उनको ही माना जाता है, यद्यपि अनेक विद्वानो के अनुसार बहुसंख्यक स्तोत्र और प्रकरण परवर्ती पीठासीन शङ्कराचार्य विरुदभाग् आचार्यों द्वारा लिखे गये।[1]

आद्यश्रीशङ्कराचार्य-विरचित निर्विवादरूप से मान्य वेदान्त-प्रकरण ग्रन्थों में 'पञ्चीकरणम्' अन्यतम एवं महत्त्वपूर्ण है। आकार की दृष्टि से लघु होते हुये भी सिद्धान्त और परमहंस-प्रयोजन की दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक है। प्रस्थानत्रयी के भाष्यों में यद्यपि यथावसर सम्प्रदाय की सभी मान्यताओं का संक्षेप में प्रतिपादन मिलता है, तथापि प्रसङ्ग को ध्यान में रखते हुये तत्सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा वहाँ सम्भव नहीं हो पाती रही। इसीलिये भगवत्पाद ने महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन पृथक्-पृथक् प्रकरण ग्रन्थों में किया। 'पञ्चीकरणम्' में विवेचन किया गया है कि एक परमहंस इस जगत् को किस दृष्टि से देखे, किस प्रकार से इस विश्व की उत्पत्ति और प्रलय को समझे, इस मिथ्या जगत् का विलय सच्चिदानन्द स्वरूप ओङ्कार में कैसे करे। सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या के परमहंस-विद्या होने के कारण यहाँ भी परमहंसों के लिए उपयोगी

१. शङ्कराचार्य के समय, ग्रन्थ आदि के विषय में द्रष्टव्य—डा० कामेश्वरनाथ मिश्र द्वारा सम्पादित, 'ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्' चतुःसूत्री, चौखम्बा, १९७६ की भूमिका।

समाधिविधि का ही निरूपण किया गया है, न कि उपासना-विधि का, क्योंकि संन्यासी का लक्ष्य आत्मानुसन्धान अथवा स्वरूपानुसन्धान ही है।

'पञ्चीकरणम्' का कलेवर

यह ग्रन्थ गद्यात्मक सूत्र शैली में विरचित है। मूलतः इसमें मात्र उन्नीस (प्रक्षिप्त अंश के साथ अट्ठाइस) वाक्य हैं, जिनमें अन्त में महावाक्य-चतुष्टय भी सन्निविष्ट हैं। इस प्रकार आकार की दृष्टि से निःसन्देह ग्रन्थ बहुत लघु है।

प्रक्षिप्त-अंश

इस लघुकाय ग्रन्थ के प्रारम्भ में बहुत बड़ा प्रक्षेप है। 'अथातः' से 'निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते'[1] तक का अंश निःसन्देह प्रक्षेप है। इसका प्रमाण यथास्थान पृष्ठ एक पर पादटिप्पणी में दे दिया गया है। बाह्य प्रमाणों के अतिरिक्त आभ्यन्तर प्रमाण यह है कि इतने अंश में प्रतिपादित भूतों की अभिव्यक्ति की प्रारम्भिक प्रक्रिया सांख्य-मत के अनुरूप अधिक तथा शाङ्करवेदान्त के अनुरूप कुछ कम है। सब मिलाकर यहाँ पौराणिकसांख्य की ही गन्ध अधिक है। इस अंश के अकेले व्याख्याकार शान्त्यानन्द को यहाँ प्रयुक्त आभास-क्रम को सङ्गत सिद्ध करने के लिये बहुत प्रयास करना पड़ा है। इससे भिन्न एक बात यह भी है कि इस अंश को निकाल देने पर भी पूरी-पञ्चीकरण प्रक्रिया को समझने में बाधा नहीं होती है और शेष भाग से अपेक्षित अर्थ की पूर्ति हो जाती है।

पञ्चीकरण की टीकायें तथा टीकाकार

मूल 'पञ्चीकरण' पर अनेक टीकोपटीकायें उपलब्ध होती है, जिनमें से कुछ प्राप्त हैं तथा कुछ अप्राप्त। इन टीकाओं के नाम तथा प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं।

मूल-अंश पर श्रीसुरेश्वराचार्य-विरचित वार्तिक है। इस 'वार्तिक' पर भी श्रीनारायणेन्द्र सरस्वती ने अपनी 'वार्तिकाभरण' नाम की व्याख्या लिखी थी। आनन्दगिरि का 'विवरण' मूल 'पञ्चीकरण' की व्याख्या है। 'विवरण' पर भी रामतीर्थ की लिखी

१. द्रष्टव्य पृ० १।

'तत्त्वचन्द्रिका' व्याख्या है। श्री शान्त्यानन्द सरस्वती का अद्वैतागमहृदय' तथा यतिवर गङ्गाधर की 'पञ्चीकरणचन्द्रिका' मूलग्रन्थ की ही व्याख्यायें हैं। इस प्रकार यहाँ उल्लिखित और वर्तमान ग्रन्थ में मुद्रित चार टीकायें मूलग्रन्थ की हैं तथा शेष दो टीकाओं की टीकायें हैं।[1]

'पञ्चीकरण 'वार्तिक' में कुल पैंसठ कारिकायें हैं, जिसमें से अन्तिम अर्थात् ६५ वीं कारिका प्रक्षिप्त है, क्योंकि इस पर 'आभरण'-व्याख्या नहीं है। इस वार्तिक के भी रचयिता सुरेश्वराचार्य ही हैं, जिन्होंने शङ्कराचार्य के 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्र' पर 'मानसोल्लास' नामक वार्तिक लिखा था। सुरेश्वराचार्य आद्यशङ्कराचार्य के प्रधान शिष्यों में से अन्यतम तथा श्रृङ्गेरी-पीठ के प्रथम आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका समय परम्परा के अनुसार, शङ्कराचार्य के समकालीन होने से, पाँचवी शती ई० पू० तथा आधुनिक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ८ वीं शती ईसवी है। सुरेश्वर के पूर्व आश्रअ का नाम 'मण्डनमिश्र' भी सुना जाता है, किन्तु वर्तमान शोधों के अनुसार ये दोनों ही भिन्न-भिन्न पुरुष थे। सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों में (१) नैष्कर्म्यसिद्धि, (२) बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, (३) तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, (४) पञ्चीकरणवार्तिक, (५) दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक मानसोल्लास, (६) काशीमृतिमोक्षविचार आदि हैं।

'वार्तिकाभरण के रचयिता नारायणेन्द्र सरस्वती के विषय में अधिक सामग्री नहीं मिलती। 'न्यू कैटेलागस कैटेलेगोरम' (खण्ड दस) पृ० १०७ पर इस नाम के चार व्यक्तियों का उल्लेख है, किन्तु वहाँ 'आभरण' का रचयिता इनमें से किसी को भी नही बतलाया गया है। इन्होंने वाचस्पतिमिश्र के मत का उल्लेख नाम ग्रहण पूर्वक किया है (पृ० ४६)। उनका समय नवम शतक ईसवीय माना जाता है। इन्होंने आनन्दगिरि के विवरण का भी उल्लेख[2]

१. इसके अतिरिक्त 'आभरणकार' की 'पञ्चीकरणभाव-प्रकाशिका' (द्रष्टव्य ५० वें वार्तिक की व्याख्या) तथा 'स्वयंप्रकाशयति' की 'विवरण टीका' का भी उल्लेख मिलता है, जो प्राप्त नहीं हैं।

२. इत्यानन्दगिरीयें व्याख्यातम्—१४ वें वार्तिक की व्याख्या में।

किया है। अतः इस प्रकार इनका समय १४ वीं-१५ वीं शताब्दी माना जा सकता है।

'विवरण' टीका के रचयिता आनन्दगिरि अथवा आनन्दज्ञान भगवत्पाद शङ्कराचार्य के सभी भाष्यों के यशस्वी विवरणकार हैं। इनके पूर्वाश्रम का नाम जनार्दन बतलाया जाता है। इनका समय सामान्यतः १३ वी, १४ वीं शती ईसवी स्वीकार किया जाता है। इनके प्रमुख ग्रन्थ लगभग बीस बतलाये जाते हैं, यथा—

(१) न्यायनिर्णय–शारीरक-भाष्य की टीका
(२) टीका–गीता के शाङ्करभाष्य पर
(३) टीका–उपदेशसाहस्री पर
(४-१३) टीका–दस उपनिषदों के शाङ्करभाष्य पर
(१४) टीका–न्यायरत्नदीपावली पर
(१५) टीका–त्रिपुटी पर
(१६) टीका–अपरोक्षानुभूति पर
(१७) विवरण–पञ्चीकरण पर
(१८) व्याख्या–शतश्लोकी की
(१९) टीका–पदार्थतत्त्वनिर्णय की
(२०) शाङ्करदिग्विजय।

आनन्दगिरि के 'विवरण' के टीकाकार रामतीर्थयति भी महान् टीकाकार के रूप में ख्यात हैं। यह कृष्णतीर्थ के शिष्य तथा जगन्नाथाश्रम के समकालीन थे। इनका समय सामान्यतः १७ वी शताब्दी ईसवी माना जाता है। 'तत्त्वचन्द्रिका' के अतिरिक्त इनके प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—

(१) शरीरकरहस्यार्थप्रकाशिका
(२) पदयोजनिका–उपदेशसाहस्री पर
(३) टीका–सुरेश्वर के 'मानसोल्लास' पर
(४) अन्वयार्थप्रकाशिका–संक्षेप-शारीरक की टीका
(५) विद्वन्मनोरञ्जनी–सदानन्द के वेदान्तसार की टीका।
(६) व्याख्या–मैत्रायणीयोपनिषद् की।

रामतीर्थयति की टीकाओं के मङ्गलाचरणों तथा ग्रन्थान्त के श्लोकों को देखने से प्रतीत होता है कि इनके इष्ट विष्णु के विभिन्न अवतार–विशेषतः राम रहे हैं।

शान्त्यानन्द सरस्वती कृत 'अद्वैतागमहृदय'-टीका की भाषा में नव्यन्याय का पुट है। यह टीका अत्यन्त गम्भीर एवं तलस्पर्शिनी है। इनका समय बहुत बाद का–लगभग १९ वीं शताब्दी का अन्त और बीसवीं शताब्दी का आरम्भ–माना जा सकता है। इनकी अन्य कृतियों के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

'पञ्चीकरण-चन्द्रिका' के रचयिता यतिवर गङ्गाधर के भी विषय में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनके काशीवासी होने का प्रमाण इनकी इसी कृति के प्रारम्भिक श्लोकों से मिलता है। इनके गुरु आदि का भी ज्ञान प्रारम्भिक श्लोकों से ही होता है। इन्हीं अंशों से इनका अनेक ग्रन्थों का कर्तृत्व भी सिद्ध होता है। इनकी 'पञ्चीकरण-चन्द्रिका' में इनके दो ग्रन्थों 'शारीरसूत्रार्थ-चन्द्रिका, तथा 'ध्यानवल्लरी' का उल्लेख मिलता है।

द्वारका-शारदा-पीठाधीश्वरत्व

गुजराती प्रिंटिङ्ग प्रेस से प्रकाशित 'पञ्चीकरणम्' की अंग्रेजी-भूमिका में प्रथम-पाँच टीकाकारों को द्वारकास्थ शारदापीठ का शङ्कराचार्य बतलाया गया है। यह सब पूर्णतः विवाद का विषय है, क्योंकि वार्तिककार सुरेश्वर को ही शृङ्गेरी-पीठ का प्रथम आचार्य माना जाता है और हस्तामलकाचार्य को द्वारका-शारदा-मठ का प्रथम आचार्य। परम्परया तथा मठाम्नाय[1] दोनों से ही उक्त तथ्य उद्घाटित होता है। इन टीकाकारों के वैदुष्य को देखते हुये इनके पीठाधीश्वरत्व की पात्रता में सन्देह नहीं किया जा सकता, किन्तु जब तक उक्त पीठों के आचार्यों की परम्परा नहीं देख ली जाती, तब तक उक्त घोषणा उचित नहीं प्रतीत होती।

पञ्चीकरण-प्रक्रिया

मूल ग्रन्थ के सूत्रात्मक होने पर भी उसकी वार्तिक-समेत चार-चार टीकाओं तथा उन टीकाओं में से भी दो की विद्वत्तापूर्ण टीकाओं तथा उनके हिन्दी अनुवाद के ग्रन्थ में विद्यमान रहने पर अब प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिये अधिक लिखना शेष नहीं रह जाता, तथापि तत्सम्बद्ध कुछ अस्पृष्ट अथवा स्वल्प-स्पृष्ट बिन्दुओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१. डा० कामेश्वरनाथ मिश्र सम्पादित-ब्र० सू० शाङ्करभाष्य (चतुःसूत्री) परिशिष्ट १ पृ० १६१-१६३

अद्वैत-वेदान्त का मूल प्रतिपाद्य तो औपनिषद ब्रह्म ही है, किन्तु प्रसङ्गतः उसके विवर्त का भी निरूपण होता ही रहा है। हर चिन्तक के समक्ष परमार्थतः सत् न होते हुये भी व्यवहार-जगत् उपस्थित रहा है और उसकी एक सङ्गत व्याख्या अपेक्षित रही ही है। द्वैतवादी सांख्य आदि तथा बहुत्ववादी नैयायिक आदि के समक्ष यह जगत् सत्य-रूप में 'परिणाम' अथवा 'आरम्भ' है। उनके मत में सूक्ष्मता में तर-तम हो सकता है, स्वरूप के विवेचन में भेद हो सकता है, किन्तु वस्तु की सत्ता में भेद नहीं है। उनकी दृष्टि में सारा जगत्—सूक्ष्म हो अथवा स्थूल-पूर्णतः सत्य है। विशिष्टाद्वैत और आभासवादी शैवों की भी अपनी-अपनी वस्तुवादी व्याख्यायें हैं, किन्तु अद्वैत-वेदान्त की व्याख्या सबसे भिन्न और निराली ही है।

जब तक केवल ब्रह्म का चिन्तन-मनन है, जगत् का कोई प्रसङ्ग नहीं आता, किन्तु जगत् की ओर बुद्धि के जाते ही निष्कल ब्रह्म मायोपहित दृष्टिगोचर होने लगता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म के मायोपहित होते ही जगत्प्रपञ्च का क्रम प्रारम्भ होने लगता है। इस जगत् की क्रमिक विलास-शृङ्खला में सर्वप्रथम आकाश का प्रादुर्भाव होता है, उस प्रादुर्भूत आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी का प्रादुर्भाव होता है। ये पाँचों तत्त्व उत्तरोत्तर अनुस्यूत होते हैं और अत्यन्त सूक्ष्मरूप में केवल तन्मात्र-स्वरूप में ही कल्पित किये गये हैं। सूक्ष्म होने पर भी इनमें उत्तरोत्तर गुणाधिक्य की कल्पना होने से उत्तरोत्तर सूक्ष्मता में ह्रास भी कल्पित किया जाता है। सूक्ष्म आकाश सूक्ष्म वायु से सूक्ष्मतर है और सूक्ष्म वायु सूक्ष्म तेज से, इसी प्रकार पृथ्वी पर्यन्त, तर-तम का क्रम चलता रहता है। आकाश का एक ही गुण है शब्द, वायु का शब्द तथा स्पर्श, तेज का शब्द, स्पर्श और रूप, जल का शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस और पृथ्वी में इन चारों के साथ गन्ध गुण भी रहता है। एक अथवा अनेक गुणों का आश्रय होने पर भी पाँचों तत्त्वों के पृथक्-पृथक् तन्मात्र-स्वरूप वेदान्त को मान्य हैं जो तब तक स्थूल नहीं कहे जा सकते जब तक पञ्चीकरण हो नहीं जाता है।

लोक में जितना भी आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी अनुभव में आ रहा है, वह स्थूल है, और जिसको जल, वायु आदि

संज्ञाओं में अभिहित किया जाता है वह तन्मात्र न होकर अपने से भिन्न शेष चार तत्त्वों का भी संहत रूप है। प्रत्येक स्थूलभूत में आधा भाग उसका अपना होता है, शेष आधे भाग में अन्य चारों भूतों का बराबर अंश समाहित होता है। गणितीय रूपरेखा इस प्रकार होगी——

सूक्ष्म-भूत

आकाश +	वायु +	तेज +	जल +	पृथ्वी	= स्थूलभूत
$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	= आकाश
$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	= वायु
$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	= तेज
$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{8}$	= जल
$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{8}$	$\frac{1}{2}$	= पृथ्वी

सूक्ष्मभूतों के स्वरूप के अनुसार ही स्थूलभूतों में भी तारतम्य समझना चाहिये। अर्थात् स्थूल भूतों में भी आकाश सूक्ष्मतम और पृथिवी स्थूलतम है। इनके लोकों का घनीभाव इसी प्रकार का है।

संक्षेप में यही पञ्चीकरण की प्रक्रिया है। स्व-स्वरूप में अवस्थित भूत-तन्मात्र जब एक साथ मिल जाते हैं तब पञ्चीकरण होता है। पञ्चीकरण में 'च्वि'-प्रत्यय लगने का अभिप्राय ही यह है कि जो पाँचों तत्त्व पृथक्-पृथक् है, एक-साथ सम्मिलित नहीं हैं, उनको एक साथ मिला देना।

यह 'पञ्चीकरण' का सिद्धान्त वेदान्त की परम्परा से प्राप्त है। उपनिषद् में 'त्रिवृत्करण' का सिद्धान्त (छान्दोग्य उप० ६।३।४) प्रतिपादित है। उस सिद्धान्त के अनुसार आकाश और वायु सूक्ष्म तथा अत्रिवृत्कृत हैं। तेज, जल और पृथिवी इन्हीं तीनो का त्रिवृत्करण होता है। इस मत में प्रत्येक स्थूलभूत में आधा भाग उसका निजी होता है और शेष आधे भाग में बराबर-बराबर मात्रा में शेष दो भूतों का संमिश्रण होता है। यह त्रिवृत्करण ही उनके अनुसार मान्य हैं।

वेदान्त-कौमुदीकार आचार्य रामाद्वय[1] के अनुसार त्रिवृत्करण

[1]. वेदान्तकौमुदी पृ० ३४०–३४२, का० हि० वि०, १९७३।

ही शास्त्रीय सिद्धान्त है, न कि पञ्चीकरण, क्योंकि प्रथम का उल्लेख उपनिषदों में हैं, द्वितीय का नहीं। किन्तु अधिकांश आचार्य शङ्कराचार्य के ही प्रतिपादन का समर्थन करते हैं कि वस्तुतः पञ्चीकरण ही होता है, त्रिवृत्करण यथार्थतः पञ्चीकरण का ही उपलक्षण है। त्रिवृत्करण तथा पञ्चीकरण दोनों के शास्त्रप्रतिपादित होने के प्रसङ्ग पर यथास्थान टीकाओं में शङ्कायें तथा उनके समाधान प्रस्तुत किये गये हैं।

पञ्चीकरण के पूर्व समस्त भूत सूक्ष्म ही माने जाते हैं। यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि पञ्चीकरण की पूर्वावस्था में जब प्रत्येक भूत के कतिपय अंश गृहीत होते हैं, तब उनके सावयव होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा और सावयवता के कारण उनमें स्थूलता भी माननी पड़ेगी, किन्तु सिद्धान्ततः पञ्चीकरण के पूर्व भूतों को स्थूल स्वीकार नहीं किया जाता है। जिस प्रकार से नैयायिको के मत में आरम्भ से पूर्व विद्यमान रहने वाले अनन्त एवं नित्य पार्थिव, जलीय, वायवीय आदि परमाणु स्थूल नहीं कहे जाते हैं, अपितु संयोगवशात् द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि जब तक रूप नहीं पाते हैं, तब तक उनमें स्थूलता नहीं मानी जाती है, उसी प्रकार से यहाँ भी समझना चाहिये।

पञ्चीकरण और आत्मानुसन्धान

भगवत्पाद आद्य श्रीशङ्कराचार्य एक महान् औपनिषद सिद्धान्त के प्रवर्तक थे। उन्होंने भारत की चारों दिशाओं में पीठ स्थापित किया, अतः अनेक प्रकार की व्यवस्थायें देना उनके लिये अनिवार्य था। दस प्रधान उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर भाष्य लिख कर उन्होंने अपने मत को उपनिषदादि-सम्मत सिद्ध किया, मठों को स्थापित करके स्वधर्म और वेदों की रक्षा का उपाय निकाला, इसके अतिरिक्त उनकी व्यवस्था के लिये 'मठाम्नाय-महानुशासन' की रचना की। यद्यपि शारीरकभाष्य में साधनपाद तथा फलाध्याय में वीतराग संन्यासियों के लक्ष्य तथा साधन को स्पष्ट किया है, तथापि उन्होने पृथक्-रूप से संन्यासियों के लक्ष्य को प्रतिपादित करने के लिये प्रकरण-ग्रन्थों का निर्माण किया।

उपनिषदों में प्रणवोपासना का विस्तार से उल्लेख मिलता है। संन्यासियों का परमलक्ष्य 'प्रणव' ही है, और वही उसके अधिकारी

भी हैं। भगवत्पाद ने प्रणवोपासना का नहीं अपितु प्रणव के माध्यम से सम्पूर्णजगत् की ब्रह्मरूपता कैसे समझें, यह बतलाया है। अतः पञ्चीकरण के माध्यम से एक ओर आचार्य जहाँ पूरी सृष्टि प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं, वही क्रमशः उसका विलय भी परमतत्त्व ओङ्कार में प्रदर्शित करके 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का सिद्धान्त भी सुस्थिर करते हैं। प्रणव अपने में जहाँ ब्रह्म का प्रतीक है, उसका अभिव्यञ्जक स्थूलरूप है, वहीं जगत् का आधार एवं सबका समाहित सूक्ष्म-रूप भी है। माया-शबल ब्रह्म से एक-एक की उत्तरोत्तर उत्पत्ति और अन्त में विलय के समय अन्त्य का क्रमशः पूर्व-पूर्व में विलय प्रदर्शित करते हुये मूलाधार ब्रह्म की अवशिष्टता अद्वैत का चरम प्रतिपाद्य है। इसी का आत्मस्वरूपेण साक्षात्कार पञ्चीकरण का उद्देश्य है।

अध्यारोप और अपवाद की अद्वैतभावना की प्रक्रिया तान्त्रिकों के आरोह-अवरोहक्रम-साधना से मिलती-जुलती है। पञ्चीकरण उपासना का नहीं अपितु लययोग अर्थात् भावना-योग का प्रतिपादक है।

—कामेश्वरनाथ मिश्र

श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं

पञ्चीकरणम्

[1]अथातः परमहंसानां समाधिविधिं व्याख्यास्यामः ।

ॐ सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म । ब्रह्मणोऽव्यक्तम् । अव्यक्तान्महत् । महतोऽहङ्कारः । अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि । पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् । पञ्चानां भूतानामेकैकं द्विधा विभज्य स्वार्द्धभागं विहायार्द्धभागं चतुर्धा विभज्येतरेषु योजिते पञ्चीकरणं मायारूपदर्शनम् अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।

---

१ 'अथातः परमहंसानां' इत्यारभ्य 'निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इत्यन्तो ग्रन्थः श्रीमच्छङ्कराचार्यवर्याणां वदनारविन्दादनुद्गतः केनचिदनुक्तान्वयदर्शनाभिमते प्रक्षिप्त एवायं कुत्रचिन्मुद्रितपुस्तके दृश्यते । वार्तिकाभरणकारेण द्वितीयश्लोकटीकावतरणे च 'अध्यारोपापवादाभ्यामोङ्कारेण प्रत्यग्ब्रह्माभेदप्रतिपत्तिप्रकारं दर्शयितुमधिष्ठानस्य वास्तवं रूपं अध्यारोप्य प्रपञ्चस्य सृष्टिं च सिद्धवत्कृत्य अध्यारोपमात्र' मुदितम् । वार्तिकाचार्यस्तु [illegible] वार्तिकस्थोक्तानुक्तं तदुभयं च वक्तुकाम आदौ अध्यारोपात्पूर्वमवस्थितं अधिष्ठानभूतात्मस्वरूपमाह—'आसीदेकमिति' इत्युक्तत्वात् वार्तिककारस्यापि सोऽसंमत एवेति आनन्दगिरिचरणानामपि 'ॐ पञ्चीकृत'—इत्यत एव व्याख्यानारम्भणदर्शनाच्च प्रक्षिप्त एवेति न कस्यचिद्विमतिः । युक्तायुक्तविवेचनात्र विवेकवतामायतते ।

(अब सप्रयोजन होने से **परमहंसों** के समाधि की रीति की व्याख्या करेंगे। (यहाँ) सत् शब्द का वाच्य **अविद्या** से उपहित ब्रह्म है। ब्रह्म से अव्यक्त (प्रकृति अथवा प्रधान), अव्यक्त से महत् (अर्थात् बुद्धि), महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत तथा पञ्चमहाभूतों से सारा संसार हुआ। पाँचों भूतों में से प्रत्येक को दो भागों में विभाजित करके अपने आधे भाग को छोड़कर (दूसरे) आधे भाग को चार अंशों में विभक्त करके दूसरों में जोड़ने से पञ्चीकरण होता है, जो माया-स्वरूप अवलोकित होता है, (उसी के सहयोग से) **अध्यारोप** और **अपवाद** के द्वारा निष्प्रपञ्च (ब्रह्म) का प्रदर्शन किया जाता है।)

ॐ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते। एतत् स्थूलशरीरमात्मनः। इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्। तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः। एतत् त्रयमकारः।

ओ३म्। पञ्चीकृत पाँचो महाभूत और उनके कार्य सभी को 'विराट्' कहा जाता है। यह आत्मा का स्थूल-शरीर है। इन्द्रियों से विषयों की उपलब्धि जाग्रदवस्था है। इन दोनों (वैराट शरीर तथा जागरित) का अभिमानी आत्मा 'विश्व' है। (शरीर, जागरित तथा उभयाभिमानी आत्मा) ये तीनों (ओंकार = अ, उ, म् के तीन अवयवों में से) अकार (= अवर्ण) है।

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि तत्कार्यं च पञ्च प्राणाः, दशेन्द्रियाणि, मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। एतत्सूक्ष्मशरीरमात्मनः। करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्न इत्युच्यते। तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः। एतत् त्रयमुकारः।

पञ्चीकृत न हुये पाँचों महाभूत पाँच तन्मात्रायें, उनके कार्य पाँच प्राण, दश इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन सत्रह का समूह 'लिङ्ग', 'भौतिक', 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। यह आत्मा का सूक्ष्म-शरीर है। इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त न रहने पर जाग्रदवस्था के संस्कार से उत्पन्न विषय सहित ज्ञान 'स्वप्न' कहा जाता है। उन दोनों (सूक्ष्म शरीर तथा जागरित) का अभिमानी आत्मा 'तैजस' होता है। वे तीनों (हिरण्यगर्भ, स्वप्न तथा उभयाभिमानी आत्मा) उकार (= उवर्ण) हैं।

शरीरद्वयकारणमात्माज्ञानं साभासमव्याकृतमित्युच्यते। एतत्कारणशरीरमात्मनः। तच्च न सत्, नासत्, नापि सदसत्, न भिन्नं, नाभिन्नं, नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्, न निरवयवं, न सावयवं, नोभयं, किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम्। सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः। तदुभयाभिमान्यात्मा प्राज्ञः। एतत् त्रयं मकारः।

(स्थूल तथा सूक्ष्म) दोनों शरीरों का कारण आभासयुक्त आत्मा का अज्ञान (है जो) 'अव्याकृत' कहा जाता है। यह आत्मा का कारण शरीर है। वह न सत् है न असत्, और न सदसत् ही, न किसी से भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न, न अवयव रहित, न अवयव सहित, न दोनो, अपितु एकमात्र ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्वज्ञान से निराकरणीय है। सभी प्रकार के ज्ञान का उपसंहार हो जाने पर बुद्धि का करण के रूप में अवस्थित रहना 'सुषुप्ति' है। उन दोनों (कारण शरीर तथा सुषुप्ति) का अभिमानी आत्मा 'प्राज्ञ' है। ये तीनों (कारण शरीर, सुषुप्ति तथा उभयाभिमानी आत्मा) मकार (= मवर्ण) हैं।

अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ॐकारे, ॐकारोऽहम्येव। अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः, नाज्ञानं, नापि तत्कार्यं, किन्तु नित्यशुद्ध-

बुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं प्रत्यग्भूतचैतन्यं ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभेदेनावस्थानं समाधिः। "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) "ब्रह्माहमस्मि" (परमहं० ३) "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (ऐ. ब्र. ३।९) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृह. २।५।१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः। इति पञ्चीकरणं भवति॥ ॐ॥

इति श्रीमच्छङ्कराचार्यवर्यविरचितं पञ्चीकरणम्।

अकार उकार में (लीन होता है), उकार मकार में, मकार ओङ्कार में तथा ओङ्कार 'अहम्' में ही। 'अहम्', आत्मा, साक्षी, केवल, चिन्मात्र-स्वरूप, न अज्ञान और न उसका कार्य अपितु नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव वाला, परमानन्द से अभिन्न, आन्तर-चैतन्य, ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार की अभेदमयी स्थिति समाधि है। 'वह तुम हो' 'मैं ब्रह्म हूँ' 'प्रज्ञान, आनन्द ब्रह्म है' 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियों से (उक्त समाधि का स्वरूप सिद्ध होता है।) इस प्रकार पञ्चीकरण (सम्पन्न) होता है। ॐ।

श्री शङ्कराचार्य द्वारा रचा गया पञ्चीकरण समाप्त हुआ।

ॐ नमः सिद्धाय।

श्रीमच्छङ्कराचार्यवर्यप्रणीतं

पञ्चीकरणम्

(१)–सुरेश्वराचार्यकृतवार्तिक (२)–नारायणकृत-वार्तिकाभरण (३)–आनन्दगिरिकृतविवरण (४)–रामतीर्थकृततत्त्वचन्द्रिका (५)–शान्त्यानन्दसरस्वतीकृताद्वैतागमहृदय (६)–गङ्गाधर-कृत-पञ्चीकरणचन्द्रिका इति टीकाषट्कसमलङ्कृतम्।

अथातः परमहंसानां [1]समाधिविधिं व्याख्यास्यामः।

शां. अ.—सच्चिदानन्दरूपोऽहमात्माऽनात्मा न हि क्वचित्।
समाधिस्तु ततः कार्योऽहं ब्रह्मास्मीति सन्ततम्॥ १॥

मैं सत्, चित् और आनन्द स्वरूपवाला आत्मा हूँ, कहीं भी अनात्मा नहीं, अतः निरन्तर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की समाधि की जानी चाहिये॥ १॥

अथशब्दश्रवणं ग्रन्थारम्भे मङ्गलफलकं, तदर्थस्तु साधनचतुष्टयसंपत्तेरनन्तरता। साधनानि विवेकवैराग्यशमादिषट्कमुमुक्षुत्वाख्यानि। तत्र नित्यश्चेतनोऽनित्यो जड इति धीर्विवेकः। श्रवणविरोधिवस्तुषु विरतिर्विरागः। शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानानि शमादीनि षट्। अज्ञाननिवृत्तिः परमानन्दप्राप्तिश्च मोक्षः। तदिच्छा मुमुक्षा, तस्य धर्मो मुमुक्षुता। तस्य च प्रयोजनं मोक्षः, तेन साध्यत्वात्। प्रयोजनं च यदवगतं सत् स्वसम्बन्धितयेष्यते तदेव। तच्च गौणमुख्यभेदेन द्विविधं, मुख्यं मोक्षः, गौणं तत्साधनं ज्ञानम्। ग्रन्थेऽपि मोक्षः प्रतिपादित इति सप्रयोजनो ग्रन्थः। विषयश्चात्र जीवब्रह्मणोरैक्यम्। सम्बन्धश्च

---

१. 'समाधिं' इति विधिशब्दरहित एव शान्त्यानन्दसरस्वतीपादानां सम्मतः पाठः।

साध्यसाधकवाच्यवाचकादिरूपः तदेतदनुबन्धचतुष्टयमप्यथशब्देन सूचितमिति नात्र विवेकिनां प्रवृत्त्यनुपपत्तिशङ्का। [1]ननु यत्कृतकं तदनित्यमिति न्याये जाग्रति ज्ञानसाध्यमोक्षोऽप्यनित्य इति चेत्, न, सिद्ध एव ब्रह्मात्मा मोक्षः, तत्रासिद्धत्वभ्रमेण तत्साधने प्रवृत्त्युपपत्तेः। यतो मोक्षो नानित्यः *अतः* **अस्मात्कारणात्** *परमहंसानां* **मुमुक्षूणां संन्यासिनां सम्यगाधीयते परमात्मतत्त्वं यस्मिन् स** *समाधिस्तं व्याख्यास्यामः।*

ग्रन्थ के आरम्भ में 'अथ' शब्द के श्रवण का फल मङ्गल होता है, और उसका अर्थ (= पश्चात्) साधनचतुष्टय-सम्पत्ति के 'पश्चात्' का (बोधक है।) साधन (चतुष्टय) हैं—(१) (नित्यानित्यवस्तु) विवेक, (२) (इहामुत्रार्थ-फल-भोग) वैराग्य (३) शमआदि छह का समूह, (४) और मुमुक्षुत्व। इनमें नित्य चेतन है, अनित्य जड है, यह बुद्धि 'विवेक' है। श्रुति विरोधी वस्तुओं से विरति 'विराग' है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान (ही) 'शमादि' छह हैं। अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष है। उसकी इच्छा मुमुक्षा है और उस (मुमुक्षा) का धर्म मुमुक्षुता है। उसका प्रयोजन मोक्ष है, क्योंकि उसी से सिद्ध किया जा सकता है। जो जान लिये जाने पर अपने सम्बन्धी के रूप में इष्ट होता है वही 'प्रयोजन' है। वह भी गौण और मुख्य के भेद से दो प्रकार का है, मुख्य है मोक्ष और गौण है उसका साधन ज्ञान। (इस) ग्रन्थ में भी मोक्ष का प्रतिपादन हुआ है इसलिए यह ग्रन्थ भी सप्रयोजन–प्रयोजन के सहित–हुआ। यहाँ (प्रतिपाद्य) 'विषय' है जीव और ब्रह्म की एकता। 'सम्बन्ध' है साध्यसाधक, वाच्यवाचक आदि रूप का। वह यह अनुबन्ध-चतुष्टय भी 'अथ' शब्द से सूचित हो गया इसलिए इसमें विवेकियों को प्रवृत्ति की अयुक्तता की शङ्का नहीं होनी चाहिये। 'जो कृतक है वह अनित्य है' इस न्याय के रहते ज्ञान-साध्य मोक्ष भी अनित्य है', ऐसी शङ्का हो तो, नहीं, ब्रह्म स्वरूप मात्र (तो) सिद्ध ही है, (साध्य नहीं), उसमें असिद्ध होने का भ्रम होने के कारण उसके साधन में प्रवृत्ति संगत होती है। चूंकि मोक्ष अनित्य नहीं है

१. अनेन उत्पाद्यं घटादि, विकार्यं दध्यादि, आप्यं ग्रामादि, संस्कार्यं व्रीह्यादि च यथोत्पत्तिविकृत्याप्तिसंस्कृतिक्रियासाध्यं, तथा न मोक्ष इत्यपि व्याख्यातं, कूटस्थासंगोदासीनस्वभावत्वात्तस्य।

'**अतः**'–इस कारण से '**परमहंसानां**' मुमुक्षु संन्यासियों के द्वारा सम्यक् धारण किया जाता है परम् आत्मतत्त्व जिसमें वह '**समाधिः**' है, हम उसी की व्याख्या करेंगे।

परमहंसाः संन्यासिन इत्यत्र 'संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंस' इति जाबालश्रुतिर्मानम्। अज्ञातज्ञापकं हि मानम्। तच्च प्रमां प्रति करणत्वात् प्रमाणमित्युच्यते। प्रमाणं च व्यावहारिकतत्त्वावेदकं पारमार्थिकतत्त्वावेदकं चेति द्विविधम्। तत्राद्यं प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदेन षड्विधम्। तत्र प्रत्यक्षप्रमाकरणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। सा चान्तःकरणवृत्तिविशिष्टचैतन्यरूपा। वृत्तिस्तावत् त्रिविधा मायावृत्तिरविद्यावृत्तिरन्तःकरणवृत्तिश्चेति। तत्र मायावृत्त्येश्वरो घटादीननुभवति। अविद्यावृत्त्या च साक्षी प्रातिभासिकं वस्त्वनुभवति। अन्तःकरणवृत्त्या तु प्रमाता आन्तरं सुखादि बाह्यं च घटादि साक्षात्करोति। इदमत्र बोध्यम्–वृत्तिर्द्विविधा, अप्रमा प्रमा चेति। अप्रमा तु स्मृत्यनुभवाभ्यां द्विधा। तत्राद्यापि यथार्थायथार्थभेदेन द्विविधा। यथार्थस्मृतिस्तु पुनरप्यात्मानात्मगोचरभेदेन द्विधा। तत्र प्रथमा तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानुसन्धानरूपा। द्वितीया तु प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत्। भेदो मिथ्या अनात्मत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा आत्मा, इत्याद्यदुष्टानुमानसिद्धप्रपञ्चमिथ्यात्वानुसन्धानरूपा, अनात्मगोचरा तु सुखादिविषयिणी। प्रपञ्चसत्यत्वानुसन्धानरूपा आत्मनि कर्तृत्वाद्यनुसन्धानरूपा चेत्ययथार्थानुभवस्मृतिर्द्विधा आत्मानात्मविषयत्वाभ्याम्। अयथार्थानुभवोऽपि द्विविधः संशयो निश्चयश्चेति। एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकज्ञानं संशयः। सोऽपि द्विविधः प्रमाणगतः प्रमेयगतश्चेति। आद्यो यथा वेदान्ता ब्रह्मणि प्रमाणं न वा इति। प्रमेयगतः संशयस्तु आत्मगतोऽनात्मगतश्चेति द्विविधः। स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यंत्यः। आत्मगतस्तु आत्मा देहादिभ्यो भिन्नो न वा? भिन्नत्वेऽपि परमात्मना सहैक्यमस्ति न वा? ब्रह्माद्वितीयं न वा? इत्याद्यनेकविधः। अयमेव संशयोऽसंभावनेत्युच्यते। निश्चयस्तु विपर्ययतर्कभेदेन द्विविधः। तत्र विपर्ययोऽध्यासापरपर्यायो वक्ष्यमाणः। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। अत्र वेदान्तप्रमाणगतसंशयस्तच्छ्रवणेन वेदान्तप्रमेयगतसंशयस्तन्मननेन असंभावना च निदिध्यासनेनापनोद्यते। तत्र गुरूपसदनपूर्वकं विधिवच्छब्दशक्तिविषयकं निरूपणं श्रवणम्। युक्तितः श्रुतवस्तुतत्त्वनिरूपणं मननम्। विजातीयवृत्तितिरस्कारपूर्वकं ब्रह्माकारवृत्तिस्थिरीकरणं निदिध्यासनम्।

अत्र श्रवणमङ्गिविधिः, मनननिदिध्यासने त्वङ्गविधी। अयं च श्रवण-विधिर्नियमविधिरिति केचित्, परिसङ्ख्याविधिरिति परे। न विधि-त्वमित्यन्ये। एवं चेश्वरज्ञानं स्मृतिज्ञानं सुखादिज्ञानं सर्वमप्रमापि यथार्था। संशयविपर्ययतर्कास्त्वप्रमाण्ययथार्था इति सिद्धम्।

'परमहंस संन्यासी होते हैं' इसमें (जो) 'संन्यास से देह का परित्याग करता है वह परमहंस है' यह जाबालश्रुति प्रमाण है। न जाने हुये को ज्ञात कराने वाला मान कहा जाता है। वही प्रमा के प्रति साधकतम होने के कारण 'प्रमाण' कहा जाता है। प्रमाण भी दो प्रकार के होते हैं—व्यावहारिक तत्त्वों को बतलाने वाले तथा पारमार्थिक तत्त्वों को बतलाने वाले। इनमें प्रथम प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के भेद से छह प्रकार का है। इनमें प्रत्यक्ष-प्रमा का अतिशयित साधन प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह (प्रमा) अन्तःकरण की वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य के रूप की है। वृत्ति भी तीन प्रकार की है—माया-वृत्ति, अविद्या-वृत्ति और अन्तःकरणवृत्ति। इनमें मायावृत्ति से ईश्वर घट-आदि का अनुभव करता है, और अविद्यावृत्ति से साक्षी प्रातिभासिक वस्तु का अनुभव करता है। अन्तःकरणवृत्ति से प्रमाता भीतरी सुख-आदि तथा बाह्य घट-आदि का साक्षात्कार करता है। यहाँ यह समझना चाहिये कि—वृत्ति दो प्रकार की है, अप्रमा तथा प्रमा। अप्रमा भी स्मृति और अनुभव रूपों से दो प्रकार की है। इनमें पहली भी यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। यथार्थ-स्मृति तो फिर भी आत्मगोचर और अनात्मगोचर भेद से दो प्रकार की है। इनमें पहली 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा किए जाने वाले 'अनुसंधान' के रूप की है। दूसरी तो—'प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि दृश्य है, शुक्ति-रजत की भांति', तथा 'भेद मिथ्या है, क्योंकि अनात्मा है, जो ऐसा नहीं है वह वैसा नहीं है, जैसे कि आत्मा' इत्यादि दोष-रहित अनुमान से सिद्ध प्रपञ्च के मिथ्यात्व के अनुसन्धान के रूप की है, अनात्म-गोचरा तो सुख-आदि के विषय में होती है। अयथार्थानु-भवस्मृति आत्मा और अनात्मा दोनों के विषय में होने से प्रपञ्च में सत्यत्व के अनुसन्धान के रूपवाली तथा आत्मा में कर्तृत्व आदि अनुसन्धान के रूपवाली इन दो प्रकारों की है। अयथार्थानुभव भी दो प्रकार का है—संशय और निश्चय। एक धर्मी में विरोधी अनेक कोटियों वाला ज्ञान संशय है। वह भी दो प्रकार का है—

प्रमाणगत तथा प्रमेयगत। पहले का उदाहरण है—'वेदान्त ब्रह्म में प्रमाण हैं अथवा नहीं।' प्रमेयगत-संशय भी दो प्रकार का है—आत्मगत तथा अनात्मगत। 'यह स्थाणु है या पुरुष है' यह अन्तिम का (उदाहरण है।) आत्मगत (का उदाहरण) तो—'आत्मा देह-आदि से भिन्न है अथवा नहीं? भिन्न होने पर भी परमात्मा के साथ इसका ऐक्य है या नहीं? ब्रह्म अद्वितीय है अथवा नहीं?' इत्यादि अनेक प्रकार का है। यही संशय 'असम्भावना' कहा जाता है। 'निश्चय' भी 'विपर्यय' और 'तर्क' के भेद से दो प्रकार का है। इनमें विपर्यय जो अध्यास का दूसरा नाम है, आगे कहा जायेगा। व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। इनमें वेदान्त के प्रमाणगत संशय उसके (वेदान्त के) श्रवण से, वेदान्त के प्रमेयगत संशय उसके मनन से और असंभावना निदि-ध्यासन से निरस्त होते हैं। इनमें से गुरु के समीप रहकर विधिवत् शब्दशक्ति के विषय में निरूपण करना श्रवण है। युक्ति से श्रवण की गयी वस्तु के तत्त्व का निरूपण करना मनन है। विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार करते हुये ब्रह्माकारवृत्ति को स्थिर करना निदि-ध्यासन है। इनमें 'श्रवण' अङ्गी-विधि है, मनन और निदिध्यासन तो अङ्ग विधियाँ हैं। यही श्रवण-विधि नियमविधि है, ऐसा कुछ का (मन्तव्य है।), परिसंख्या-विधि है, ऐसा दूसरे लोग मानते हैं। अन्य लोगों के अनुसार 'विधित्व' ही नहीं है। इस प्रकार ईश्वरज्ञान, स्मृतिज्ञान, सुखादि-ज्ञान सब अप्रमा होते भी यथार्थ हैं। संशय, विपर्यय और तर्क तो अप्रमा होते हुये भी अयथार्थ हैं, यह सिद्ध हुआ।

प्रमा तु बोधेन प्रकाशिता वृत्तिः, वृत्तिप्रतिबिम्बितज्ञानं वा। सा तु प्रमा प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दार्थापत्त्यभावभेदेन षोढा। तत्र प्रत्यक्षप्रमा ज्ञानगता ज्ञेयगता चेति द्विधा। तत्राद्या इन्द्रियसन्निक-र्षानन्तरं वृत्तेर्विषयदेशगमनेन अन्तःकरणतद्वृत्तितद्विषयाणां चैत-न्यावच्छेदकानां एकदेशस्थैककालीनत्वे तदवच्छिन्नचैतन्यमप्येकमिति अन्तःकरणतद्वृत्तितद्विषयावच्छिन्नचेतनानामेकलोलीभावो ज्ञानगतं प्रत्यक्षम्। अत्र विषयस्य योग्यतापेक्षणान्न धर्मादिप्रत्यक्षतापत्तिः। चेतने वस्तुमात्रस्याध्यासादुक्तरीत्यैकलोलीभावापन्नचेतने अध्यस्तस्य विषयस्य अधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यसत्ताकत्वादस्याभेद इति तादृशाभिन्नता विषयगतप्रत्यक्षत्वम्। पुनरपि सविकल्पकनिर्विकल्पक-

भेदेन प्रत्यक्षं द्विविधम्। तत्र विशेष्यताप्रकारतासंसर्गताशालिज्ञानं सविकल्पकं, यथा नीलो घट इत्यादि। तदेव वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानमित्युच्यते। विशेष्यतादिरहितं ज्ञानं निर्विकल्पकं, यथा सोऽयं मैत्र इति ज्ञानम्। यद्यप्यत्र मैत्रे विशेष्ये विशेष्यता तत्ता विशेषणे प्रकारता इदन्ता विशेषणविशेष्यसंसर्गे संसर्गता प्रतीयते, तथापि तदेतत्कालविशिष्टमैत्रस्य संसर्गासम्भवात् मैत्रस्वरूपमेव वाक्यं ज्ञापयतीति नास्ति सविकल्पकता। वेदेऽपि तत्त्वमस्यादिमहावाक्ये तत्पदवाच्यमायाविशिष्टं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं च यदीश्वरचैतन्यं, तस्य त्वम्पदवाच्यं अन्तःकरणविशिष्टं अविद्याविशिष्टं वा अल्पज्ञत्वादिविशिष्टं च यज्जीवचैतन्यं तेन सह समानविभक्तिकत्वात्पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः संसर्गः प्रतीयते यद्यपि, तथापि विशिष्टयोस्तादृशसंसर्गासंभवाद्विशेषणांशपरित्यागेन चेतनरूपविशेष्यांशस्यैव ग्रहणमिति निर्विकल्पकता तादृशवाक्यार्थज्ञाने। अनेनैतदुक्तं भवति—एकं प्रत्यक्षज्ञानमिन्द्रियजन्यं अपरं शब्दजन्यं, अन्यच्च यथार्थाप्रमारूपं सुखादिविषयकं साक्षिज्ञानं, देहोऽहंकर्त्तेत्यादिरूपं चायथार्थाप्रमारूपं साक्षिज्ञानमिति प्रत्यक्षस्य भेदा इति। अत एव इदं रजतमित्यादिभ्रमस्थले यथा इदमंशावच्छिन्नचैतन्येनैकलोलीभावापन्नप्रमातृचेतननिष्ठाऽविद्या पूर्वदृष्टरजतसंस्कारसध्रीचीना अदृष्टवशात्स्वसात्त्विकांशपरिणामभूतेन रजतज्ञानाकारेण स्वतामसांशपरिणामभूतेन रजताकारेण च भवति, तथा स्वप्नेऽपि प्रमातृचेतनगताविद्या पूर्वानुभूतसंस्कारसध्रीचीना अदृष्टानुरोधेन स्वप्नविषयविषयकज्ञानाकारेण स्वसात्त्विकांशपरिणामभूतेन, स्वप्नविषयाकारेण स्वतामसांशपरिणामभूतेन च भवतीति स्वप्नस्यापि प्रातिभासिकत्वं, यतः सुखादिसाक्षात्कारवद् ईश्वरप्रत्यक्षवद्वा स्वाप्नप्रत्यक्षे नेन्द्रियाद्यपेक्षा इति। अनेन स्वप्ने रूपादिप्रत्यक्षायेन्द्रियोत्पत्तिकथनं परास्तम्। एवं च शुक्तिरजतस्वप्नादिविषयास्तज्ज्ञानं चानिर्वचनीयं समसमयमुत्पन्नं सदसद्विलक्षणं, यतोऽनिर्वचनीयख्यातिर्वेदान्तिनां प्रसिद्धा भ्रमस्थले। अनिर्वचनीयस्य ख्यातिः भानं व्यवहारश्चानिर्वचनीयख्यातिरिति व्युत्पत्तेः। प्रत्यक्षे चातिदूरसामीप्येन्द्रियघातमनोऽनवस्थानसूक्ष्मताव्यवधानाभिभवसमानाभिहारा दोषाः प्रतिबन्धकाः।

प्रमा तो बोध से प्रकाशित वृत्ति अथवा वृत्ति में प्रतिबिम्बित ज्ञान है। वह प्रमा प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द, अर्थापत्ति और अभाव के भेद से छह प्रकार की है। इनमें प्रत्यक्ष प्रमा ज्ञान-

गत और ज्ञेयगत दो प्रकार की है। इनमें प्रथम-इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बाद वृत्ति के विषय के स्थान पर जाने से अन्तःकरण, उसकी वृत्ति और उसके विषयों की, जो कि चैतन्य के अवच्छेदक हैं, एक स्थान पर स्थिति और एक कालिकता होने से उनसे अवच्छिन्न चैतन्य भी एक ही है। इसी प्रकार का अन्तःकरण, उसकी वृत्ति, और उसके विषयों से अवच्छिन्न चेतन का एक साथ मिल जुल जाना ज्ञानगत प्रत्यक्ष है। यहाँ विषय को योग्यता की अपेक्षा होने से धर्म-आदि के प्रत्यक्ष होने का भाव नहीं आ पाता। चेतन पर वस्तुमात्र का अध्यास होने से कही गयी रीति से 'एकलोलीभाव'—एक में मिलजुल गयी अवस्था—को प्राप्त चेतन में अध्यस्त विषय के अधिष्ठान सत्ता से अतिरिक्त सत्ताशून्य सत्ता वाला होने से इसका अभेद होगा, इस प्रकार उस तरह की अभिन्नता रूपी विषय के बारे में होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। फिर भी सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। इनमें से विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता के स्वभाव-वाला ज्ञान सविकल्पक है, जैसे कि 'नीला घट' इत्यादि। वही वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान—विशिष्टता का आकलन करने वाला ज्ञान—कहा जाता है। विशेष्यता-आदि से रहित ज्ञान निर्विकल्प है, जैसे 'यह वही मैत्र है' इस प्रकार का ज्ञान। यद्यपि यहाँ विशेष्य मैत्र में विशेष्यता 'तत्ता'—वही होना—, विशेषण में प्रकारता 'इदन्ता'—यह होना—तथा विशेषण और विशेष्य के संसर्ग में संसर्गता, प्रतीत होती है, तथापि तत्कालविशिष्ट मैत्र के संसर्ग के अभाव के कारण मैत्र के स्वरूप को ही वाक्य ज्ञापित करता है, अतः सविकल्पता नहीं है। वेद में भी 'तत्त्वमसि' आदि से विशिष्ट जो ईश्वर-चैतन्य है, उसका त्वं पद से वाच्य अन्तःकरण से विशिष्ट अथवा अविद्या से विशिष्ट तथा अल्पज्ञत्व आदि से विशिष्ट जो जीव-चैतन्य है, उसके साथ एक जैसी विभक्ति का योग होने से दोनों पदों में सामानाधिकरण्य—एक ही जैसा आधार होने का भाव—, पद और अर्थ में विशेषण-विशेष्य भाव संसर्ग यद्यपि प्रतीत होता है, तथापि दो विशिष्टों में उस प्रकार का संसर्ग संभव न होने से विशेषण-अंश का परित्याग करके चेतनरूप विशेष्य-अंश का ही ग्रहण होता है, इस प्रकार उस तरह के वाक्य के अर्थ के ज्ञान में निर्विकल्पकता ही होती है। इससे यह व्यक्त होता है कि—एक प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है, दूसरा शब्द से

उत्पन्न होता है। इससे भिन्न यथार्थप्रमारूपी सुख-आदि के विषय में होने वाला साक्षि-ज्ञान, और देह का अहङ्कार करने वाले (= अथवा मैं देह हूँ, कर्त्ता हूँ इत्यादि) के रूप में अयथार्थ-अप्रमा रूपी साक्षि-ज्ञान ये प्रत्यक्ष के भेद हैं। इसीलिये 'इदं रजतम्'—यह चांदी है—इत्यादि भ्रम के स्थानों पर जैसे इदम्-अंश से अवच्छिन्न चैतन्य के द्वारा एकलोलीभाव को प्राप्त प्रमाता-चेतन में स्थित पहले देखे गये रजत के संस्कार की सहचरी अविद्या अदृष्टवशात् अपने सात्त्विक-अंश के परिणामभूत रजतज्ञान के आकार तथा अपने तामस-अंश के परिणामभूत रजत-आकार के साथ हो जाती है, उसी प्रकार स्वप्न में भी प्रमातृचेतन-गत अविद्या पूर्व अनुभूत संस्कार के साथ-साथ, अदृष्ट के कारण, अपने सात्त्विक-अंश के परिणामभूत स्वप्न के विषयों से सम्बद्ध ज्ञान के आकार के साथ और स्वप्न में आये विषयों के आकार के साथ, जो अपने तामस-अंश के परिणाम-स्वरूप होते हैं, हो जाती है, इस प्रकार स्वप्न की भी प्रातिभासिकता सिद्ध होती है, क्योंकि सुख आदि के साक्षात्कार की भांति अथवा ईश्वर के प्रत्यक्ष की भांति स्वाप्न-प्रत्यक्ष में इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नहीं होती है। इसमे स्वप्न में रूप-आदि के प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियों की उत्पत्ति का कथन निरस्त हो जाता है। और इसी प्रकार शुक्ति-का के रजत और स्वप्न आदि के विषय और उनका ज्ञान अनिर्वच-नीय, एक ही समय में उत्पन्न, सत् तथा असत् रूप लक्षणों से रहित होते हैं, क्योंकि भ्रम के स्थल में वेदान्तियों की अनिर्वचनीय-ख्याति प्रसिद्ध हैं। अनिर्वचनीय की ख्याति अर्थात् भान और व्यवहार अनिर्वचनीय ख्याति है, यही इसकी व्युत्पत्ति है। प्रत्यक्ष में अतिदूरी, अतिसामीप्य, इन्द्रियविघात, मन की व्यग्रता, विषय की सूक्ष्मता, व्यवधान, अभिभव और समानाभिहार दोष प्रतिबन्धक होते हैं।

अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञान-जन्या। व्याप्तिश्च साधनतावच्छेदकावच्छिन्नसाधनाश्रयाश्रितसाध्यता-वच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा। तथा हि-साधनं धूमः, तद्धर्मः साधनता, साधनतावच्छेदकेन धूमत्वेनावच्छिन्नं यत्साधनं तादृशसाधनस्य आश्रयः पक्षः, तादृशपक्षे आश्रितं यत्साध्यं तादृश-साध्यस्य धर्मः साध्यता, साध्यतावच्छेदकेन वह्नित्वेनावच्छिन्नं यत्साध्यं तस्य सामानाधिकरण्यं एकाश्रयाश्रयित्वं व्याप्तिरित्यर्थः। अत्र साधनतावच्छेदकपदेन यावत्साधनग्रहणान्महानसीयचत्वरी-

यादिविशिष्टधूमे न लक्षणासंगतिः। एवं साध्येऽपि योज्यम्। अनेन व्याप्तिज्ञानानुमानज्ञानप्रतिबन्धकीभूता हेत्वाभासा अपि वेदितव्याः। तथा हि—अनेकान्तविरुद्धासिद्धसत्प्रतिपक्षकालात्ययापदिष्टाः पञ्च हेत्वाभासाः। तत्रानेकान्तः साधारणासाधारणभेदेन द्विविधः। साध्यवदन्यवृत्तिः साधारणः। सपक्षावृत्तिरसाधारणः। साध्यव्या-पकीभूताभावप्रतियोगी विरुद्धः। अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः। स्वरूपा-सिद्धो व्याप्यत्वासिद्ध आश्रयासिद्धश्चेति त्रिविधः। पक्षे हेतुस्वरूपा-भावः स्वरूपासिद्धः। साध्यापसिद्धिर्व्याप्यत्वासिद्धः। पक्षतावच्छेदका-भावः आश्रयासिद्धः। साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रकरणसमः सत्प्रतिपक्षापरपर्यायः। पक्षे साध्याभावो बाधः। स एव कालात्यया-पदिष्टः। अत्र व्याप्यत्वासिद्धहेतोः सोपाधिकसंज्ञा भवति। उपाधिश्च साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः। यथा 'प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत्' इत्यत्र स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वम्। तथाहि स्वं शुक्तिरजतं तद्बाधकत्वेनाभिमतमियं शुक्तिः नेदं रजतमिति वा ज्ञानं तेनाबाध्यो दोषः काचकामलादिः तादृशदोषप्रयुक्तभानत्वं साध्ये शुक्तिरजतेऽस्ति। दृश्यत्वे हेतौ तु नास्ति। घटादौ पूर्वोक्तदोष-प्रयुक्तभानत्वाभावात्। एवं पक्षविशेषणस्य साध्यस्याप्रसिद्धावप्रसिद्ध-विशेषणत्वादयोऽपि दोषा वेद्याः। अनुमितौ च व्याप्तिस्मरणमवान्तर-व्यापारः। अनुमानं च द्विविधं स्वार्थं परार्थं चेति। स्वार्थं स्वानुमिति-हेतुः, परार्थं तु न्यायसाध्यं, न्यायश्चावयवसमुदायः। अवयवाश्च प्रपञ्चो मिथ्येत्याद्याकारसाध्यनिर्देशरूपः प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादित्यादि-हेतुः शुक्तिरजतवदिति दृष्टान्तः। प्रतिज्ञादयस्त्रय एवावयवाः, न पञ्च, गौरवात्।

अनुमिति का करण अनुमान है। अनुमिति, व्याप्तिज्ञान के रूप की होने के कारण, व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न होती है। व्याप्ति साधनता-रूपी अवच्छेदक से अवच्छिन्न साधनरूपी आश्रय पर आश्रित साध्यता-रूपी अवच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य के सामानाधिकरण्य के रूप वाली है। जैसे कि—साधन है धूम, उसका धर्म हुआ साधनता, साधनता के अवच्छेदक धूमत्व से अवच्छिन्न जो साधन उस प्रकार के साधन का आश्रय होता है पक्ष, उस प्रकार के पक्ष पर आश्रित जो साध्य उस प्रकार के साध्य का धर्म हुआ साध्यता, साध्यता के अवच्छेदक वह्नित्व से अवच्छिन्न जो साधन उसका सामानाधिकरण्य अर्थात् एक आश्रय पर आश्रित होना व्याप्ति है, यह अर्थ है। यहाँ 'साधन-

तावच्छेदक' पद से जितने भी साधन हैं (उनका) ग्रहण हो जाने से रसोईघर, चत्वर आदि से विशिष्ट धूम में लक्षण की असंगति नहीं होती है। इसी प्रकार साध्य में भी जोड़ना चाहिये। इस व्याप्ति-ज्ञान से होने वाले अनुमान-ज्ञान के बाधकस्वरूप हेत्वाभासों को भी जान लेना चाहिये। यथा-अनेकान्त, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रति-पक्ष और कालात्ययापदिष्ट पाँच हेत्वाभास हैं। इनमें अनेकान्त साधारण तथा असाधारणभेद से दो प्रकार का है। साध्य की भांति अन्य में भी रहने वाला 'साधारण' है। 'सपक्ष' में न रहने वाला 'असाधारण' है। साध्य के व्यापक बने अभाव का प्रतियोगी 'विरुद्ध' है। पक्ष में निश्चित रूप से न रहने वाला 'असिद्ध' है। (यह) स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध और आश्रयासिद्ध इन तीन प्रकारों का है। पक्ष में हेतु के स्वरूप का अभाव स्वरूपासिद्ध है, साध्य की अपसिद्धि व्याप्यत्वासिद्ध है, पक्षतावच्छेदक का अभाव आश्रयासिद्ध है। साध्य के विपरीत सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु 'प्रकरणसम' है (इसका) दूसरा नाम 'सत्प्रतिपक्ष' है। पक्ष में साध्य का न होना 'बाध' है, वही 'कालात्ययापदिष्ट' है। यहाँ व्याप्यत्व की सिद्धि न होने के कारण 'सोपाधिसंज्ञा' होती है। उपाधि है साध्य में व्यापकता रहते हुये भी साधन में व्यापक न होना। जैसे—'प्रपञ्च मिथ्या है, दृश्य होने के कारण, शुक्तिरजत की भाँति' इसमें अपने बाधक के रूप में अभिमत अबाध्यदोष से प्रयुक्त आभासित होना है। उदा-हरणार्थ—स्वं(= अपना) अर्थात् शुक्तिरजत, उसके बाधक के रूप में अभिमत 'यह शुक्ति है अथवा यह रजत नहीं है' यह ज्ञान, उससे अबाध्य दोष काच, कामला आदि, उस प्रकार के दोष से प्रयुक्त-भासत्व साध्य शुक्तिरजत में है। दृश्यत्व हेतु में तो नहीं है। घट-आदि में पूर्वोक्त दोषप्रयुक्तभानता का अभाव है। इस प्रकार पक्ष के विशेषण साध्य के अप्रसिद्ध होने पर 'अप्रसिद्धविशेषणता' आदि दोषों को भी जानना चाहिये। अनुमिति में व्याप्ति का स्मरण अवान्तर-व्यापार है। अनुमान भी दो प्रकार का होता है—स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थ अपनी अनुमिति के लिये है और परार्थ न्याय (वाक्यों) से साध्य है, न्याय है—अवयवों का समूह। अवयव हैं—'प्रपञ्च मिथ्या है' इत्यादि रूपों में साध्य की निर्देशरूपिणी प्रतिज्ञा। 'दृश्यत्वात्' इत्यादि हेतु है। 'शुक्तिरजतवत्' यह दृष्टान्त है। प्रतिज्ञा-आदि तीन ही 'अवयव' हैं, न कि पाँच, क्योंकि उससे (प्रयोग में अनपेक्षित) आधिक्य होता है।

उपमितिकरणमुपमानम्। उपमितिश्च सादृश्यज्ञानं, यथा गोसदृशो गवय इति ज्ञानम्। अत्र गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं, गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम्।

उपमिति का करण उपमान है, और उपमिति है सादृश्य का ज्ञान। जैसे कि—'गो के सदृश गवय है' यह ज्ञान। यहाँ गवय में स्थित गोसादृश्य का ज्ञान करण है और गोनिष्ठ गवय की समानता ज्ञान का फल है।

शाब्दीप्रमाकरणं शब्दप्रमाणम्, यच्च मानान्तराबाधिततात्पर्य-विषयीभूतसंसर्गबोधकं वाक्यम्। वाक्यार्थज्ञाने च आकांक्षा योग्यता आसत्तिस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि। तत्र पदार्थानां परस्पर-जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा, योग्यता च तात्पर्यविषयीभूत-संसर्गाबाधः, संसर्गश्च क्वचिद्भेदः, यथा नीलो घट इत्यादिसमान-विभक्तिस्थले, क्वचिच्च विषयतानिरूपितविषयिता यथा घटं जिज्ञा-सतीत्यादौ सन्नर्थेच्छायां ज्ञाधात्वर्थज्ञानस्य विषयतानिरूपितविषयिता-सम्बन्धः। कुत्रचित् घटमानयेत्यादौ घटादेराधारतानिरूपितकर्मत्व-निष्ठाधेयता संसर्गः। कुहचित् घटो नेत्यादौ नञर्थाभावे घटनिष्ठप्रति-योगितानुयोगिता संसर्गः। शाब्दबोधश्च घटमानयति देवदत्त इत्यादौ देवदत्तकर्तृकघटकर्मकानयनानुकूलो व्यापार इत्यादिरूपः। न घटकर्मकानयनानुकूलव्यापारवान् देवदत्त इत्येवं तार्किकाद्यभि-मतः। अव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिरासत्तिः। पदार्थश्च (ज्ञायमान-) शक्तिविषयः शक्यः, लक्षणाविषयो लक्ष्य इति द्विधा। शक्तिश्च पदपदार्थयोः सम्बन्धरूपा जात्याश्रया। सा च कार्यानुमेया। कार्यं च तत्तत्पदजन्यपदार्थज्ञानम्। जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वा-द्व्यक्तिभानम्। समानसंवित्संवित्संवेद्यता च धर्मधर्मितादात्म्यादिना। अथवा यथा न्यायमते नीलो घट इत्यादौ नीलघटयोः संसर्गे स्वरूप-सती शक्तिः। नीलादिपदार्थे च ज्ञाता शक्तिस्तथा जातिविषया शक्ति-र्ज्ञायमाना। व्यक्तिविषया तु स्वरूपसती। किं वा जातिः शक्या व्यक्तिश्च लक्ष्या। स्वज्ञाप्यसम्बन्धो [1]लक्षणा, सा च केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति द्विधा। तत्र शक्यपरम्परासम्बन्धो लक्षितल-क्षणा, यथा द्विरेफो रौतीत्यादौ द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तिः, तस्य च सम्बन्धो भ्रमरपदे तस्य च तत्सम्बन्धिनि षट्पदे। केवललक्षणा

---

१ स्वपदेनात्र लक्षकशब्दो ग्राह्यः। अनेन शक्यार्थसम्बन्धो लक्षणेति परास्ता, तथात्वे वाक्ये लक्षणासम्भवात्।

तु जहती अजहती जहत्यजहती (भागत्यागरूपा) भेदैस्त्रिधा। तत्र शक्यमनन्तर्भाव्यार्थान्तरप्रतीतौ जहती, यथा विषं भुंक्ष्वेत्यत्र विषभोजनकृतिरूपशक्यार्थमनन्तर्भाव्य शत्रुगृहभोजननिवृत्तौ लक्षणा। शक्यार्थमन्तर्भाव्यार्थान्तरप्रतीतावजहती, यथा शुक्लो घट इत्यादौ शुक्लत्ववान् घट इति शाब्दबोधे तद्गुणमन्तर्भाव्य तद्वति द्रव्ये लक्षणा। 'रक्तो धावति, मञ्चाः क्रोशन्ति' इति वा उदाहरणान्तरम्। शक्यैकदेशपरित्यागेनापरांशे वर्तमाना जहत्यजहती, यथा 'तत्त्वमसि, सोऽयं देवदत्त' इत्यादि। अत्र पूर्वोक्तरीत्या विशेषणांशपरित्यागेन विशेष्यांशमात्रग्रहणम्। तदनेनाखण्डार्थतापि सिद्धा। अखण्डार्थत्वं च वाक्यानां संसर्गानवगाहियथार्थधीहेतुता। अखण्डत्वं च त्रिकालाबाध्यत्वम्। नास्ति च संसर्गश्चेतने, असङ्गश्रुतेः।

शाब्दीप्रमा का करण शब्दप्रमाण है और वह है (ऐसा) वाक्य (जो) दूसरे प्रमाणों से बाधित न होने वाले तात्पर्य के विषयीभूत संसर्ग का बोधक हो। वाक्यार्थ के ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान ये चार कारण हैं। इनमें पदार्थों का परस्पर जिज्ञासा का विषय बनने की योग्यता आकांक्षा है, तात्पर्य के विषय बने संसर्ग का बाध न होना योग्यता है, संसर्ग कहीं पर अभेद (का वाचक होता) है, जैसे—'नीला घट' इत्यादि समान विभक्ति वाले स्थलों पर, कहीं विषयता के द्वारा निरूपित विषयित्व का, जैसे कि 'घट की जिज्ञासा करता है' इत्यादि में 'सन्' प्रत्यय के अर्थ 'इच्छा' में 'ज्ञा' धातु के अर्थ 'ज्ञान' का विषयता से निरूपित विषयिता का सम्बन्ध। कहीं 'घट लाओ' इत्यादि में घट-आदि की आधारता से निरूपित कर्मत्वनिष्ठ आधेयता संसर्ग होता है। कहीं पर 'घट नहीं है।' इत्यादि में 'नञ्' के अर्थ 'अभाव' में घटनिष्ठ प्रतियोगिता की अनुयोगिता संसर्ग है। शाब्दबोध भी 'घड़े को लाता है देवदत्त' इत्यादि में देवदत्त के द्वारा किया जा रहा (अथवा देवदत्त है कर्त्ता जिसका) और घट है कर्म जिसका ऐसा आनयन के अनुकूल व्यापार इत्यादि के रूप में होता है। न कि नैयायिकों का ऐसा मत कि देवदत्त घट है कर्म जिसका उस लाने की क्रिया के अनुकूल व्यापार वाला है। विना व्यवधान के पद से होने वाली पद के अर्थ की उपस्थिति 'आसत्ति' है। 'पदार्थ' है दो प्रकार का—ज्ञायमान शक्ति का विषय 'शक्य' तथा लक्षणा का विषय 'लक्ष्य'। शक्ति है—पद और पदार्थ दोनों की सम्बन्धस्वरूपिणी और जाति पर

आश्रित रहने वाली। उसका अनुमान कार्य से होता है। कार्य है उन-उन पदों से जन्य पदार्थों का ज्ञान। जाति के व्यक्ति (पिण्ड) के सदृश ज्ञान से ज्ञेय होने के कारण व्यक्ति का भान होता है। समानसंवित् और संवित्संवेद्यता धर्म और धर्मी के तादात्म्य आदि होते हैं। या जैसे न्यायमत में 'नीला घट' इत्यादि में नील और घट दोनों के संसर्ग में अपने रूप में रहने वाली 'शक्ति' है। नील आदि पदार्थ से शक्ति ज्ञात होती है, उसी प्रकार जाति के विषय वाली शक्ति जानी जाती है। व्यक्ति-विषया तो स्वरूपसत् होती है। अथवा जाति शक्य है (अर्थात् शक्ति से ज्ञेय है) और व्यक्ति लक्ष्य है। अपने ज्ञाप्य से सम्बन्ध लक्षणा है, वह केवल-लक्षणा और लक्षित-लक्षणा इन दो भेदों वाली है। इनमें शक्य का परम्परया सम्बन्ध लक्षित लक्षणा है—जैसे 'द्विरेफो रौति' (दो रेफ (रकार) हैं जिस पद में—भ्रमर—उससे बोधित जीव भौंरा आवाज करता है) इत्यादि में 'द्विरेफ' पद की शक्ति दो रेफों (रकारों) में है। उसका सम्बन्ध 'भ्रमर' पद में है, और उसकी उससे सम्बन्धित षट्पद में। केवल-लक्षणा जहती, अजहती, तथा जहत्यजहती (भागत्यागरूपा) भेदों से तीन प्रकार की है। इनमें शक्य का अन्तर्भाव किये विना दूसरे अर्थ की प्रतीति होने पर जहती होती है, जैसे 'विषं भुङ्क्ष्व'-'जहर खाओ'—में विषभोजन के कार्य रूप शक्य-अर्थ का अन्तर्भाव किये विना शत्रुगृह में भोजन करने से निवारण अर्थ में लक्षणा है। शक्य-अर्थ का अन्तर्भाव करके अन्य अर्थ की प्रतीति होने पर 'अजहती' होती है, जैसे—'शुक्लो घट:' 'सफेद घड़ा' आदि में 'शुक्लत्व से युक्त घड़ा' इस प्रकार का शाब्दबोध होने पर उसके गुण का अन्तर्भाव करके उससे युक्त द्रव्य में लक्षणा हुयी। अथवा 'रक्तो धावति'—लाल दौड़ रहा है—, 'मञ्चाः क्रोशन्ति'-मञ्च चिल्ला रहे हैं, ये भी अन्य उदाहरण हैं। शक्य के एक अंश का परित्याग करके दूसरे अंश में वर्तमान रहने वाली 'जहत्यजहती' है, जैसे—'तत्त्वमसि' 'सोऽयं देवदत्त' इत्यादि में। यहाँ पूर्वोक्त विधि से विशेषण-अंश का परित्याग करके विशेष्य-अंशमात्र का ग्रहण होता है। तो इससे 'अखण्डार्थता' भी सिद्ध होती है। अखण्डार्थता है—वाक्यों की संसर्ग का अवगाहन न करने वाली यथार्थ-बुद्धि की कारणता। अखण्डता है तीनों कालों में बाधित न होना। चेतन में संसर्ग नहीं है, क्योंकि श्रुति में उसे 'असङ्ग' कहा गया है।

लक्षणायां च तात्पर्यानुपपत्तिर्लिङ्गम्, नान्वयानुपपत्तिः, 'विषं

भुंक्ष्व' इत्यादावन्वयोपपत्तावपि लक्षणावश्यकत्वात्। सेयं लक्षणा पदे वाक्ये च यथासंभवं योज्या। तदेवं द्विविधपदार्थोपस्थितिरासत्तिः। तात्पर्यं च तदन्यप्रतीतिमात्रेच्छयाऽनुच्चरितत्वे सति तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं, तच्च वेदे पूर्वोत्तरमीमांसापरिशोधितन्यायसिद्धं किंवोपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये इति वाक्योक्तोपक्रमादिलिङ्गसिद्धम्। तद्यथा छान्दोग्ये 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रमः (आरंभः) 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इत्युपक्रान्तस्य सद्रूपस्य ब्रह्मण एवोपसंहारः (समाप्तिः) 'स आत्मा तत्त्वमसीति' नवकृत्वोऽभ्यासः। अत्र 'वावसत् सोम्य न निभालयसे' इति रूपादिहीनब्रह्मणः प्रमाणान्तरासिद्धरूपाऽपूर्वतोक्तिः, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति ब्रह्मज्ञानफलं सत्संपत्तिरूपमोक्षः, 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' जीवरूपेणावस्थानरूपस्तुत्यात्मकोऽर्थवादः, यथा 'सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्' इति दृष्टान्तेन कार्यमात्रस्य विकारित्वान्मिथ्यात्वमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानकथनरूपोपपत्तिश्चेत्युपक्रमादिलिङ्गबोध्यं ब्रह्म। लोके तु प्रकरणादिगम्यम्। वेदश्चापौरुषेयः, तत्र सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं तद्भिन्नत्वमपौरुषेयत्वम्। न च शास्त्रयोनित्वसूत्रे वेदस्येश्वरकारणत्वोक्तेरीश्वररूपपुरुषकर्तृत्वापत्तिरिति वाच्यम्। 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम्' इति श्रुत्या यथा निश्वासोऽप्रयत्नसाध्यस्तथा वेदोऽपि पूर्वपूर्वसृष्टिषु वर्त्तमानो भगवता स्फुटीकार्यते सृष्ट्यादौ। तथा च नेश्वरकृतिर्वेदविषया। अत एव मोक्षपर्यन्तस्थायिवर्णानां नित्यता। उत्पन्नो गकार इत्यादिप्रतीतिस्तु वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिगतेति न वर्णानित्यत्वं शक्यशङ्क्यम्।

लक्षणा में तात्पर्य की उपपत्ति का न होना लिङ्ग (=हेतु) है, न कि अन्वय की उपपत्ति का न होना, क्योंकि वैसा होने पर 'विषं भुंक्ष्व' इत्यादि में, अन्वय की अनुपपत्ति होने पर भी 'लक्षणा' आवश्यक हो जायेगी। यह लक्षणा यथासंभव पद और वाक्य में लगानी चाहिये। तो इस भांति दो प्रकार के पदार्थों की उपस्थिति 'आसत्ति' है। 'तात्पर्य' है उससे भिन्न की प्रतीतिमात्र की इच्छा से उच्चारण हुये विना उसके प्रतीति को उत्पन्न कराने की क्षमता। वेद में वह पूर्व तथा उत्तर मीमांसा से परिशुद्ध न्याय से सिद्ध होता है, अथवा 'उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति तात्पर्य के निर्णय में हेतु हैं।' इस वाक्य में उक्त उपक्रम-

आदि लिङ्ग से सिद्ध होने वाला है। उदाहरणार्थ छान्दोग्य (उपनिषद्) में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'—हे सोम्य, आदि में यह सद् ही था—यह उपक्रम है, आरम्भ है, 'ऐतदात्म्य०'—इस रूप वाला 'यह सब जो है, वह सत्य है'—यह उपक्रान्त सद् रूप वाले ब्रह्म का ही उपसंहार है, समाप्ति है, उस आत्मा के विषय में 'तत्त्वमसि' इसकी नव बार आवृत्ति 'अभ्यास' है।, यहाँ 'वाव सत्०'—हे सोम्य, निश्चित ही सत् को नहीं देखे हो' इस प्रकार रूप-आदि से रहित ब्रह्म का दूसरे प्रमाणों से सिद्ध न होना 'अपूर्वता' का कथन है। 'तस्य तावदेव०'—उसको तभी तक विलम्ब है, जब तक विमुक्त नहीं होता, उसके पश्चात् प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान का फल सत्सम्पत्तिरूपी मोक्ष है, 'अनेन जीवेन०' 'इस जीव के द्वारा स्वयं प्रवेश करके नाम और रूप को व्याकृत करता हूँ।' इस प्रकार जीव के रूप में स्थितिरूपी स्तुत्यात्मक 'अर्थवाद' है, 'सोम्येकेन०'—हे सोम्य! जैसे—एक ही मिट्टी के पिण्ड से सारा मिट्टी का बना ज्ञात हो जाता है' इस दृष्टान्त से कार्य-मात्र के विकारी होने से मिथ्यात्व सिद्ध होता है, इसी प्रकार एक के ज्ञान से सबके ज्ञान के कथन-रूपी 'उपपत्ति' होती है, इस प्रकार उपक्रम-आदि लिङ्ग से बोध्य ब्रह्म है। लोक में 'प्रकरण' आदि से ज्ञेय है। वेद अपौरुषेय हैं। इस विषय में (कहना है कि) सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न रखने वाले उच्चारण का विषय होना पौरुषेयता है और उससे भिन्न होना अपौरुषेयता है। 'शास्त्रयोनित्व' सूत्र में (ब्रह्मसूत्र १।१।२) वेदो की ईश्वर-कारणता कहने से ईश्वररूप पुरुष के कर्तृत्व की आपत्ति होती है, ऐसा नहीं कहना चाहिये। 'अस्य महतो०'—इस महान् भूत (ईश्वर) के निःश्वास हैं।' इस श्रुति से जैसे श्वास विना प्रयास के सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार से वेद भी पूर्व-पूर्व सृष्टियों में वर्तमान था, वही भगवान् के द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में व्यक्त कर दिया जाता है। इस प्रकार ईश्वर के कृतित्व के विषय वेद नहीं हैं। इसीसे मोक्ष तक रहने वाले वर्णों की नित्यता है। 'गकार उत्पन्न हुआ' इत्यादि प्रतीति तो वर्ण को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि के विषय में है, वर्णों की अनित्यता की शङ्का नहीं की जा सकती।

उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्। यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र पीनत्वमुपपाद्यं रात्रिभोजन-

मुपपादकम्। इयं चार्थापत्तिर्दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति द्विधा। श्रुतार्थापत्तिरप्यभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिरिति द्विधा। तत्रेदं रजतमिति प्रतीतेः सत्यत्वे नेदं रजतमिति निषेधो नोपपन्न इति तदुपपत्तये रजतमिथ्यात्वकल्पनं यत्र दृष्टस्थले तत्र दृष्टार्थापत्तिः। द्वारमित्युक्तेऽन्वयानुपपत्त्या तदुपपत्तये पिधेहीत्यादिपदान्तरकल्पनं यत्र वाक्ये तत्राभिधानानुपपत्तिः। स्वर्गकामो यजेत इत्यादौ यागादेः क्षणिकत्वेन कालान्तरभावि स्वर्गफलं प्रति न करणतेति तद्धेतोरदृष्टस्य कल्पनं यत्र तत्राभिहितानुपपत्तिः।

उपपाद्य ज्ञान के द्वारा उपपादक की कल्पना करना अर्थापत्ति है। जिसके विना जो उपपन्न नहीं होता वही वहाँ उपपाद्य है। जिसके अभाव में जिसकी उपपत्ति नहीं होती है वह वहाँ उपपादक है। जैसे—'पीनो०'—मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता—इसमें 'मोटापन'-पीनत्व-उपपाद्य है, रात्रिभोजन उपपादक है। यह अर्थापत्ति दो प्रकार की है—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। श्रुतार्थापत्ति भी अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति इन दो प्रकारों की है। इनमें 'इदं रजतम्' इस प्रतीति के सत्य होने पर 'नेदं रजतम्' यह निषेध उपपन्न नहीं है, अतः उसकी उपपत्ति के लिये रजत के मिथ्यात्व की कल्पना जिस दृष्टान्त के स्थान पर होती है, वहाँ 'दृष्टार्थापत्ति' है। 'द्वारम्' इतना कहते पर अन्वय की अनुपपत्ति के कारण उसकी उपपत्ति के लिये 'पिधेहि' इत्यादि अन्य पदों की कल्पना जहाँ वाक्य में होती है, वहाँ 'अभिधानानुपपत्ति' है। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि में याग-आदि के क्षणिक होने से दूसरे समय में होने वाले स्वर्ग रूपी फल के प्रति करणता नहीं होगी, इसलिये उसके-लिये अदृष्ट की कल्पना जहाँ होगी वहाँ अभिहितानुपपत्ति होगी।

अभावप्रमाकरणमनुपलब्धिः। अभावश्च नञर्थप्रतीतिविषयः, सम्बन्धसादृश्यभिन्नत्वे सति प्रतियोगिसापेक्षो वा। ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिः। इयं चानुपलब्धिर्योग्याभ्युपगम्या, अन्यथाऽनुमानगम्यधर्माद्यभावस्याप्यनुपलब्धिविषयता स्यात्। योग्यता च तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वं, तद्यथा—यद्यत्र घटः स्यादिति तर्कितो यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वेन प्रसञ्जितः तर्हि उपलभ्येतेति आपादितः प्रतियोगी यस्याभावस्य घटात्यन्ताभावस्य तत्त्वं योग्यत्वमित्यर्थः। धर्माद्यभावस्य च यद्यत्र धर्मः स्यात्तर्हि उपलभ्येतेति तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जित प्रतियोगिकत्वं

नास्तीति तत्रानुमानं प्रमाणम्। अभावश्चात्यन्ताभाव एक एव, न प्रागभावप्रध्वंसाभावान्योन्याभावानामपि ग्रहणम्। किं वा अनादिसान्तः प्रागभावः सादिरनन्तश्च प्रध्वंसाभावः, त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिकः अत्यन्ताभावः, तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावः अन्योन्याभाव इति चत्वारोऽभावा भवन्तु व्यावहारिकाः। तत्रापि पारमार्थिकोऽभाव अत्यन्ताभावोऽधिकरणरूप एक एव। अत एव प्रपञ्चात्यन्ताभावो ब्रह्मैव नान्यः। अनेन प्रध्वंसाभावात्यन्ताभावान्योन्याभावा नित्या इति परास्तम्, ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्य मिथ्यात्वसिद्धेः। अत एवान्योन्याभावः केवलव्यतिरेक्यनुमानासिद्ध इति च कथा परास्ता। एवं षट्सु प्रमाणेषु यत्प्रमात्वं प्रामाण्यापरपर्यायं तद्दोषाभावसहकृतज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं, तादृशप्रयोज्यत्वमेव प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्। न च गुणापेक्षत्वेनास्य परतस्त्वं सकलप्रमाणानुगतगुणासिद्धेः दोषाभावस्य चाभावत्वेन परतः प्रामाण्यवादिनां तार्किकाणां गुणत्वानुपपत्तेश्च। प्रामाण्यसंशये च दोषः कारणमिति न स्वतःप्रामाण्यलक्षणविरोधः। तदेवं व्यावहारिकप्रमाणषट्कं निरूपितं, तथा वृत्तिरूपा प्रमापि विचारिता। तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थजं ज्ञानं पारमार्थिकतत्त्वावेदकप्रमेत्युच्यते। तदेतत्प्रमाणनिरूपणं नासङ्गतम्। संन्यासी परमहंस इति बोधकश्रुतेर्व्यावहारिकतास्थापनोपयोगित्वात्।

अभावप्रमा का कारण अनुपलब्धि है। अभाव नञ् के अर्थ की प्रतीति का विषय है, अथवा सम्बन्धसादृश्य की भिन्नता होने पर प्रतियोगिसापेक्षता है। ज्ञान के कारण से न होने वाला अभाव के अनुभव का असाधारण कारण अनुपलब्धि है। यह अनुपलब्धि योग्य अभ्युपगम्य है, नहीं तो अनुमान के द्वारा ज्ञेय धर्म आदि के अभाव की भी अनुपलब्धि-विषयता होने लगेगी। योग्यता है तर्कित प्रतियोगी के सत्त्व से प्रसज्जित प्रतियोगिता। जैसे कि—'यदि यहाँ घड़ा होता' इस प्रकार से तर्क किया गया जो प्रतियोगी उसके सत्त्व से प्रसज्जित 'तो उपलब्ध होता' इस प्रकार से आपादित प्रतियोगी जिस अभाव का घट के अत्यन्ताभाव का तत्त्व अर्थात् योग्यत्व है, यह अर्थ हुआ। धर्मादि के अभाव का भी 'यदि यहाँ धर्म होता, तो उपलब्ध होता' इस प्रकार की तर्कित प्रतियोगिता के सत्त्व से प्रसज्जित प्रतियोगिता नहीं है, इसमें अनुमान प्रमाण है। अभाव एकमात्र अत्यन्ताभाव ही है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव का ग्रहण नहीं होगा। अथवा अनादि किन्तु सान्त प्रागभाव, सादि किन्तु अनन्त प्रध्वंसाभाव, त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी अत्यन्ता-

भाव, तादात्म्य की प्रतियोगिता वाला अभाव अन्योन्याभाव ये चारो व्यावहारिक अभाव हों तो हों, तथापि पारमार्थिक अभाव अत्यन्ताभाव जो आधारस्वरूप है, एक ही है। इसीलिये प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। इससे प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव नित्य हैं यह मत निरस्त हुआ, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न सबकी मिथ्यता सिद्ध है। इससे अन्योन्याभाव केवल व्यतिरेकी अनुमान से असिद्ध है यह कहना भी निरस्त हो गया। इस प्रकार छहो प्रमाणों में जो प्रमात्व है, जिसका दूसरा नाम प्रामाण्य है, वह दोषाभाव से सहकृत ज्ञानसामान्य की सामग्री से प्रयोज्य है, उस प्रकार की प्रयोज्यता हीं प्रामाण्य का स्वतस्त्व-अपने आप होना है। गुण की अपेक्षा वाला होने से इसका परतस्त्व सभी प्रमाणों में अनुगत गुणों की असिद्धि से, तथा दोषाभाव के अभाव के कारण परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकों के गुणत्व की अनुपपत्ति से भी नहीं होगा। प्रामाण्य में संशय होने पर दोष कारण होगा, इस प्रकार स्वतःप्रामाण्य के लक्षण का विरोध नहीं होता है। तो इस प्रकार व्यवहार में आने वाले छह प्रमाणों का निरूपण हुआ और उस प्रकार की वृत्तिरूपी प्रमा का भी विचार हुआ। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पारमार्थिकतत्त्व की आवेदक प्रमा कही जाती है। यह प्रमाणनिरूपण अयुक्त नहीं है क्योंकि 'संन्यासी परमहंस है' इस श्रुति की व्यावहारिकता की स्थापना में उपयोगिता है।

ॐ सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म।

शां. अ.—**वाच्यं लक्ष्यं चेति पदार्थो द्विविध इत्युपावर्णि। तत्र यथा तत्त्वमस्यादिमहावाक्यलक्ष्यं शुद्धं ब्रह्म तथा ओंकारसच्छब्दयोरपि लक्ष्यं तदेवेति प्रदर्शयितुं तयोर्वाच्यमाह–ओमिति। ओं ओंकारवाच्यं सच्छब्दवाच्यं यत् तदविद्या-शबलमविद्याविशिष्टं ब्रह्म ब्रह्मचेतनम्। अत्रेदमपि बोध्यं–या ब्रह्मणो विशेषणीभूताऽविद्या सा कुत्रचिद्विशेषणं कुत्रचित्तूपाधिः। यथा नीलो घट इत्यत्र नीलो विशेषणं, कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्त्तकत्वात्। अस्ति हि घटे कार्ये, नीलस्यान्वयिता शुक्लादिव्यावर्त्तकता च। कार्यानन्वयी व्यावर्त्तक उपाधिः, यथा घटावच्छिन्नं नभ इत्यत्र घट उपाधिः। यत्र तु स्वरूपभूतत्वे सति व्यावर्त्तकत्वं तत्रोपलक्षकत्वं, यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'इत्यत्र ब्रह्मस्वरूपभूतानां सत्यादीनां असदादिव्यावर्त्तकत्वेन**

स्वरूपबोधकतेति सत्यादेरुपलक्षकत्वमिति च न विस्मर्त्तव्यम्। अनेन गुणात्यन्ताभावनिर्गुणत्वस्य प्रपञ्चात्यन्ताभावरूपनिष्प्रपञ्चत्वादेश्चाधिकरणरूपब्रह्मस्वरूपत्वात् सगुणत्वसप्रपञ्चत्वादेर्व्यावृत्तिद्वारोपलक्षकत्वमित्यपि व्याख्यातम्। एवं च अकारोकारमकाररूपपदत्रययुक्तेनोंकारवाक्येन प्रत्येकपदवाच्यवक्ष्यमाणविशिष्टचेतनानामभेदः, सच्छब्देन ज्ञानानन्दयोरुपलक्षणत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'इति ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं, अविद्याशबलपदेनाविद्याधिष्ठानं ब्रह्मेति ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणं चोपदिष्टमिति च बोध्यम्। अनेन शुद्धचेतनाश्रया चेतनविषया अविद्या इत्यपि सूचितम्।

पदार्थ वाच्य और लक्ष्य इन दो प्रकारों का होता है, यह वर्णन किया जा चुका है। वहाँ जैसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का लक्ष्य शुद्ध ब्रह्म है, उसी प्रकार ओङ्कार तथा 'सत्' शब्दों का लक्ष्य नहीं है यह प्रदर्शित करने के लिये उन दोनों के वाच्य को 'ओ३म्' इस शब्द से कहते हैं। ओ३म् अर्थात् ओङ्कार से वाच्य, 'सत्'-शब्द से वाच्य जो है वह **'अविद्याशबल'** अर्थात् अविद्या से विशिष्ट **'ब्रह्म'** ब्रह्मचेतन है। यहाँ यह भी समझना चाहिये—जो ब्रह्म की विशेष बनी अविद्या है वह कहीं तो विशेषण है और कहीं उपाधि। जैसे 'नीला घट' इसमें 'नीला' विशेषण है, क्योंकि यह कार्य (=घट) में अन्वित होते हुये उसका अन्यो से भेद बतलाता है। घटरूपी कार्य में 'नील' का अन्वय भी है और शुक्ल आदि वर्णों से भेद-बोधकता भी। कार्य में अन्वित न होने वाला व्यावर्त्तक उपाधि है—जैसे 'घट से अवच्छिन्न आकाश', यहाँ घट उपाधि है। जहाँ स्वरूप होते हुये व्यावर्त्तकता होती हैं, वहाँ उपलक्षकता होती है, जैसे—'सत्य, ज्ञान और अनन्त है ब्रह्म।' इसमें ब्रह्म के स्वरूपभूत सत्य-आदि की असत्–आदि का व्यवर्त्तक होने के साथ स्वरूप की बोधकता है, अतः सत्य आदि की उपलक्षकता है, यह नहीं भूलना चाहिये। इससे गुण के अत्यन्ताभाव निर्गुणता के प्रपञ्च के अत्यन्ताभावरूप निष्प्रपञ्चत्व आदि तथा अधिकरणस्वरूप ब्रह्म के स्वरूप के होने से सगुणत्व, सप्रपञ्चत्व आदि की व्यावृत्ति के द्वारा उपलक्षकता है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार अकार, उकार, मकार के रूप वाले तीनों पदों से युक्त ओङ्कारवाक्य के साथ प्रत्येकपद के वाच्य से कहे जाने वाले विशिष्ट-चेतनो का अभेद है, क्योंकि 'सत्' शब्द से ज्ञान और आनन्द की उपलक्षणता है। 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है, **'अविद्या-शबल'** पद से अविद्या का अधिष्ठान ब्रह्म

है, इससे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण भी कह दिया गया है, ऐसा समझना चाहिये। इससे शुद्ध चेतन पर आश्रित रहने वाली अविद्या चेतनविषया है, यह भी सूचित हो गया।

ब्रह्मणोऽव्यक्तम् । अव्यक्तान्महत् ।
महतोऽहङ्कारः । अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि ।
पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि ॥

शां. अ.—**ब्रह्मण इतीदं तु मूलं कस्मिँश्चित् पुस्तके नोपलभ्यते, आनन्दगिरिकृतपञ्चीकरणटीकायां न व्याख्यातम्। बहुशो मुद्रिते लिखिते च ग्रन्थेऽयं पाठ उपलभ्यत इति व्याख्यां करोमि।**

'ब्रह्मणः' से प्रारम्भ होने वाला यह मूल किसी-किसी पुस्तक में नहीं प्राप्त होता है। आनन्दगिरि द्वारा रचित 'पञ्चीकरण' की टीका में इसकी व्याख्या नहीं की गयी है। बहुत से मुद्रित तथा लिखित ग्रन्थों में यह पाठ उपलब्ध होता है, इस लिये व्याख्या कर रहा हूँ।

ब्रह्मणः अविद्याविशिष्टादव्यक्तं कारणावस्थापन्नमज्ञानं समभवत्। अव्यक्तात् महत्तत्त्वं हैरण्यगर्भिबुद्धिरजायत 'मनो महान्मतिर्ब्रह्म' इति स्मृतेः। अयं भावः—मूलाविद्यातः माया अव्यक्ताख्या अविद्याख्यं च महत्तत्त्वं पृथक् समभवत् प्राणिकर्मादृष्टवशात्। "माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" इति श्रुतेः। यद्यपि मायाविद्ययोर्नास्ति भेदस्तथापि प्रपञ्चोत्पत्तिहेतुभूताया मायाया विक्षेपशक्तिप्राधान्येनावरणशक्ति-प्रधानाया अविद्यायाश्चाध्यासादिहेतुत्वेन च तयोर्भेदः। महतोऽहङ्कारः शुद्धाहङ्कारोऽभवत्। अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि अपञ्चीकृतपञ्चमहा-भूतानि सूक्ष्मभूतानि वियद्वायुवायुसखवारिविपुलाख्यानि क्रमेण प्रत्येकं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैरेकद्वित्रिचतुष्पञ्चभिर्गुणैर्युक्तानि जातानि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि जातानि।

अविद्या से विशिष्ट ब्रह्म से **'अव्यक्त'** (अर्थात्) कारणावस्था को प्राप्त अज्ञान समुत्पन्न हुआ। 'अव्यक्त' से **'महत्तत्त्व'** हिरण्यगर्भ बुद्धि उत्पन्न हुयी। जैसा कि स्मृतियों में कहा गया है—'ब्रह्म मन, महान् मति है।' इसका अभिप्राय यह है—मूलाविद्या से अव्यक्त नाम की माया और अविद्यानामक महत्तत्त्व प्राणियों के कर्मों के अदृष्ट के कारण अलग-अलग उत्पन्न हुये, श्रुति में कहा गया है—'माया और अविद्या स्वयं पैदा होती हैं।' यद्यपि माया और

अविद्या दोनों में भेद नहीं है, तथापि प्रपञ्च की उत्पत्ति की कारणभूता माया में विक्षेपशक्ति की प्रधानता होने से और आवरणशक्ति की प्रधानता वाली अविद्या के अभ्यास आदि का कारण होने से उन दोनों में अन्तर है। 'महान्' से **'अहङ्कार'** = शुद्ध अहङ्कार उत्पन्न हुआ। अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रायें = अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अर्थात् सूक्ष्मभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथिवी प्रत्येक क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धों के एक, दो, तीन, चार और पाँच गुणों से युक्त पैदा हुये। पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत = पञ्चीकृत पाँच महाभूत उत्पन्न हुये।

[ब्रह्मणः पञ्चमहाभूतानि] पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्। पञ्चानां भूतानामेकैकं द्विधा विभज्य स्वार्धभागं विहायार्धं भागं चतुर्धा विभज्येतरेषु योजिते पञ्चीकरणं मायारूपदर्शनं भवति। अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चम् प्रपञ्च्यते।

शा. अ.—[**अस्मिन् पाठे ब्रह्मणः अविद्याविशिष्टात् पञ्चमहाभूतानि वियदादीनि शब्दादिगुणवन्ति जातानि इत्यर्थः। पाठान्तरे तु ब्रह्मणः अव्यक्तं, ततो महत्तत्त्वं ततोऽहङ्कारः, ततः पञ्चतन्मात्राणि, तेभ्यः पञ्चभूतानीति पूर्वोक्तरीत्या योजना।**]

[ऐसा पाठ होने पर अविद्याविशिष्ट ब्रह्म से पञ्चमहाभूत आकाशादि गुणों से युक्त उत्पन्न हुये यह अर्थ होगा। दूसरा पाठ होने पर तो ब्रह्म से अव्यक्त, उससे महत्तत्त्व, उससे अहङ्कार, उससे पञ्चतन्मात्रायें, उनसे पञ्चमहाभूत। इनकी पहले बतलायी गयी रीति से योजना करनी चाहिये]।

पञ्चमहाभूतेभ्यः अखिलं जगत्, ब्रह्माण्डमित्यर्थः। अयमत्र निष्कर्षः—सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणाः, त्रिगुणात्मकमज्ञानं, तत्परिणामभूतपञ्चभूतान्यपि त्रिगुणात्मकानि। तथा चापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, तथा दिग्वातार्कवरुणाश्विनीकुमाराख्या ज्ञानेन्द्रियदेवताः समभवन्। समस्तैश्च सात्त्विकांशैर्मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्यमन्तःकरणं चन्द्रबृहस्पतिरुद्रनारायणाख्या मनआद्यभिमानिन्यो देवताश्च जाताः। तेषामेव सूक्ष्मभूतानां व्यस्तै रजोंशैः क्रमेण

वाक् , पाणी, पादौ, पायुरुपस्थमिति पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, अग्नीन्द्रोपेन्द्र-मृत्युप्रजापतयस्तद्देवताश्च जाताः । तेषां भूतानां समस्तै राजसांशैः प्राणापानोदानसमानव्यानसंज्ञाः प्राणस्यैव वृत्तिभेदा वायवश्चाभवन् । वृत्तिभेदश्च 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः । उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः' इति वचननिरूपितः । तेषां सूक्ष्मभूतानां तमोगुणांशेन पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि, जातानि, स्थूलानि जातानीत्यर्थः । स्थूलेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यो भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः-सत्याख्योर्ध्वसप्तलोकाः, अतल-वितल-सुतल-तलातल-रसातल-महातल-पातालाख्य-सप्ताधोलोकाः, जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्य-चतुर्विधस्थूलशरीराणि जातानि । एतेषां संज्ञाऽखिलं जगदिति ।

पञ्चमहाभूतों से सारा जगत् , ब्रह्माण्ड (उत्पन्न हुआ), यह अर्थ है । यहाँ निष्कर्ष यह है—सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं, अज्ञान त्रिगुणस्वरूप है, उसके परिणामभूत पाँच भूत भी त्रिगुणात्मक हैं । इस प्रकार अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के सात्त्विक अंशों से अलग-अलग क्रमशः श्रोत्र, त्वक् , चक्षु, रसना और घ्राण नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और दिक् , वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमार नामक ज्ञानेन्द्रियों के देवता उत्पन्न हुये । सम्मिलित सात्त्विक अंशों से मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त नामक अन्तःकरण और चन्द्र, बृहस्पहि, रुद्र, तथा नारायण नामक मन-आदि के अभिमानी देवता पैदा हुये । उन्ही सूक्ष्मभूतों के पृथक्-पृथक् राजस-अंशों से क्रमशः वाक्, दोनों भुजायें, दोनो चरण, मलद्वार तथा मूत्रेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मृत्यु और प्रजापति उनके देवता भी उत्पन्न हुये । उन भूतों के सम्मिलित राजस-अंशों से प्राण, अपान, उदान, समान, और व्यान नामक प्राण के ही वृत्ति भेद वायु हुये । वृत्तिभेद—'हृदय में प्राण, गुदा में अपान और नाभि में समान स्थित हैं । उदान कण्ठस्थान में स्थित है और व्यान सारे शरीर में गमन करने वाला है ।' इन शब्दों में निरूपित है । इन सूक्ष्मभूतों के तमोगुण के अंश से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुये अर्थात् वे स्थूल हो गये, यह अभिप्राय है । स्थूल पञ्चमहाभूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य नामक ऊपर के सातलोक और अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल नामक सात अधोलोक तथा जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज नामक चार प्रकार के स्थूलशरीर उत्पन्न हुये । इनका नाम **'अखिल जगत्' है ।**

अनेन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणाख्याः पञ्चावस्थाः परलोकभोगाः, अज्ञानावरणभ्रान्तिपरोक्षज्ञानापरोक्षज्ञानशोकनाशातिहर्षा अज्ञानस्य सप्तावस्थाः, शुभेच्छा सुविचारणा तनुमानसा सत्त्वापत्तिरसंसक्ति पदार्थाभाविनी तुरीया चेति ज्ञानस्य सप्तावस्थाः सर्वा अपि ग्राह्याः ।

इससे ही जाग्रत्' स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण नामकी पाँच अवस्थायें परलोक के भोग, अज्ञान, आवरण, भ्रान्ति, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकनाश, और अतिहर्ष ये अज्ञान की सात अवस्थायें, शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुरीया ज्ञान की सात अवस्थायें ये सभी ग्रहण की जानी चाहिये ।

पञ्चानां भूतानामित्यादिनोक्तं पञ्चीकरणं प्रसिद्धं, तच्च *मायारूपदर्शनं* **मिथ्याज्ञानं भवति । सर्वेषामप्यज्ञानतत्कार्याणां ब्रह्मण्यध्यारोपः, अध्यारोपो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिः, स्मृतिभिन्नत्वे सति परत्र पूर्वदृष्टावभासो वाऽध्यासाख्यः । इदं चाध्यासस्य स्वरूपलक्षणं, तटस्थलक्षणं तु कारणत्रयजन्यत्वमिति स्यात् । कारणत्रितयं च दोषः, उद्बुद्धसंस्कारः, अन्तःकरणवृत्तिश्च । स चार्थाध्यासो ज्ञानाध्यास इति द्विधा । अर्थस्यानिर्वचनीयविषयस्याध्यास आद्यो बहुविधः । तथाहि संबन्धमात्राध्यासः, यथा प्रतिबिम्बाध्यासः, दर्पणमुखयोर्व्यावहारिकयोरनध्यासेऽपि तत्र प्रतिबिम्बसंबन्धस्यारोपात् । अयमेव संसर्गाध्यासः । एवं रक्तस्फटिकः, रक्तः पट इत्यादयोऽप्यत्रैवोदाहार्याः । कुत्रचित्सम्बन्धविशिष्टसम्बन्धिनोऽध्यासः, यथा अनात्मन आत्मन्यध्यासः । कुत्रचित्केवलधर्मस्यैवाध्यासः, यथा काणोऽहमित्यादि । अत्रेन्द्रियधर्मस्य काणत्वादेरध्यासो नेन्द्रियाध्यासः । अन्यथाऽहमिन्द्रियमितिप्रतीत्यापत्तेः । एवं देहान्तःकरणधर्मादयोऽप्युदाहार्याः । कुत्रचिद्धर्मविशिष्टधर्म्यध्यासः, यथः ब्राह्मणत्वधर्मविशिष्टदेहस्यात्मन्यध्यासः । कुत्रचिदन्योन्याध्यासः, यथाऽविद्यात्मनोः । अविद्या स्वरूपेण ब्रह्मात्मन्यध्यस्ता, आत्मा तु संसर्गविशिष्टः सन्ननात्मन्यध्यस्त इति स्वीकारात् । शुक्तिरजतादयोऽप्यत्रैवोदाहार्याः । अनिर्वचनीयवस्तुप्रतीतिर्ज्ञानाध्यासः । अयमेवाध्यासोऽनिर्वचनीयख्यात्या प्रसिद्धः । ख्यातिर्नाम भानं व्यवहारश्च । व्यवहारोऽपि अभिज्ञाऽभिवदनमुपादानमर्थक्रिया चेति चतुर्विधः । सत्त्वेनासत्त्वेन वा निर्वचनानर्हत्वमनिर्वचनत्वं तस्य ख्यातिरनिर्वचनख्यातिः । अनेन सर्वं शून्यमिति वदतां माध्यमिकानां अत्यन्तासतः शुक्तिरजतादेः प्रपञ्चस्य वा सत्त्वेन**

भानं व्यवहारश्चासत्ख्यातिरिति कथनं, आत्मनः क्षणिकविज्ञानस्य विषयाकाररूपस्य इदंत्वादिरूपेण बहिरिव भानं शुक्तिरजतादिस्थले आत्मख्यातिः, नेदं रजतमिति बाधस्थले इदमो बाधः, न रजताकारज्ञानस्येति योगाचारबुद्धकल्पनं, शुक्तिरजतादिभ्रमे दोषवशाद्देशान्तरस्थं रजतादि पुरोवर्तिन्यन्यथा पश्यति व्यवहरति च यतोऽन्यथाख्यातिः। दोषश्च प्रमातृगतो भयलोभादिः, प्रमाणगतः काचादिः, प्रमेयगतः सादृश्यादिरिति काणादानां कथनम्। भ्रान्तौ न देशान्तरस्थवस्तुभानं किन्तु सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्त्या वा रजतत्वादिधर्मस्य पुरोवर्तिनि प्रतीतिरन्यथाख्यातिरिति चिन्तामणिकारादिकथनम्। इदं रजतमित्यादिभ्रमस्थले इदमिति प्रत्यक्षं ज्ञानं रजतमिति स्मृतिज्ञानं तयोस्तद्विषययोश्च दोषवशाद्विवेकाग्रहे सति जाते ततो रजतमिदमिति व्यवहार एव अख्यातिः, न तु ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य सत्यत्वादिति प्रभाकरविचारचातुर्यम्। सर्वत्र वस्तुनि सर्वेषां वस्तूनामवयवसत्त्वाद्दोषवशेन शुक्तिनिष्ठरजतावयवाविर्भावे रजतमिदमिति सत एव रजतस्य ख्यातिः सत्ख्यातिरिति रामानुजवचनं च परास्तम्, सतस्त्रिकालाबाध्यत्वेन बाधाभावात्। असतश्च प्रतीत्यानुपपत्तेः सदसतोश्चान्योन्यं विरोधादुभयविलक्षणमनिर्वचनीयं शुक्तिरजतादीतिभानात्। एवं 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुत्या इहशब्दवाच्ये ब्रह्मण्यधिष्ठाने नानाशब्दवाच्यस्य भेदस्य प्रपञ्चस्य किञ्चनशब्दवाच्यस्य च नञर्थविषयीभूतात्यन्ताभावविषयत्वबोधनेन बाधान्न सत्त्वम्, प्रतीतेश्च नासत्त्वम्, न च विरोधात् सदसत्त्वमिति सिद्धं मिथ्यात्वम्। अत एव जगदध्यारोपाधिष्ठानं ब्रह्म इति ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणान्तरम। अथ च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति श्रुत्या प्रतिपादितस्य जगदुत्पत्तिस्थितिलयानां यः कर्ता तद्ब्रह्म इति च तटस्थलक्षणान्तरं ब्रह्मणः। कर्तृत्वं च उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। एवं च यः कर्ता स निमित्तं, यस्मिँल्लयस्तदुपादानं कारणम्, यथा घटं प्रति कुलालो मृच्च। अत्र च ब्रह्मण्युभयमिति जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्मेति च तटस्थलक्षणान्तरम्। प्रमाणं चात्र 'यथोर्णनाभिः सृजते च' इति श्रुतिः। एवमध्यारोपो निरूपितः। आरोपितस्य निषेधोऽपवादः। यथा आरोपितस्य रजतस्य नेदं रजतमिति। प्रपञ्चस्य च 'नेह नाना' इति श्रुत्या निषेधः। तथा च ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन जगतो मिथ्यात्वं सिद्धम्। अधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं

ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वमिति तल्लक्षणात्। एवमपवादः। उक्तरीत्या अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चात्यन्ताभावरूपं ब्रह्म प्रपञ्च्यते नाम प्रतिपाद्यते शास्त्रेषु।

'पञ्चानां भूतानाम्' इत्यादि से कहा गया 'पञ्चीकरण' विख्यात है। वह **'मायारूपदर्शन'** अर्थात् मिथ्याज्ञान है। सारे अज्ञान तथा उसके कार्यों का ब्रह्म पर अध्यारोप होता है, उससे भिन्न में उसका ज्ञान अध्यारोप है, अथवा स्मृति से भिन्न होते हुये दूसरे में पूर्वदृष्ट का अवभासित होना अध्यास है। यह अध्यास का स्वरूपलक्षण है, तटस्थ-लक्षण है तीनों कारणों से उत्पन्न होने वाला। तीनों कारण है—दोष, उद्बुद्ध संस्कार और अन्तःकरण की वृत्ति। वह भी अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास (भेद से) दो प्रकार का है। अनिर्वचनीय विषय वाले अर्थ का पहले प्रकार का अध्यास अनेक प्रकार का होता है। जैसे कि—सम्बन्धमात्र का अध्यास, यथा—प्रतिबिम्ब का अध्यास, व्यवहार में आने वाले दर्पण और मुख में अध्यास न होने पर भी उसमें प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध का आरोप हो जाता है। यही संसर्गाध्यास है। इसी प्रकार लाल-स्फटिक, लाल वस्त्र इत्यादि भी का उदाहरण इसी में होना चाहिये। कहीं पर सम्बन्धविशिष्ट सम्बन्धी का अध्यास होता है—जैसे कि अनात्मा का आत्मा पर अध्यास। कहीं पर केवल धर्म का ही अध्यास होता है, जैसे—'मैं काना हूँ'—इत्यादि में। यहाँ इन्द्रिय के धर्म काणत्व आदि का अध्यास है, न कि इन्द्रियाध्यास। अन्यथा—'मैं इन्द्रिय हूँ' इस प्रतीति की आपत्ति होने लगेगी। इसी प्रकार देह तथा अन्तःकरण के धर्म आदि का उदाहरण हो सकता है। कहीं पर धर्म-विशिष्ट धर्मी का अध्यास होता है। जैसे—ब्राह्मणत्व-धर्मविशिष्ट देह का आत्मा पर अध्यास। कहीं पर एक का दूसरे पर अध्यास होता है—जैसे—अविद्या और आत्मा का। अविद्या स्वरूप से ब्रह्मात्मा पर अध्यस्त है, और आत्मा संसर्ग से विशिष्ट होकर अनात्मा पर अध्यस्त होता है, ऐसा स्वीकार किया जाता है। शुक्तिरजत आदि भी यहीं पर उदाहरण के विषय हैं। अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति ज्ञानाध्यास है। यही अध्यास अनिर्वचनीय ख्याति नाम से प्रसिद्ध है। ख्याति है भान और व्यवहार। व्यवहार भी चार प्रकार का है—अभिज्ञा, अभिवदन (= सम्बोधन या नमस्कार), और अर्थक्रिया। सत्-रूप से अथवा असत् रूप से निर्वचन की अयोग्यता अनिर्वचनीयता है, उसकी ख्याति अनिर्वचनीयख्याति है। इससे 'सब शून्य है'

यह कहने वाले माध्यमिकों का अत्यन्त-असत् शुक्ति-रजत-आदि का अथवा प्रपञ्च का 'सत्' के रूप में भान और व्यवहार 'असत्‌ख्याति' है, यह कथन है। आत्मा अर्थात् क्षणिक-विज्ञान के विषयाकार रूप का 'इदं' 'त्वम्' आदि रूप में बाहर सा भान शुक्तिरजत के स्थान में 'आत्मख्याति' है। 'यह रजत नहीं है' इस बाध के स्थान पर 'इदम्' का बाध है, न कि रजताकार ज्ञान का, ऐसी योगाचार बौद्धों की कल्पना है। शुक्तिरजत आदि भ्रम में दोषवशात् दूसरे स्थान पर स्थित रजत आदि पुरोवर्ती के द्वारा चूंकि अन्यथा देखा जाता है और व्यवहार में लाया जाता है, अतः अन्यथाख्याति है। दोष है प्रमाता में रहने वाला भय, लोभ, आदि, प्रमाणगत काय-आदि, प्रमेयगत सादृश्य आदि ऐसा काणादों-वैशेषिकों का कहना है। भ्रान्ति में दूसरे स्थान पर स्थित वस्तु का भान नहीं होता है, अपितु सामान्य-लक्षणा प्रत्यासत्ति से या ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से रजतत्त्व-आदि धर्म की सामने स्थित में प्रतीति ही अन्यथा-ख्याति है, ऐसा '(तत्त्व–) चिन्तामणि' के रचयिता (गङ्गेश) आदि का कथन है। 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थल में 'इदं' यह प्रत्यक्ष-ज्ञान, 'रजतम्' यह 'स्मृतिज्ञान' उन दोनों तथा उन दोनों के विषयों का, दोष के कारण विवेक का ग्रहण न करने पर, उत्पन्न होते हैं, तब 'रजतमिदम्' यह व्यवहार ही **'अख्याति'** है। यह ज्ञान नहीं है, क्योंकि ज्ञानमात्र ही सत् होता है ऐसा प्रभाकर (मिश्र) के विचार की चतुरायी है। सभी वस्तुओं में सभी वस्तुओं के अवयव होने के कारण दोषवशात् शुक्तिनिष्ठ रजत के अवयव का आविर्भाव हो जाने पर 'रजतमिदम्' इस प्रकार के सत् ही रजत की ख्याति **'सत्ख्याति'** है, ऐसा रामानुज का भी कथन निरस्त हो जाता है। सत् का त्रिकालाबाध्य होने से बाध नहीं होता। असत् की प्रतीति की उपपत्ति न होने से, और सत् और असत् का परस्पर विरोध होने से दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय है शुक्तिरजत आदि ऐसा भान होता है। इस प्रकार 'यहाँ विविध कुछ भी नहीं है' इस श्रुति से 'इह' शब्द से वाच्य ब्रह्मरूपी अधिष्ठान पर 'नाना' (=विविध) शब्द से वाच्य भेद प्रपञ्च का और 'किञ्चन'-पद के वाच्य नञ्-अर्थ के विषयीभूत अत्यन्ताभाव के विषयत्व के बोधन से बाध होने के कारण 'सत्'-त्व नहीं है, और प्रतीति होने के कारण 'असत्त्व' भी नहीं है, और विरुद्ध हो जाने से 'सदसत्त्व' भी नहीं है। इस प्रकार मिथ्यात्व सिद्ध हुआ। इसीलिये 'जगत् के अध्यारोप का

अधिष्ठान ब्रह्म है' यह ब्रह्म का दूसरा तटस्थ-लक्षण हुआ। इसके पश्चात्-'यतो वा०'—जहाँ से ये भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके साथ उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, जहाँ प्रयाण करते हैं, अभिप्रवेश करते हैं, उसे जानो, वह ब्रह्म है।' इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का जो कर्त्ता है, वह ब्रह्म है, यह भी ब्रह्म का दूसरा तटस्थ-लक्षण है। उपादान के विषय में अपरोक्षज्ञान से करने की इच्छा को करने वाला कर्त्ता है। इस प्रकार जो कर्त्ता है वही निमित्त है, जिसमें उसका लय होता है वह उपादान कारण है, जैसे कि घड़े के प्रति कुम्हार और मिट्टी। यहाँ ब्रह्म में दोनों है, इसलिये जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण अभिन्न ब्रह्म है, यह उसका अन्य तटस्थलक्षण हुआ। इसमें प्रमाण है—'यथोर्ण०'—जैसे–मकड़ी निर्माण करती है–यह श्रुति। इस प्रकार अध्यारोप का निरूपण हुआ। आरोपित का निषेध अपवाद है, जैसे कि-आरोपित रजत का 'यह रजत नहीं है' यह कहना। प्रपञ्च का 'नेह नाना०' इस श्रुति से निषेध किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध हुआ, क्योंकि अधिकरणनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना, त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी होना अथवा ज्ञान के द्वारा निवारणीय होना मिथ्यात्व है, यह उसका लक्षण है। इस प्रकार अपवाद हुआ। उक्तरीति से अध्यारोप और अपवाद के द्वारा **'निष्प्रपञ्च'** = प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव के रूप वाला 'ब्रह्म' प्रपञ्चित किया जाता है (= शास्त्रों में प्रतिपादित किया जाता है।)

ॐ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते।

सु. वा.—ॐकारः सर्ववेदानां सारस्तत्त्वप्रकाशकः।
तेन चित्तसमाधानं मुमुक्षूणां प्रकाश्यते ॥१॥

ओङ्कार (= प्रणव, अर्थात् ओ३म्) तत्त्व को प्रकाशित करने वाला, सभी वेदों का उत्कृष्ट संक्षिप्त रूप है। उसी के माध्यम से मोक्षप्राप्ति के इच्छुकों के लिये चित्त-समाहित करने (का प्रकार) निरूपित किया जा रहा है॥ १ ॥

वा. भ.—श्रीगणेशाय नमः। इह खलु परमेश्वराराधनार्थ-

मनुष्ठितैर्नित्यादिकर्मभिः परिशुद्धांतःकरणानामत एव नित्यानित्य-वस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमदमादिसाधनषट्कसंपन्मुमु-क्षुत्वाख्यसाधनचतुष्टयवतां ब्रह्मजिज्ञासूनां परित्यक्तकाम्यनिषिद्ध-कर्मणां परमहंसपरिव्राजकानां श्रवण-मनन-निदिध्यासन-पराणां आरुण्युपनिषदा "संधि समाधावात्मन्याचरेत्" इति समाधि-विहितः। स च समाधिरोंकारेण कर्त्तव्य इति "ॐ इत्यात्मानं युञ्जीत" इति तैत्तिरीयबृहन्नारायणोपनिषच्छ्रुतौ विहितः, "युज् समाधौ" इति स्मृतेः। स च समाधिरोंकारेण कथं कर्त्तव्य इत्याकाङ्क्षायां तं प्रकारं वक्तुं भगवता भाष्यकारेण पञ्चीकरणं नाम प्रकरणमुद्दिष्टम्। तत्प्रकरणं व्याचिख्यासुर्भगवान् वार्त्तिक-कारः चिकीर्षितस्योक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तात्मकस्य तद्व्याख्यानरू-पस्य वार्त्तिकस्य निर्विघ्नेन परिसमाप्तिप्रचयगमनसिद्धयर्थं—

श्रीयुत गणेश को नमस्कार। यहाँ जगत् में परमेश्वर की आरा-धना के निमित्त सम्पन्न किये गये नित्य आदि कर्मों से पूर्णतः शुद्ध अन्तःकरण वाले, और इसीसे नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेक, लौकिक तथा पारलौकिक विषयों के फलों के भोग में वैराग्य, शम, दम आदि छह साधन समूहों की सम्यक् प्राप्ति, और मोक्षप्राप्ति का इच्छुक होना इन चारों साधनों से सम्पन्न, ब्रह्मज्ञान के इच्छुक, काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देने वाले, श्रवण, मनन, और निदिध्यासन में रत परमहंस संन्यासियों के लिये आरुणि-उप-निषद् के द्वारा 'सन्ध्याकाल में समाधि में आत्मा का अनुसन्धान करे' सदृश वाक्यों से समाधि का विधान किया गया है। वह समाधि ओङ्कार से करनी चाहिये ऐसा 'ॐ इत्या०' (ओ३म् इसमें आत्मा को युक्त करे) इस (वाक्य) से तैत्तिरीय-बृहन्नारायणो-पनिषद् श्रुति में विधान है। 'युज्' धातु समाधि के अर्थ में होती है ऐसा स्मृति में कथन होने से (उक्त वाक्य में 'युक्त करे'—युञ्जीत—का अर्थ समाधि है।) 'वह समाधि ओङ्कार के माध्यम से कैसे करनी चाहिये' ऐसी इच्छा होने पर उस विधि को बतलाने के लिये

१. द्विरुक्तेति पाठान्तरम्।

भगवान् (वेदान्तसूत्रों के) भाष्यकार (आद्यश्रीशङ्कराचार्य) ने 'पञ्चीकरण' नामक प्रकरण का उपदेश दिया। उस प्रकरण की व्याख्या करने के इच्छुक भगवान् वार्तिककार (सुरेश्वराचार्य) रचे जाने के लिये अभीष्ट, उक्त, अनुक्त और दुरुक्त (अथवा पुनरुक्त) के विषय में विचार से समन्वित, उसके व्याख्यास्वरूप वार्तिक की निर्बाध समाप्ति-राशि की उपलब्धि के लिये—

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

प्राचीन काल में 'ओङ्कार' तथा 'अथ' ये दो शब्द ब्रह्मा के कण्ठ को फोड़ कर निकले, अतः दोनों माङ्गलिक हैं।

—इति स्मृतेरोंकारोच्चारणं तदर्थतत्त्वानुस्मरणात्मकं च मंगल-माचरन्प्रकरणस्यार्थं संक्षेपेण श्रोतृबुद्धिसौकर्यार्थं कथयति—ॐकार इति। तेन ओङ्कारेण चित्तसमाधानं प्रकाश्यत इति संबन्धः। चित्तस्य समाधानं ब्रह्मात्माभेदाकारतयाऽवस्थानम्, अखण्डब्रह्माकारवृत्तिरूपेण परिणामः, नतु शास्त्रान्तरप्रसिद्धचित्तवृ-त्तिनिरोध इत्यर्थः। ब्रह्मैवाहमस्मि "इत्यभेदेनावस्थानं समाधिः" इति मूले वक्ष्यमाणत्वात्। 'समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैक्यतां प्रति।' इति स्मृतेश्च। तच्चित्तस्याखंडाकारवृत्तिरूपज्ञानं येन प्रकारेण ओंकारेण जायते स प्रकारः प्रकाश्यत इत्यर्थः। ओंकार-स्य ज्ञानजननसामर्थ्यमाह—**तत्त्वप्रकाशक** इति। तत्त्वमस्यादिवा-क्यवद्विधिविधया विधिमुखेन, 'नेतिनेति' इति वाक्यवन्निषेधवि-धया च तत्त्वप्रकाशकत्वं तस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धमित्यर्थः। ननु तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यः ओंकारस्य को वा विशेषः, येन ओंकारे-णैव चित्तसमाधानं प्रकाश्यते? तत्राह—**सर्ववेदानां सार** इति। स मृदिव घटशरावादीनां सर्ववेदानुस्यूततया कारणत्वात् तेषां सारः "तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवं ॐकारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा" इतिश्रुतेरित्यर्थः।

ऐसा स्मृति में कहे जाने से ओङ्कार के उच्चारण तथा उसके अर्थतत्त्व के अनुस्मरण-स्वरूप मङ्गल का आचरण करते हुये प्रकरण के अर्थ को संक्षेप में श्रोताओं के समझने की सुविधा के लिये— **ॐकार इति** (ओङ्कार इत्यादि श्लोक) कहते हैं। उस ओङ्कार से चित्त का समाधान प्रकाशित होता है, ऐसा सम्बन्ध (समझना चाहिये।) चित्त के समाधान का अर्थ है—ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नरूप में अवस्थिति, अखण्ड ब्रह्म के आकार की वृत्ति के रूप में परिणाम, न कि दूसरे शास्त्र (योगदर्शन) में प्रसिद्ध चित्त की वृत्तियों का निरोध, क्योंकि 'ब्रह्म ही मैं हूं' इस प्रकार की अभेदरूप में स्थिति समाधि है, ऐसा मूल में कहा जायेगा, और स्मृति में भी (कहा गया है कि) 'परतत्त्व तथा जीव की एकता के विषय में संविद् की उत्पत्ति समाधि है'। उस चित्त की अखण्डाकारवृत्ति के रूप वाला ज्ञान जिस विधि से ओङ्कार से उत्पन्न होता है वह विधि प्रकाशित की जा रही है, यह (उक्त श्लोक) का अभिप्राय है। ओङ्कार की ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति के (विषय में सङ्केत करने के लिये वार्तिक में कहा है—**'तत्त्वप्रकाशक'**। 'तत्त्वमसि'— (वह तुम हो) आदि वाक्यों की भांति विधिरीति से और 'नेति नेति' (वह ब्रह्म यह नहीं हैं, ऐसा नहीं है।) इत्यादि वाक्य की भाँति निषेधरीति से उस (ओङ्कार) की तत्त्वप्रकाशकता श्रुति और स्मृति में विख्यात है, यह (तत्त्वप्रकाशक:) का अर्थ है। 'भला 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से ओङ्कार की क्या विशेषता है कि ओङ्कार के द्वारा ही चित्त-समाधान प्रकाशित किया जा रहा है ?' उस विषय में कहा गया है—**सर्ववेदानां सार इति**—(वह सभी वेदों का सर्वोत्कृष्ट निचोड़ है।) इसका यह अर्थ है कि वह ओङ्कार घड़े, कुल्हड़ आदि में मिट्टी की भाँति सभी वेदों में व्याप्त होने के कारण उनका सार है, क्योंकि श्रुति में कहा गया है—'तो जैसे शंकु से सभी पत्ते व्याप्त हैं उसी प्रकार ओङ्कार से सारी वाणी व्याप्त हैं।'

अयमाशयः—तत्त्वमस्यादिवाक्यानां मध्ये केनचिद्वाक्येन चित्तसमाधानप्रकारः प्रकाश्यते, अप्रकाशितवाक्यान्तराध्यायिनां ततो वाक्यात्समाधानासिद्धेर्वाक्यान्तरेऽपि तत्प्रकाशितव्यं स्यादिति यत्नगौरवं स्यात्। ओंकारेण तत्प्रकाशने तु तस्य सर्ववेदवाक्यसारत्वात् सर्वत्र वाक्ये समाधानप्रकारः प्रकाश्यत इति न पृथक् कार्यः स्यात्। ओंकारेणैव सर्वेषां चित्तसमाधानसिद्धेश्च न यत्नान्तरं कार्यमिति लाघवम्। किञ्च वेदोच्चारणस्य पापनिवर्त्तकत्वस्मरणात् लौकिकवाक्यापेक्षया वेदवाक्यस्य स्वोच्चारणस्मरणद्वारा ज्ञानप्रतिबन्धककल्मषनिवर्तकत्वेन शीघ्रमप्रतिबद्धज्ञानोत्पादकत्वं विशेष इति वक्तव्यम्। अर्थबोधकत्वस्य उभयत्रापि तुल्यत्वेन प्रकारान्तरेणातिशयस्य वक्तुमशक्यत्वात्। एवञ्च सति ओंकारस्य सर्ववेदात्मकत्वात्तदुच्चारणस्य सर्ववेदोच्चारणत्वात्ततो बहुकल्मषनिवृत्त्या शीघ्रमप्रतिबद्धं ज्ञानं ततो भवति। किञ्च "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" इत्यादिबहुश्रुतिषु तस्मिन्नादरदर्शनाच्च तेनैव समाधानं प्रकाशनीयमिति।

तात्पर्य यह है कि—"'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में से किसी वाक्य से चित्त-समाधान की विधि प्रकट होती है, उस वाक्य से अनिर्दिष्ट दूसरे वाक्यों के अनुसार ध्यान करने वालों को समाधि की सिद्धि न होने से दूसरे वाक्यों में भी उस विधि का प्रकाशन करना चाहिये था" ऐसा करने पर प्रयत्न-गौरव होगा अर्थात् अपेक्षा से अधिक व्यर्थ का प्रयास करना पड़ेगा। जबकि ओङ्कार से उसका प्रकाशन करने पर, उसके सभी वेद वाक्यों का सार होने के कारण, सर्वत्र वाक्य में समाधि की विधि प्रकाशित होती है, इस प्रकार अलग से कोई कार्य नहीं करना पड़ेगा। ओङ्कार से ही सबको चित्त की समाधि सिद्ध हो जाने से अन्य प्रयास नहीं करना पड़ेगा, इस प्रकार थोड़े में ही काम चल जायेगा। इसके अतिरिक्त, वेदों के उच्चारण को पाप हटाने वाला माना जाने से, लौकिक वाक्य की तुलना में वेदवाक्य की, अपने उच्चारण एवं स्मरण के द्वारा ज्ञान में बाधक पापों को दूर करने के कारण शीघ्र ही निर्बाध ज्ञान की उत्पादकता, विशेषता होगी ऐसा कहना है। अर्थबोधकता दोनों ही स्थानों (=वैदिक ओङ्कार तथा तदितर वाक्यों) में समान होने से दूसरी रीति से (ओङ्कार के) गुणाधिक्य को नहीं कहा जा सकता। ऐसा होने पर ओङ्कार के सभी वेदों का सार होने के कारण सर्ववेद-स्वरूप होने से उसके उच्चारण के भी सभी वेदों का उच्चारण हो

जाने से उसकी तुलना में बहुत पापों की निवृत्ति हो जाने पर शीघ्र ही उससे निर्बाध ज्ञान होने लगता है। इस पर भी 'ओ३म् इत्या०' आदि बहुत सी श्रुतियों में उस (ओङ्कार) के प्रति आदर प्रदर्शित किये जाने के कारण भी उसी से समाधि का प्रकाशन किया जाना चाहिये।

अत्राधिकारिणमाह–मुमुक्षूणामिति। अत्र च ओंकारप्रकाश्यं तत्त्वं विषयः, मोक्षः काम्यमानत्वात् मुख्यं प्रयोजनं, चित्तसमाधानशब्दितं तत्त्वज्ञानं अवान्तरप्रयोजनं, प्रकरणस्य फलस्य च जन्यजनकभावः संबन्धः, मुमुक्षुरधिकारीत्यनुबंधचतुष्टयं प्रवृत्त्यङ्गमर्थादुक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

यहाँ (इस प्रणव-समाधि का) अधिकारी कहा गया है––**मुमुक्षूणामिति**––से। (अर्थात् मुमुक्षुओं के लिये ही यह विधि कही गयी है, वही इसके 'अधिकारी' हैं, अन्य नहीं।) यहाँ ओङ्कार के द्वारा प्रकाशन-योग्य (आत्म) तत्त्व 'विषय' है, इच्छा किये जाने के कारण मोक्ष प्रधान 'प्रयोजन' है, 'चित्त-समाधान' से कहा गया तत्त्वज्ञान गौण-प्रयोजन है, (इस) प्रकरण-ग्रन्थ और (इसके) फल में जन्य-जनकभाव सम्बन्ध है, अपने प्रयोजन की उत्पत्ति अधिकारी का प्रकरण से सम्बन्ध है, मोक्ष का इच्छुक व्यक्ति अधिकारी है, इस प्रकार प्रवृत्ति के अवयव-भूत चारो 'अनुबन्ध' (शब्दतः निर्दिश्ट न होने पर भी) अर्थतः कह दिये गये, ऐसा समझना चाहिये ॥ १ ॥

सु. वा.—आसीदेकं परं ब्रह्म नित्यमुक्तमविक्रियम्।
तत्स्वमायासमावेशाद्बीजमव्याकृतात्मकम् ॥ २ ॥

अद्वय, सर्वोत्कृष्ट, नित्यमुक्त, निर्विकार ब्रह्म (ही पहले) था। वह अपनी माया के साहचर्य से अनभिव्यक्त स्वरूप वाला बीज बना ॥ २ ॥

वा. भ.—इह भगवता भाष्यकारेण अध्यारोपापवादाभ्यामोंकारेण प्रत्यग्ब्रह्माभेदप्रतिपत्तिप्रकारं दर्शयितुमधिष्ठानस्य वास्तवं रूपम् अध्यारोप्यप्रपञ्चस्य सृष्टिं च सिद्धवत्कृत्याध्यारोपमात्रमुदितम्। वार्त्तिकाचार्यस्तु उक्तानुक्तदुरुक्तचिंतात्मकत्वाद्वार्त्तिकस्योक्तानुक्तं तदुभयं वक्तुकाम आदौ अध्यारोपात्पूर्वमवस्थितमधिष्ठानभूतात्मस्वरूपमाह–आसीदेकमिति।

यहाँ भगवान् भाष्यकार (शङ्कराचार्य) ने आरोप और अपवाद के माध्यम से ओङ्कार के द्वारा आन्तर ब्रह्म से अभेद की प्राप्ति की विधि दिखाने के लिये अधिष्ठान के वास्तविक-स्वरूप और अध्यारोप के विषय जगत् की सृष्टि को सिद्ध सा मान कर केवल अध्यारोप को कहा है। वार्त्तिकाचार्य (सुरेश्वर) ने तो, वार्तिक के उक्त, अनुक्त और दुरुक्त के विचार-स्वरूप होने के कारण, उक्त, अनुक्त और उन दोनों को कहने की इच्छा से सर्वप्रथम अध्यारोप से पहले विद्यमान आधारभूत आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है––आसीदेकमिति–(पहले एक ही परब्रह्म था, आदि के द्वारा।)

ब्रह्म देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यम्, अत एव एकं सजातीयविजातीय-स्वगत-भेदशून्यं परं परमानन्दरूपं नित्यमुक्तं कालत्रयेऽपि सर्वानर्थरूपप्रपंचसंबन्धशून्यं सच्चिदानन्दात्मकं वस्त्वासीत्सृष्टेः प्रागित्यर्थः। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चनमिषत्, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः। यद्यपि अद्वितीयस्य 'आसीत्' इति कालसंबन्धो न युक्तः, तथापि श्रोतॄणां प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं कालसंबन्धमारोप्योपदिशतीति बोध्यम्। ननु जगदुपादानस्य कालत्रयेऽपि कथं संबन्धशून्यत्वं तत्राह–अविक्रियमिति। निरवयवत्वेन विभुत्वेन च परिणामपरिस्पन्दयोरसंभवादुपादानत्वमपि न तस्यास्तीत्यर्थः। तर्हि कथं "आत्मन आकाशः सम्भूतः, तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिश्रुतिभिरुपादानत्वाभिधानं ब्रह्मण इत्याशंक्य तत्त्वतोऽन्यथाभावलक्षणपरिणामाभ्युपादानत्वासंभवेऽपि मायया अतत्त्वतोऽन्यथात्वलक्षणं विवर्त्तोपादानत्वं सम्भवतीत्याह–तत्स्वमायेति। स्वस्य ब्रह्मणः शक्तिभूता स्वस्मिन्नेवाध्यस्ता माया तस्याः समावेशः आध्या-

सिकतादात्म्यं तस्माद्बीजमुपादानमित्यर्थः। शुक्त्यादेर्विक्रियां विनापि रजताद्युपादानत्वदर्शनात्। अविक्रियस्यापि जगद्विवर्तोपादानत्वमविरुद्धमित्यर्थः। ननु यत्र यत्कार्यं सूक्ष्मरूपेण वर्तते तदेव तस्य कार्यस्य बीजम्, अन्यथा तन्तूनामपि घटं प्रति बीजत्वं स्यात्। तथा च नित्यमुक्ते ब्रह्मणि प्रागुत्पत्तेर्जगत्सूक्ष्मरूपासम्भवात्कथं तद्बीजत्वमत आह—अव्याकृतात्मकमिति। स्वतो नित्यमुक्तस्य सूक्ष्मकार्याश्रयत्वासम्भवेऽपि मायायां तत्सम्भवात्तद्द्वारा अव्याकृतात्मकं अनभिव्यक्तनामरूपात्मकजगदाश्रयः "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इतिश्रुतेः। अतो बीजत्वं युक्तमित्यर्थः॥ २॥

ब्रह्म देश, काल और वस्तु की सीमाओं से रहित है, इसलिये वह **एक**—समान जातिवाले, असमान जाति वाले और आत्मगत भेदों से शून्य, **पर**—परम आनन्द स्वरूप, **नित्यमुक्त**—तीनों कालों में भी सभी अनर्थरूपी प्रपञ्च के बन्धनों से रहित सच्चिदानन्द-स्वरूप वस्तु **था** (आसीत्)—(अर्थात्) सृष्टि से पहले भी था—यह अभिप्राय है। 'हे सौम्य! यह सत् ही पहले था' 'एक ही है अद्वितीय ब्रह्म' 'एक यह आत्मा ही पहले था, इच्छा करने वाला अन्य कुछ भी नहीं था' 'विज्ञान और आनन्द ब्रह्म है' 'सत्य, ज्ञान और निरवधि ब्रह्म है' इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है। यद्यपि अद्वितीय का 'आसीत्'—था—इस प्रकार का काल से सम्बन्ध उचित नहीं है, तथापि सुनने वालों के ज्ञान की सुविधा के लिये काल-सम्बन्ध का आरोप करके उपदेश दिया है, ऐसा समझना चाहिये। 'जगत् के उपादान-कारण की तीनों कालों में सम्बन्ध-शून्यता कैसे होगी, उस विषय में कहा गया है—**अविक्रियम्**—निर्विकार। अङ्गरहित तथा सर्वव्यापक होने के कारण परिणाम (=तात्त्विक परिवर्तन—) तथा परिस्पन्द (=विचलता) दोनों के ही सम्भव न होने से उसकी उपादानता भी नहीं है, यह (अविक्रियम् पद का) अर्थ है। तो फिर 'कैसे 'आत्मा से आकाश उद्भूत हुआ', 'उसने तेज की सृष्टि की' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म की उपादानता का कथन हुआ है' ऐसी शङ्का करके, तात्त्विक रूप से दूसरे प्रकार का हो जाना लक्षण है

जिसका उस परिणाम (नामक विकार) की उपादानकारणता सम्भव न होने पर भी माया के कारण अतात्त्विक रूप से दूसरा होना (=बदल जाना) है लक्षण जिसका उस विवर्त का उपादानत्व सम्भव है, इस आशय से—**'तत्स्वमायेति'**—वह अपनी माया से आदि-कहा गया है। स्व (अर्थात्) ब्रह्म की शक्तिस्वरूपिणी अपने में ही आरोपित माया, उसका संयोग (अर्थात्) आध्यासिक अभिन्नता, उसका कारण, बीज या उपादान, (ब्रह्म है), यह अभिप्राय है। 'जहाँ जो कार्य सूक्ष्मरूप से रहता है, वही उस कार्य का बीज है, अन्यथा तन्तुओं की भी घट के प्रति बीजता होगी। उसी प्रकार नित्य-मुक्त ब्रह्म में उत्पत्ति से पहले जगत् का सूक्ष्म-रूप सम्भव न होने से, कैसे उसकी बीजता होगी?' इसीलिये कहा—**अव्याकृतात्मकमिति**—वह व्याकृतस्वरूप नहीं है। अपने-आप नित्यमुक्त सूक्ष्मकार्य के आश्रय के रूप में सम्भव न होने पर भी माया में उसकी सम्भावना होने से उसके द्वारा अव्याकृतस्वरूप वाला व्यक्त न हुये नाम-रूप के स्वभाव वाले जगत् का आश्रय (होता है।) क्योंकि 'तद्धेदं॰'—तो निश्चय ही वह यह अभिव्यक्त नहीं था—यह श्रुति (प्रमाण है।) अतः (ओङ्कार का जगत् का) बीज होना सङ्गत है, यह अर्थ है॥ २॥

सु. वा.—तस्मादाकाशमुत्पन्नं शब्दतन्मात्ररूपकम्।
स्पर्शात्मकस्ततो वायुस्तेजो रूपात्मकं ततः॥ ३॥
आपो रसात्मिकास्तस्मात्तेभ्यो गन्धात्मिका मही॥ $\frac{1}{3}$॥

उससे शब्द-तन्मात्र के रूप वाला आकाश उत्पन्न हुआ, उस (आकाश) से स्पर्श-स्वभाव वायु, उस (वायु) से रूपात्मक तेज, उस (तेज) से रसस्वरूप जल, और उस (जल) से गन्धस्वरूपिणी पृथ्वी॥ ३, $\frac{1}{3}$॥

वा. भ.—एवं ब्रह्मणः प्रश्नोपादानत्वमुपपाद्य इदानीं तस्मिञ्जगतः अध्यारोपार्थं ततः सृष्टिमाह—तस्मादित्यादिना सार्द्धेन। तस्य स्थूलाकाशवैलक्षण्यमाह—शब्दतन्मात्ररूपकमिति। शब्द एव तस्मिन्नाकाशे मात्रा मीयते, नतु अवकाशदातृत्वशांतघोरमूढत्वादयो यस्मिन् तच्छब्दतन्मात्रं, तदेव रूपं यस्य,

गुणगुणिनोरभेदात्। तथा शब्दमात्रमेवावगम्यते अवकाशदानादिव्यवहारविशेषा न संति यस्मिन् तत्सूक्ष्ममाकाशमित्यर्थः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता। न शांता नापि ते घोरा न मूढाश्चाविशेषिणः' इति। स्पर्शात्मक इत्यादावेवमेत्र योज्यम् ॥ ३,½ ॥

इस प्रकार ब्रह्म की प्रपञ्च की उपादानता सिद्ध करके, अब उसमें जगत् के आरोप के लिये उससे सृष्टि का वर्णन किया है **'तस्मादि-त्यादि'** के द्वारा। उसकी स्थूल-आकाश से भिन्नता बतलाई गयी है—**'शब्दतन्मात्ररूपकम्'** इस (पद से।) शब्द ही उस आकाश में मात्रा के रूप में मापा जाता है, न कि जिसमें अवकाश देने की क्षमता, और शान्तता, घोरता, मूढता आदि हों वह 'शब्दतन्मात्र' है, (अपितु यहाँ 'तन्मात्र' की निष्पत्ति है) 'वही है रूप जिसका', क्योंकि यहाँ गुण और गुणी में भेद नहीं है। उस प्रकार शब्दमात्र ही का बोध होता है, अवकाशदान आदि विशिष्ट व्यवहार जिसमें नहीं होते हैं, वह सूक्ष्म आकाश है, यह अभिप्राय हुआ। इसे विष्णु-पुराण में कहा गया है—

'उसमें तो केवल वही होते हैं, इसीसे (उनकी) तन्मात्रता कही गयी है। वे न शान्त होते हैं, न घोर और न मूढ, अपितु विशेषता-रहित होते है।' **'स्पर्शात्मक'** आदि (आगे के लक्षणों) में भी इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये ॥ ३,½ ॥

सु. वा.—शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ॥४॥

शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज उच्यते।

शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ॥ ५ ॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही ॥ ½ ॥

केवल शब्दगुण वाला आकाश है, वायु शब्द और स्पर्श (दो) गुणों वाला है। शब्द, स्पर्श और रूप गुणों से युक्त होने के कारण तेज तीन गुणों वाला कहा जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणों के कारण जल चार गुणों वाला है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से युक्त पृथ्वी पाँच गुणों वाली है ॥ ४–५½ ॥

वा. भ.—तत्तद्भूतानामसाधारणगुणान् पूर्वपूर्वकारणानुस्यूत्या प्राप्तगुणान्तराणि च सङ्गृह्याह—शब्दैकगुणमिति। पूर्वपूर्वभूतभावमापन्नस्यैव ब्रह्मण उत्तरोत्तरभूतोपादानत्वात्पूर्वपूर्वगुणानुस्यूतिरुत्तरोत्तरस्मिन्न्याय्येति भावः। शब्दस्पर्शरूपेति स्पष्टम् ॥ ४-५½ ॥

उन उन भूतों के विशेष गुणों तथा पूर्व-पूर्व कारणों से सुसम्बद्धता के कारण प्राप्त अन्य गुणों का भी संग्रह करके कहा है—**'शब्दैकगुणमिति'**। पूर्व-पूर्व भूतों के रूप को प्राप्त हुये ही ब्रह्म की बाद-बाद के भूतों की उपादानता होने के कारण पूर्व-पूर्व गुणों की सम्बद्धता बाद-बाद वालों में होना उचित ही है, यह आशय है। **'शब्दस्पर्शरूपेति'**—शब्द, स्पर्श, रूप इत्यादि स्पष्ट है ॥ ४-५½ ॥

सु. वा.—तेभ्यः समभवत्सूत्रं भूतं सर्वात्मकं महत् ॥६॥

उनसे सम्यक् रूप से उत्पन्न हुआ सूत्र, भूतात्मक, सर्वमय अथवा सर्वव्यापक महत् ॥ ६ ॥

वा. भ.—सूक्ष्मभूतानामुत्पत्तिमुक्त्वा तेषां कार्यमाह—तेभ्य इति। लिङ्गशरीरं च 'ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव' इत्यादिना वक्ष्यमाणम्। ननु इन्द्रियाण्यहङ्कारकार्याणि, प्राणास्तु करणानां सामान्यवृत्तिरिति सांख्याः पौराणिकाश्चाहुः तत्कथं भूतकार्यत्वमत आह—भूतमिति। भूतात्मकं तत्कार्यमित्यर्थः। "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इत्यादिश्रुतेः चक्षुरादीनां तेजआदिभूतैरुपचयदर्शनात् तेजआदिभूतग्राह्यत्वाच्च भौतिकत्वमित्यर्थः। सर्वात्मकमिति। हिरण्यगर्भोपाधिभूतस्य समष्टिलिङ्गशरीरस्य सर्वव्यष्टिलिङ्गशरीरव्यापित्वात्सर्वात्मकत्वमित्यर्थः। यद्वा वैशेषिकादयस्तु चक्षुरादीन्द्रियाणि भौतिकान्येव, तानि शरीरेण सह जायन्ते सहैव नश्यन्ति, न तु शरीरान्तरसञ्चारि चक्षुरादिकरणसंघातरूपं लिङ्गं नाम किञ्चिदस्ति, मन एव तु केवलं शरीरान्तरसञ्चा-

१. 'लिङ्गं' इत्यपि पाठः।

रीत्याहुः, तन्मतं निराकरोति—सर्वात्मकमिति । क्रमेण प्रतिपद्यमानदेवादिसर्वशरीरेषु प्रविश्य तेषामात्मतया वर्त्तमानमित्यर्थः । केवलस्य व्यापकस्यात्मनः स्वत उत्क्रान्त्याद्यसम्भवात् । ननु "उत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" इति श्रुतेश्च "तदापीतेः संसारव्यपदेशात्" (ब्र. सू. अ. ४ पा. २ सू. ८) इतिन्यायाच्च करणसमुदायरूपमात्मन उत्क्रान्त्याद्युपाधिभूतं लिङ्गं शरीरान्तरसञ्चार्यङ्गीकर्त्तव्यम् ।

सूक्ष्म-भूतों की उत्पत्ति कह कर उनके कार्यों का कथन किया गया है—**'तेभ्यः'** आदि से । लिङ्गशरीर 'ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव'—'ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं' इत्यादि से कहा जायेगा । 'इन्द्रियाँ अहङ्कार के कार्य हैं, और प्राण हैं करणों—इन्द्रियों की सामान्यवृत्तियाँ ऐसा सांख्यों और पौराणिकों का कहना है, फिर कैसे (उनमें) भूतों की कार्यता है ?' इसके (उत्तर में ही) कहा गया है—**'भूतमिति'**—जिसका अर्थ है कि उनका कार्य भूतस्वरूप है । 'हे भद्र ! मन निश्चित ही अन्नमय है', इत्यादि श्रुतियों से चक्षु आदि का तेज आदि भूतों से ही उपचय दृष्टिगोचर होने से और तेज आदि भूतों का ग्राहक भी होने से भौतिकत्व है, यह अभिप्राय है । **'सर्वात्मकमिति'** इसका अर्थ है कि हिरण्यगर्भ की उपाधिभूत समष्टिलिङ्ग-शरीर की, सभी व्यष्टिलिङ्गशरीरों में व्याप्ति होने के कारण, सर्वात्मकता है । अथवा वैशेषिकादि साम्प्रदायिकों ने जो कहा है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ भूतों से ही निर्मित हैं, वे शरीर के साथ उत्पन्न होती हैं, साथ ही नष्ट होती हैं, दूसरे शरीरों में संक्रमण करने वाला चक्षु आदि इन्द्रियों का समूह-रूप लिङ्ग (शरीर) नामक कोई वस्तु नहीं है, केवल मन ही दूसरे शरीरों में सञ्चरण करता है, उनके मत का निराकरण किया गया है—**सर्वात्मकमिति**—वह सर्वात्मक है—(इस शब्द के प्रयोग से ।) जिसका अभिप्राय है कि (वह लिङ्ग शरीर) क्रमशः प्राप्त होने वाले देव आदि सभी कार्यों में प्रवेश करके उनकी आत्मा के रूप में वर्तमान रहता है, क्योंकि केवल व्यापक आत्मा का अपने-आप उत्क्रमण असम्भव है । 'उत्क्रमण कर रहे के पीछे प्राण उत्क्रमण करते हैं और पीछे-पीछे उत्क्रमण

कर रहे प्राण के पीछे सभी प्राणों का उत्क्रमण होता है' इस श्रुति-वाक्य के कारण, तथा 'वह (तेज) मोक्षपर्यन्त रहता है, क्योंकि संसार का कथन है' इस युक्ति से भी इन्द्रियों के सङ्घातरूप, आत्मा की उत्क्रान्ति आदि के उपाधि-स्वरूप लिङ्ग को अन्य शरीरों में सञ्चरण करने वाला स्वीकार किया जाना चाहिये ।

अत्रेदमवधेयम्—मायायास्त्रिगुणात्मकत्वात्तत्कार्याणि भूतान्यपि तादृशान्येव । तत्र भूतानां सात्विकांशेभ्यः प्रत्येकं श्रोत्रादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते, तेभ्यो मिलितेभ्यः मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मकमन्तःकरणं जायते, तेषामेव राजसांशेभ्यः प्रत्येकं कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि पञ्च क्रमेण जायन्ते, तेभ्यो मिलितेभ्यः प्राणापानादिपञ्चवृत्तिकः प्राणो जायते, तत्र चित्ताहङ्कारयोर्मनोबुद्ध्योरन्तर्भावेण अन्तःकरणस्य द्वैविध्ये सति ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिवृत्तिभेदेन पञ्च प्राणाः मनोबुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं तेभ्यः समभवदिति । एवमेव समष्टिलिङ्गं हिरण्यगर्भोपाधिभूतं गोव्यक्तिषु गोत्वमिव व्यष्टिलिङ्गेष्वनुस्यूतं जायते ।

(ऐसी शङ्का होने पर) यहाँ यह समाधान करना चाहिये—माया के त्रिगुणात्मक होने से उसके कार्य भूत भी उसकी भाँति ही हैं । उनमें भूतों के सात्त्विक अंशों से पृथक्-पृथक् श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, सम्मिलित रूप वाले उनसे मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त स्वरूप अन्तःकरण उत्पन्न होता है, उनके ही राजस अंशों से पृथक्-पृथक् वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं, सम्मिलित उनसे प्राण, अपान आदि पाँच वृत्तियों वाला प्राण उत्पन्न होता है । उनमें से चित्त और अहङ्कार का मन और बुद्धि में अन्तर्भाव हो जाने से अन्तःकरण दो प्रकार का हो जाने पर, ज्ञानेन्द्रियों का पाँचका समूह, कर्मेन्द्रियों का पाँच का समूह, प्राण आदि वृत्तियों के भेद से पाँच प्राण, मन और बुद्धि इस प्रकार सत्रह का समूह लिङ्ग शरीर उनसे उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार हिरण्यगर्भ का उपाधिस्वरूप समष्टिलिङ्ग (भी) गोपिण्डों में गोत्व-जाति की भाँति व्यष्टिलिङ्गों में अनुप्रविष्ट उत्पन्न होता है ।

इयांस्तु विशेषः—कृत्स्नब्रह्माण्डे कारणतया अनुस्यूतेभ्यः सात्वि-

केभ्यः सूक्ष्मभूतेभ्यः एकैकतः समष्टिज्ञानेन्द्रियाणि, समुदितेभ्यस्तेभ्य एव समष्टयन्तःकरणम्। एवं राजसेभ्यः कर्मेन्द्रियाणि प्राणाश्च जायन्ते, समष्टिलिङ्गारम्भकतया तदनुस्यूतेभ्यः सात्त्विकादिभूतांशेभ्यो व्यष्टिकरणानीति। अत एव सगुणब्रह्मोपासकस्य समष्टयपरिच्छिन्नसगुणब्रह्मभावेन परिच्छेदाभिमाने निवृत्ते व्यष्टिलिङ्गं समष्टिलिङ्गतां प्रतिपद्यते। ततश्च हिरण्यगर्भोपाधिलिङ्गाभिमानेन हिरण्यगर्भताप्राप्तिरिति तत्र तत्र भाष्यकारादिभिरुच्यमानं संगच्छते, अंशकार्यस्यांशिकार्यान्तर्भावादिति ॥ ६ ॥

इतनी (बात) विशेष है—सारे ब्रह्माण्ड में कारण के रूप में अनुप्रविष्ट सात्त्विक सूक्ष्म-भूतों से एक-एक करके समष्टि ज्ञानेन्द्रियाँ, सम्मिलित उनसे ही समष्टि-अन्तःकरण (भी उत्पन्न होते हैं।) इसी प्रकार राजसों से कर्मेन्द्रियाँ तथा प्राण उत्पन्न होते हैं, समष्टिलिङ्ग का घटक होने के कारण उनमें समाहित सात्त्विक-आदि भूतों के अंशों से व्यष्टि-इन्द्रियाँ (उत्पन्न होती हैं।) अत एव सगुणब्रह्म के उपासक का, समष्टि की सीमा से अबद्ध सगुण ब्रह्म होने से ससीमता का अभिमान निवृत्त हो जाने पर व्यष्टि-लिङ्ग समष्टिलिङ्गता को प्राप्त करता है। उसके बाद हिरण्यगर्भ की उपाधि लिङ्ग के अभिमान के द्वारा हिरण्यगर्भता की प्राप्ति होती है, इस प्रकार से स्थान-स्थान पर भाष्यकार आदि के द्वारा कहा जा रहा (तथ्य) सङ्गत है, क्योंकि अंश-रूप कार्य का अंशीरूपी कार्य में अन्तर्भाव हो सकता है ॥ ६ ॥

सु. वा.—ततः स्थूलानि भूतानि पञ्च तेभ्यो विराडभूत्।
पञ्चीकृतानि भूतानि स्थूलानीत्युच्यते बुधैः ॥७॥

उससे पाँचो स्थूलभूत हुये और उनसे हुआ 'विराट्'। विद्वज्जन पञ्चीकृत भूतों को 'स्थूल' कहते हैं ॥ ७ ॥

वा. भ.—एवं लिङ्गशरीरवत्तेभ्य एव भूतेभ्यः पञ्चीकरणेन स्थूलतामापन्नेभ्यो भूतेभ्यः समष्टिस्थूलशरीरं जातमित्याह—तत इति। तेभ्य एव सूक्ष्मेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलत्वविशिष्टवैशेष्येण जातानि स्थूलानि भूतानि, तेभ्यो विराट् स्थूलं शरीरं

समष्टयात्मकं द्विप्रकारकमप्यभूदित्यर्थः। अत्रापि भूतेभ्योंऽशिभ्योऽण्डं, तदंशेभ्यः पिण्डमिति उपासकस्य वैश्वानरात्मत्वप्राप्तिः पूर्वोक्तरीत्या द्रष्टव्या। सूक्ष्मभूतेभ्यो भिन्नानि स्थूलानि जातानीति भ्रमं वारयति—पञ्चीकृतानीति। तान्येव पञ्चीकृतानि सन्ति स्थूलानीत्यर्थः ॥ ७ ॥

इस प्रकार लिङ्ग शरीर की भाँति उन्हीं भूतों से पञ्चीकरण के द्वारा स्थूलता को प्राप्त हुये भूतों से समष्टि और व्यष्टि का स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। इसी को—'**तत इति**'-(श्लोक से) कहा गया है। उन्हीं सूक्ष्म भूतों से स्थूलत्व से युक्त विशेषता के कारण स्थूल-भूत उत्पन्न हुये, उनसे विराट् स्थूल शरीर समष्टयात्मक दो प्रकार का भी उत्पन्न हुआ। यहाँ भी अंशी-भूतों से अण्ड, उनके अंशों से पिण्ड इस प्रकार उपासक का वैश्वनर स्वरूप प्राप्त करना पहले कही गयी विधि से समझना चाहिये। 'सूक्ष्म-भूतों से विविध स्थूल (भूत) पैदा हुये' इस (विषय में होने वाले) भ्रम का निवारण करते हैं—'**पञ्चीकृतानि**'-इस (वाक्यांश से) जिसका अर्थ है कि वही (सूक्ष्मभूत) पञ्चीकृत होने पर स्थूल हो जाते हैं ॥ ७ ॥

सु. वा.—पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत्पुनः ॥ ८ ॥

पृथ्वी आदि भूतों को एक-एक करके दो-दो भागों में विभाजित करे। उनके एक-एक भाग को लेकर फिर से चार-चार भागों में विभाजित करे ॥ ८ ॥

एकैकं भागमेकस्मिन्भूते संवेशयेत् क्रमात्।
ततश्चकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि ॥९॥

एक-एक भाग को एक भूत में क्रमशः मिलाये। इससे वायु-आदि के चार भाग और आकाशभूत का (आधा) मिल कर पाँच भाग होते हैं ॥ ९ ॥

वा. भ.—पञ्चीकरणप्रकारमाह—पृथिव्यादीनीति। एकैकं भूतं द्वेधा विभज्य तयोरेकं चतुर्धा विभज्य चतुरो भागान् तद्व्यतिरिक्तभूतचतुष्टये योजयेत्। ततश्च स्वांशार्द्धं इतरभूताना-

मंशाश्चत्वारोऽपि मिलित्वाऽर्धमिति एकैकं भूतं पञ्चात्मकं सम्पद्यते इत्यर्थः। एकैकमिति स्पष्टम् ॥ ८-९ ॥

पञ्चीकरण की विधि कही गई है—'**पृथिव्यादीनि**'-इत्यादि (श्लोक से।) प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त करके, उन दो भागों में से एक को चार भागों में विभक्त करके चारों भागों को उनसे भिन्न चारों भूतों के (आधे-आधे) भागों से मिलाना चाहिये। इससे अपना आधा अंश तथा दूसरे भूतों के चारो ही हिस्से मिल कर बना हुआ आधा (सम्मिलित रूप से पूर्ण एक स्थूल भूत निष्पन्न होता है।) इस प्रकार एक-एक भूत पञ्चमय बन जाता है, यह (पञ्चीकरण का) अर्थ है। '**एकैकम्**' (से प्रारम्भ श्लोक) स्पष्ट है, (उसके व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है।) ॥ ८-९ ॥

सु. वा.—वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत्।
पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः ॥ १० ॥

इसी भाँति वायु-आदि में (भी) कहना चाहिये। यही पञ्चीकरण होगा ऐसा तत्त्वज्ञानियों का कहना है ॥ १० ॥

वा. भ.—वाय्वादीति। वाय्वादिभागाश्चत्वार आकाशभागार्धं च मिलित्वा आकाशभूतस्य भागाः पञ्चेति पूर्वेणान्वयेन योज्यम्। वाय्वादिष्विति। वायुभागार्धं भूतान्तराणां चतुर्णां भागाश्चत्वारः, ततश्च वायोर्भागाः पञ्च भवन्तीत्येवं क्रमेण सर्वत्र आदिशेदित्यर्थः।

'**वाय्वादि**' (शब्दों से) प्रारम्भ (वार्तिक की व्याख्या की जा रही है।) वायु आदि के चार भाग और आकाश का आधा भाग मिलकर आकाश-भूत के पाँच भाग (भवन्ति हि ॥ ९म वार्तिक ॥) 'हो जाते हैं' इस पूर्व अन्वय के साथ जोड़ना चाहिये। '**वाय्वादिषु**'-वायु आदि में–इत्यादि (शब्दों) का अर्थ है—वायु का आधा भाग और दूसरे चारों भूतों के चारों भाग (जो हैं) उनसे वायु के भाग पाँच हो जाते हैं। इसी प्रकार क्रमशः सर्वत्र (तेज, जल आदि में भी) नियमित करना चाहिये।

अत्र केचिद्वाचस्पतिमिश्रमतानुसारिणः–पञ्चीकरणं यद्यपि

सम्प्रदायसिद्धं तथापि युक्तिविधुरत्वात् त्रिवृत्करणमेव आदरणीयम्। पञ्चीकरणपक्षे पृथिव्यादिभागानामाकाशवाय्वोः प्रवेशे रूपवत्त्वान्महत्त्वाच्च तयोश्चाक्षुषत्वं स्यात्। यद्यपि आकाशादिभागानामाधिक्यादितरभागानां च स्वल्पत्वादधिकेन स्वल्पत्वाभिभूतत्वात्, "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" (ब्र. सू. अ. २ पा' ४ सू. २२) इति न्यायेन चाक्षुषत्वाभावः तर्हि आकाशादौ पृथिव्यादिभागकल्पना व्यर्था, तेषां व्यवहारागोचरत्वात्। अथापि श्रुतिसिद्धत्वादेव कल्प्यत इति यद्युच्येत तथापि त्रिवृत्करणमेव श्रुतिसिद्धम्। "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति श्रुतेर्न पञ्चीकरणं तत्र श्रुतेरभावादित्याहुस्तत्राह इत्याहुस्तत्त्ववेदिन इति श्रुतिस्मृतिन्यायतत्त्ववेदिन इत्यर्थः। श्रुतिस्तावदाथर्वणे–"पृथ्वी च पृथिवीमात्रा च" इत्यादिना स्थूलसूक्ष्मभूतकथनप्रस्तावे "वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च" इति तयोरपि स्थूलसूक्ष्मभेदं दर्शयति। स्थूलत्वं च पञ्चीकृतत्वमेव, अन्यस्यासम्भवात्, 'पञ्चीकृतानि भूतानि स्थूलानीत्युच्यते बुधैः' इत्युक्तत्वाच्च। स्मृतिरपि स्कान्दे ब्रह्मगीतासु 'पञ्चीकृत्य शिवाज्ञया' इत्यादिना।

इस विषय में (भामतीकार) वाचस्पतिमिश्र के मत का अनुसरण करने वाले कुछ (विद्वान् कहते हैं कि)—पञ्चीकरण यद्यपि (वेदान्त) सम्प्रदाय में मान्य है तथापि (इसके) युक्तिहीन होने से 'त्रिवृत्करण' को ही सम्मान मिलना चाहिये। पञ्चीकरण को मान्यता देने पर (तो) पृथिवी आदि के भागों का आकाश और वायु में समावेश करने पर (उनके) रूप से युक्त तथा महत्परिमाण से युक्त हो जाने के कारण उन दोनों (आकाश और वायु में भी) चाक्षुषत्व-चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्यता-होने लगेगी, (यह दोष होगा, क्योंकि आकाश और वायु में रूप का अभाव होता है, और रूप से रहित पदार्थों का चक्षु-इन्द्रिय से ग्रहण होना असंगत है।) यद्यपि आकाशादि भागों के अधिक होने से और उनसे भिन्न

भागों के बहुत कम होने से अधिक के द्वारा स्वल्पता के अभिभूत हो जाने के कारण **'वैशेष्यात्तु०'** (ब्र. सू. २।४।२२)—आधिक्य के कारण उन-उन नामों का व्यवहार (कथन) होता है—इस न्याय से (आकाश तथा वायु में) चक्षुग्राह्यता नहीं रहेगी, (ऐसा कहा जा सकता है,) तो फिर आकाश-आदि में पृथिवी-आदि के भागों की कल्पना निरर्थक हो जायेगी, क्योंकि उनका व्यवहार में प्रयोग नहीं हो सकेगा। फिर भी यदि कहा जाये कि श्रुतियों में प्रतिपादित होने के कारण ही ऐसी कल्पना की जा रही है, तब भी (तो) त्रिवृत्करण ही श्रुतियों में सिद्ध किया गया है। क्योंकि—'तासां०—' उनमें एक-एक को त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ—इस श्रुति से पञ्चीकरण नहीं होगा, क्योंकि उसके विषय में श्रुतिवाक्य का अभाव है।' इसके (उत्तर) में (वार्तिक में) कहा गया है—**'इत्याहुस्तत्त्ववेदिनः'** आदि पदों से। (अर्थात् जिन लोगों ने उक्त पञ्चीकरण-मत का प्रतिपादन किया है, वे सामान्य एवं अल्पज्ञ नहीं थे) श्रुति, स्मृति और न्याय के मर्म अथवा श्रुति, स्मृति, न्याय तथा तत्त्वविद्या के ज्ञाता थे, यह ('तत्त्ववेदिनः' का) अर्थ है। (वे असङ्गत बातें नहीं कहेंगे।) इस प्रसङ्ग में श्रुति है आथर्वणोपनिषद् में जहाँ 'पृथिवी और पृथिवी-मात्रा' इत्यादि के द्वारा स्थूल और सूक्ष्म भूतों के कथन के प्रारम्भ में 'वायु और वायुमात्रा तथा आकाश और आकाशमात्रा' कह कर, उन दोनों (वायु तथा आकाश) के भी स्थूल और सूक्ष्म भेद दिखलाये गये हैं। स्थूलता तो पञ्चीकृतता ही है, क्यों दूसरा सम्भव नहीं है, और यह कहा भी गया है कि— 'पञ्चीकृत भूतों को विद्वज्जन 'स्थूल' कहते हैं।' स्मृति भी स्कन्द-पुराणान्तर्गत ब्रह्मगीता में 'शिव की आज्ञा से पञ्चीकरण करके' आदि (वाक्यों द्वारा पञ्चीकरण का प्रतिपादन करती है।)

न्यायश्च—श्रुतौ त्रिवृत्करणोक्तिबलादत्रिवृत्कृतानां स्थूलव्यवहारानर्हत्वं गम्यते, अन्यथा तदुक्तेर्वैयर्थ्यादत्रिवृत्कृतभूतकार्याणामिन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वेन स्पष्टव्यवहारादर्शनाच्च त्रिवृत्करणमर्थवदिति वक्तव्यम्। एवं पञ्चीकरणाभावे आकाशवायुभ्यामपि स्पष्टावकाशदानादिस्थूलव्यवहारो न स्यादिति न्यायादेव पञ्चीकरणमङ्गीकार्यम्। त्रिवृत्करणश्रुतिस्तु छान्दोग्ये भूतत्रयसृष्टिश्रुतिर्यथा पञ्चभूतोपलक्षणार्था वियदधिकरण-(ब्र. सू. अ. २ पा. ३ सू. १) न्यायेन, तथा त्रिवृत्करणश्रुतिरिपि पञ्चीकरणोपलक्षणार्था। चाक्षुषत्वापत्तिस्तु "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" इतिन्यायेनार्द्धभूयस्त्वादेव परिहृतेति भावः॥ १०॥

न्याय भी (उसका प्रतिपादन करता है), यथा—श्रुति में त्रिवृत्करण का कथन होने से त्रिवृत् न किये गये (भूतों) की स्थूल-व्यवहार में अयोग्यता प्रतीत होती है, अन्यथा उस उक्ति के निरर्थक हो जाने के (भय से) त्रिवृत् किये गये भूतों के कार्य-स्वरूप इन्द्रियों के इन्द्रियगोचर न होने के कारण स्पष्ट व्यवहार न दिखलाई पड़ने पर भी 'त्रिवृत्करण सार्थक है' ऐसा कहना पड़ेगा। इसी प्रकार पञ्चीकरण न होने पर आकाश और वायु के लिये भी स्पष्ट अवकाशदान आदि स्थूल व्यवहार नहीं होता, इस न्याय से भी पञ्चीकरण स्वीकार करना चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद् में आयी त्रिवृत्करण की श्रुति तो तीन भूतों की उत्पत्ति के विषय की श्रुति है, (वह) जैसे (ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य २।३।१) के वियदधिकरण की युक्ति से पञ्चभूतों (की सृष्टि) को उपलक्षित करने के लिये है, वैसे ही त्रिवृत्करण सम्बन्धी श्रुतिवाक्य भी पञ्चीकरण को उपलक्षित करने के लिये है। (आकाश तथा वायु के) चाक्षुष हो जाने की आपत्ति तो 'आधिक्य के कारण उन उन नामों में व्यवहार होता है'—'वैशेष्यात्तु०'—इत्यादि युक्ति से आधे भाग की अधिकता होने के कारण ही निरस्त हो जाती है। यह तात्पर्य है॥ १०॥

आ. गि. वि.—यदबोधादिदं भाति यद्बोधाद्विनिवर्तते।
नमस्तस्मै परानन्दवपुषे परमात्मने॥ १॥

जिसको न जानने से यह (प्रपञ्च) भासित होता है और जिसको जान लेने से निवृत्त हो जाता है, उस परमानन्दस्वरूप परमात्मा को नमस्कार॥ १॥

अतीतानेकजन्मकृतसुकृतप्रसादासादितशुद्धिबुद्धिमतां विवे-

---

१. टीकानुरोधेनात्र शुद्धिबुद्धिशब्दयोः पौर्वापर्यं विपर्यासितम्। दृश्यते तु आदर्शपुस्तकयोः 'शुद्धबुद्धिः' इत्येव पाठः।

कवैराग्यशमदमादिसाधनसम्पन्नानां परित्यक्तसर्वकर्मणां मोक्षमात्रमाकाङ्क्षतां तदुपायभूतं तत्त्वज्ञानमापाततः श्रुतिमुखादधिगतमपि सम्यगवाप्तुमिच्छतामतिलघुनोपायेन कथमिदमुत्पद्यतामिति मन्वानः सन्नाचार्यः ॐकारं सर्ववेदसारभूतं तथाविधसम्यग्बोधसमुदयनिदानं प्रतिलभ्य तदीयस्वरूपनिरूपणद्वारा तत्त्वं निवेदयितुकामस्तदवयवभूतमकारमवतारयन्नध्यारोपापवादन्यायमनुसरन् प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं प्रथमं स्थूलप्रपञ्चमुपन्यस्यति—ॐ **पञ्चीकृतेति।**

बीते अनेक जन्मो में किये गये सत्कर्मों के फलस्वरूप निर्मलता को प्राप्त बुद्धि वाले, विवेक, वैराग्य, शम-दम-आदि साधनों से सम्पन्न, (नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य) सभी कर्मों का (विधिवत्) परित्याग करने वाले तथा केवल मोक्ष की इच्छा कर रहे, उसके उपायभूत तत्त्वज्ञान के आसानी से श्रुतियों से प्राप्त होने पर भी ठीक तरह से प्राप्त करने की इच्छा वालों को अतीव लघु उपाय से यह कैसे उत्पन्न हो (= मिले) यह सोचते हुये आचार्य (आद्य श्रीशङ्कराचार्य जी) सभी वेदों के सारभूत ओङ्कार को ही उस प्रकार के सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति का कारण समझकर उसके स्वरूप के निरूपण के माध्यम से तत्त्व को बतलाने की इच्छा से उसके अवयव-स्वरूप 'अकार' की अवतारणा करते हुये 'अध्यारोप-अपवाद-न्याय' का अनुसरण करके समझने की सरलता के लिये पहले स्थूल-प्रपञ्च को ही उपस्थित कर रहे हैं—ॐ **पञ्चीकृत** इत्यादि शब्दों से।

अस्यायमर्थः—आकाशवायुतेजोऽम्ब्वन्नानि भूतानि तावदविद्यासहायात्परस्मादात्मनः सकाशादनुक्रमेण जातानि। तानि चातिसूक्ष्माणि व्यवहाराक्षमाणीति तदीयस्थौल्यापेक्षायां कल्पितव्यवहर्तृप्राणिनिकायव्यवहारनिर्वाहकतदीयधर्माधर्मात्मककर्मापेक्षया तान्येव पञ्चीकृतानि स्थूलानि भवन्ति। तानि हि प्रत्येकं द्वैविध्यमापद्यन्ते। तत्र चैकैकं भागं

प्रविहायापरेषु भागेष्वेकैकशश्चातुर्विध्ये सिद्धे सति तत्तदात्मीयमर्द्धभागं परित्यज्येतरेषु भागेष्वेकैकस्य भागस्यानुप्रवेशे कृते सति प्रत्येकं भूतानि पञ्चतामापन्नानि पञ्चीकृतानीत्युच्यन्ते। तेषु च "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" (ब्र. सू. २, ४, २२) इति न्यायेन व्यवहारासंकरश्च सिद्धयति। न च पञ्चीकरणाङ्गीकारात्।

इसका यह अर्थ है—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये भूत तो अविद्या से युक्त परमात्मा की सन्निधि से क्रमशः उत्पन्न हुये। वे अतिसूक्ष्म होने से व्यवहार के अयोग्य हैं, इसलिये उनकी स्थूलता की अपेक्षा होने पर कल्पित किये गये व्यवहार-कारक प्राणि-समूहों के व्यवहार का निर्वाह कराने वाले उनके शुभ एवं अशुभ स्वरूप कर्मों की अपेक्षा से वही पञ्चीकृत होने पर स्थूल बन जाते हैं। उनमें प्रत्येक दो-दो भागों में किये जाते हैं। उनमें से एक-एक भाग को छोड़कर दूसरे भागों में एक-एक करके चार-चार भाग कर देने पर उन-उन के अपने आधे भागों को छोड़ कर दूसरे भागों में एक-एक भाग का अनुयोजन करने पर प्रत्येक भूत पञ्चता—सम्मिलित पाँच के भाव—को प्राप्त होकर 'पञ्चीकृत' कहे जाते हैं। उनमें 'आधिक्य के कारण उनका नामकरण होता है' (ब्र० सू० २।४।२२) इस न्याय से व्यवहार का मेल सिद्ध होता है। 'पञ्चीकरण' का कोई प्रमाण नहीं है' यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तीन भूतों की सृष्टि (बतलाने वाली) श्रुति में पाँचो भूतों की सृष्टि को स्वीकार करने की भाँति 'त्रिवृत्करण' (का निरूपण करने वाली) श्रुति में भी 'पञ्चीकरण' को अङ्गीकार करना चाहिये।

ननु भूतत्रयसृष्टिश्रुतौ ब्रह्मणः सच्छब्दितस्याद्वितीयत्वसिद्धयर्थं सृष्टिपरिपूर्तये च भूतद्वयमश्रुतमपि श्रुत्यन्तरमाश्रित्य गुणोपसंहार—[ब्र. सू. ३—३—१] न्यायेनोपसंहर्तव्यम्। त्रिवृत्करणश्रुतौ तु पञ्चीकरणोपलक्षणे न कारणमस्तीति चेत्, न, छान्दोग्ये भूतपञ्चकसृष्टिविवक्षायां पुनस्त्रिवृत्करणव्यपदेशस्य परिसंख्यार्थत्वे प्रकरणविरोधप्रसङ्गात्।

तीनभूतों की उत्पत्ति वाली श्रुति में 'सत्'-शब्द से कहे गये ब्रह्म की अद्वितीयता सिद्ध करना तथा सृष्टि की परिपूर्णता के लिये शब्दशः न कहे जाने पर भी (शेष) दो भूतों को दूसरी श्रुति के सहारे 'गुणोपसंहार-न्याय' (ब्र० सू० ३।३।१) से ग्रहण कर लेना उचित है, किन्तु 'त्रिवृत्करण'-की श्रुति में पञ्चीकरण के उपलक्षण में कोई कारण नहीं है' यदि (ऐसा कहें, तो उत्तर है), नहीं, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में पाँचों भूतों की उत्पत्ति को कहने की इच्छा होने पर फिर से 'त्रिवृत्करण' के कथन के परिवर्जन के अर्थ में-परिसंख्यार्थ-होनें पर प्रकरण का विरोध उपस्थित होने लगेगा।

किंच नभोनभस्वतोरपि पृथिव्यादिषु स्थूलौ भागौ शब्दस्पर्शौ श्रोत्रेण त्वचा चोपलभ्येते। 'पञ्च चेन्द्रियगोचरा' (गी. १३।५) इत्यत्र स्थूलानि भूतानीन्द्रियगोचरशब्देन व्याख्यातानि भगवता भाष्यकृता। न च शब्दस्पर्शयोः स्थौल्यं भूतान्तरानुप्रवेशादृते सिद्ध्यति। तानि चैतानि पञ्चीकृतानि पञ्चसंख्याकानि भूतानि स्वकार्यव्यापित्वान्महान्ति च व्यपदिश्यन्ते। तेषां च कार्यमन्तःकरणप्राणसमष्टीनामिन्द्रियसमष्टीनां च गोलकादिभेदभिन्नमाधिदैविकं ब्रह्माण्डमाध्यात्मिकमाधिभौतिकं च तत्तदुच्चावचपरिच्छिन्नं शरीरभेदजातम्। तदिदं सर्वभूतभौतिकरूपं सकलमपि स्थूलं जगदध्यात्मविद्भिरेकीकृत्य विराडित्युच्यते। न पुनराध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकविभागोऽस्ति सर्वस्यास्य भेदजातस्य भूतपञ्चककार्यस्य भूतव्यतिरेकेणाभावात् मृद्विकारस्येव तद्व्यतिरेकेणाभावादिति।

इसके अतिरिक्त पृथिवी-आदि में आकाश और वायु के भी स्थूल-भाग शब्द और स्पर्श श्रोत्र तथा त्वक् इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं। 'पाँच इन्द्रिय-गोचर हैं' (गी. १३।५) यहाँ स्थूल-भूत ही 'इन्द्रियगोचर'-शब्द से भगवान् भाष्यकार (शङ्कराचार्य) द्वारा विशेषरूप से कहे गये हैं। शब्द और स्पर्श की स्थूलता दूसरे भूतों में प्रवेश के विना सिद्ध नहीं होती है। वही ये पञ्चीकृत पाँच

संख्या वाले भूत अपने कार्यों में व्यापक होने से महत्परिमाणवाले कहे जाते हैं। अन्तःकरण और प्राणों की समष्टिवाले तथा इन्द्रियों की समष्टिवाले उनके गोलकों (= इन्द्रियों के विशिष्ट स्थानों) आदि के भेद से विभिन्न कार्य आधिदैविक हैं, ब्रह्माण्ड आध्यात्मिक और उसकी ऊँचाई तथा नीचाई से विशिष्ट विभिन्न शरीरों के समूह आधिभौतिक हैं। वह यह समस्त भूत और भौतिक रूप वाला सारा ही स्थूल जगत् अध्यात्म-वेत्ताओं के द्वारा एक-करके 'विराट्' कहा जाता है। जिस प्रकार मिट्टी के विकार (घड़ा, खिलौना आदि) उस (मिट्टी) से भिन्न-रूप में कुछ भी नहीं हैं, उसी प्रकार पञ्चभूतों के कार्य-स्वरूप इस समस्त भेद-समूह का भी भूतों के अतिरिक्त भाव न होने से आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक नाम का कोई भिन्न विभाग नहीं है।

रा. त.—यन्नामरूपजगदुद्भवसम्प्रतिष्ठासंरोधकारणमनिर्वचनीयशक्ति।
सच्चित्सुखाद्वयवपुर्जगतो हिताय रामाभिधामुपगतं भुवि तन्नमामि ॥१॥

नाम-रूपात्कक जगत् के जन्म, स्थिति तथा नाश का कारण, अनिर्वचनीय शक्ति वाला, सत्, चित् और आनन्द से अभिन्न स्वरूप जो (ब्रह्म), संसार के कल्याण के लिये पृथिवी में राम-नाम को प्राप्त हुआ, उसे मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यत्पांसुधूसरितमस्तकमस्तपापमज्ञानलक्षणमहाग्रहयक्षभूताः।
मुक्त्वाऽऽशु मां ययुरजस्रमतीव रम्यं श्रीकृष्णतीर्थगुरुपादयुगं नमामि॥२॥

जिनकी धूलि से धूसरितमस्तक वाले निष्पाप मुझको मुक्त करके अज्ञान-स्वरूप घोर ग्रह, यक्ष और भूत शीघ्र ही चले गये, श्रीकृष्णतीर्थ नामक (अपने) गुरु के उन्हीं दोनों अत्यन्त रमणीय चरणों को सदा प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

जगन्नाथाश्रमाद्या ये गुरवो मे कृपालवः।
तानहं विधिवन्नत्वा करवै तत्त्वचन्द्रिकाम् ॥ ३ ॥

जगन्नाथाश्रम आदि जो मेरे (अन्य) कृपालु गुरु हैं, उनको (भी) विधिवत् प्रणाम करके 'तत्त्वचन्द्रिका'—टीका की रचना कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादविरचितं पञ्चीकरणाख्यं प्रकरणमतिसंक्षिप्तमनेकार्थसंग्रहगम्भीरमतिविमलमर्थतः प्रकटीचिकीर्षुरानन्दगिर्या-

चार्यः स्वचिकीर्षितस्याविघ्नपरिसमाप्तये विशिष्टशिष्टाचारपरिप्राप्तमिष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमाचरन् शास्त्रस्य विषयप्रयोजने दर्शयति—**यद्बोधा**दिति।

श्रीमान्, पूज्यपाद, भगवान् शङ्कराचार्य के द्वारा विरचित अतिसंक्षिप्त, अनेक विषयों का संग्रह होने से गम्भीर, अत्यन्त विशुद्ध 'पञ्चीकरण' नामक प्रकरण-ग्रन्थ को अर्थतः प्रकट करने के इच्छुक आचार्य आनन्दगिरि अपने रचने के लिये अभीष्ट (विवरण) की निर्विघ्न समाप्ति के लिये विशिष्ट-शिष्टाचार से प्राप्त अपने इष्टदेव का नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण करते हुये शास्त्र के विषय और प्रयोजन को **'यद्बोधात्'** आदि पदों से प्रदर्शित कर रहे हैं।

अयमक्षरार्थः—परमात्मने नम इत्यन्वयः। तस्याप्रसिद्धिं वारयति—**तस्मा** इति, सर्वनाम्नः प्रसिद्धार्थवाचित्वात्। प्रसिद्धिश्च "एष सर्वेश्वरः" इत्यादिश्रुतिभ्यः। तच्छब्दनिर्दिष्टस्य परमात्मनः स्वरूपं तटस्थलक्षणस्वरूपलक्षणाभ्यामुपलक्षयति—**यद्बोधादिदं भातीति**। यस्मिन् अबोधः यद्बोधः तत्त्वावरणलक्षणः, तस्मात्कल्पितमिदं भूतभौतिकमाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगद्भाति केवलं न यथा प्रतिभासस्वरूपमस्ति। रज्ज्वज्ञानात् सर्पमालादण्डधारादिप्रतीतिवदित्यर्थः। ज्ञाननिवर्त्यत्वेन जगतोऽनिर्वचनीयतां दर्शयति—**यद्बोधाद्विनिवर्तत** इति। एतेन बाध्यत्वमनिर्वचनीयत्वमित्युक्तं भवति। यद्विषयो बोधो यद्बोधः, तस्मात् ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तिरूपादिदं जगत्सोपादानं विनिवर्तते विशेषेण निवर्तते, अत्यन्तं समुच्छिद्यत इत्यर्थः।

(मङ्गल-श्लोक के) अक्षरों का अर्थ यह है—**'परमात्मने नमः'** परमात्मा को नमस्कार है—इस प्रकार अन्वय हुआ। उस (परमात्मा) की अप्रसिद्धि का निवारण **'तस्मै'** इस पद से कर रहे हैं, क्योंकि सर्वनाम प्रसिद्ध अर्थ का वाचक होता है। प्रसिद्धि भी "यह सबका ईश्वर है" इत्यादि श्रुतियों से है। 'तत्'-शब्द से निर्दिष्ट परमात्मा का स्वरूप तटस्थ-लक्षण और स्वरूप-लक्षण दोनों से लक्षित करा रहे हैं—**'यद्बोधादिदं भातीति'**। 'जिसमें अबोध है' (वह) **'यद्बोधः'** है, (यह विग्रह है), जो कि तत्त्व पर आवरण का ज्ञापक है। उसी से कल्पित यह भूत तथा भूतों का कार्यस्वरूप, ब्रह्मा से लेकर तिनके तक जगत्

केवल भासित होता है, न कि जैसा प्रतिभासित होता है वही उसका वास्तविक रूप भी है। रज्जु के अज्ञान से सर्प, माला, दण्ड, धारा आदि की प्रतीति की भाँति, यह तात्पर्य है। ज्ञान से निवारणीय होने के कारण जगत् की अनिर्वचनीयता को दिखलाते हैं—**'यद्बोधाद् विनिवर्तते'**-इत्यादि से। इससे उसकी बाध्यता अनिर्वचनीयता के रूप में उक्त हो जाती है। 'जिसके विषय में बोध' **'यद्बोधः'** है, उससे ब्रह्म के आकार की अन्तःकरण की वृत्ति के स्वरूप वाला यह जगत् उपादान सहित-'विनिवृत्त'-विशेषरूप से निवृत्त हो जाता है, पूर्णतः समुच्छिन्न हो जाता है, यह अर्थ है।

अयं भावः—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिशास्त्रात् ब्रह्मज्ञानं मोक्षसाधनमित्यवगम्यते। तच्च केवलमेव, न कर्मसमुच्चितम्। "न कर्मणा न प्रजया" इति साधनान्तरनिषेधात्। मोक्षश्च निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मनाऽवस्थानम्। तथा च प्रपञ्चस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इति शास्त्रमर्थवत्स्यात्, नान्यथा। प्रपञ्चोऽपि ज्ञाननिवर्त्यस्तदा स्यात्, यद्यज्ञानमात्ररूपः स्यात्। सत्यत्वे तस्य न ज्ञाननिवर्त्यत्वं सम्भवति, विरोधाभावादिति। तदेवं तटस्थलक्षणेन सर्वाधिष्ठानं सर्वनिषेधावधिभूतं ब्रह्म निर्दिष्टम्। तस्यैव स्वरूपलक्षणं दर्शयति—**परानन्देति**। परो निरतिशय आनन्दो वपुः स्वरूपं यस्य स तथा। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इति श्रुतेः। अत्रानन्दशब्दः सत्यादीनामप्युपलक्षणार्थः॥ १॥

(इसका) भाव यह है—'ब्रह्मवेत्ता 'परम्'-तत्त्व को प्राप्त करता है' इत्यादि शास्त्रों से ब्रह्म-ज्ञान मोक्ष का साधन है, ऐसा ज्ञात होता है। वह (ज्ञान) अकेले ही (मोक्ष-प्राप्ति का साधन) है, न कि कर्म के साथ मिला हुआ, क्योंकि 'कर्म से नहीं, पुत्रों से नहीं', इस वाक्य से दूसरे साधनों का निषेध किया गया है। मोक्ष है निष्प्रपञ्च ब्रह्म के रूप में स्थित होना। उस प्रकार से प्रपञ्च के ज्ञान द्वारा निवारणीय होने पर ही 'ज्ञान से ही कैवल्य होता है' यह शास्त्र सार्थक होगा, अन्यथा नहीं। प्रपञ्च भी ज्ञान से निवारण का विषय तब होगा, जब कि वह केवल अज्ञान के रूप का होगा। सत्य होने पर उसकी ज्ञान से निवारणीयता नहीं हो सकेगी, क्योंकि विरोध का अभाव होगा। इस प्रकार से तटस्थलक्षण के द्वारा सबका अधिष्ठान, सभी निषेधों का अवधिस्वरूप वह ब्रह्म

निरूपित किया गया। उसी का स्वरूप-लक्षण दिखलाते हैं—
'परानन्देति' आदि शब्दों से। 'परः' = सर्वोत्कृष्ट आनन्द है 'वपुः' = स्वरूप जिसका वैसा—('परानन्दवपुः') है, क्योंकि–'आनन्द ब्रह्म है' ऐसा जाना' इस प्रकार की श्रुति है। यहाँ 'आनन्द'-शब्द सत्य आदि को भी उपलक्षित कराने के लिये है ॥ १ ॥

ननु नमस्कर्त्तुर्ब्रह्मणोऽनन्यत्वात् कथं ब्रह्म नमस्कार्यमिति चेत्, नायं दोषः, कारणत्वाक्रान्तस्य नमस्कार्यत्वादिति। **परमात्मन** इत्यात्मनः परमत्वनिर्देशेन ब्रह्मात्मैक्यलक्षणो विषयो दर्शितः। **यद्बोधाद्विनिवर्तत इति** प्रयोजनमज्ञाननिवृत्तिलक्षणं दर्शितम्। सम्बन्धाधिकारिणावर्थाद्बोद्धव्यौ। तत्राधिकारिस्वरूपनिरूपणपुरःसरं ग्रन्थस्य पातनिकामाह—**अतीतानेके**त्यादिना।

नमस्कार करने वाले के ब्रह्म से इतर न होने के कारण ब्रह्म नमस्कार का विषय कैसे होगा, यदि ऐसी आशङ्का करें, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि कारणता से व्याप्त को नमस्कार किया जा सकता है। **'परमात्मने'** में आत्मा की परमता का निर्देश करके ब्रह्म और आत्मा की एकता के स्वरूप वाला विषय प्रदर्शित किया गया है। **'यद्बोधाद् विनिवर्तते'** इस अंश से अज्ञान-निवृत्ति-स्वरूप प्रयोजन दिखलाया गया है। सम्बन्ध और अधिकारी अर्थ से समझे जाने चाहिये, (यहाँ उनका शब्दतः उल्लेख नहीं किया गया है।) वहाँ अधिकारी के स्वरूप का निरूपण करते हुये ग्रन्थ की पातनिका-प्रारम्भिक पंक्तियाँ-**'अतीतानेक०'** इत्यादि कह रहे हैं।

अयमर्थः—अनाद्यविद्याकल्पितसंसारवासनावासितान्तःकरणानाम्। **'अहं कर्ता भोक्ता'** इत्यभिमन्यमानानां स्वर्गनरकसुखदुःखमनुभवतां पूर्वपूर्वभोगवासनया प्रवृत्तिमार्गरतानां जीवानां कथं निवृत्त्युन्मुखत्वं भवितुमर्हतीत्याशङ्क्याह-**अनेकजन्मेति**। यद्यपि कर्मानुष्ठानं ततः फलभोगः पुनस्तद्वासनया कर्मानुष्ठानमविरतिः कर्ममार्गात् तथापि बहुजन्मासादितयादृच्छिकपुण्यपुञ्जपरिपाकवशात्कस्मिंश्चिज्जन्मनि निवृत्त्युन्मुखताऽपि स्यात्। ततोऽनेकजन्मसु नित्यनैमित्तिककर्ममात्रमनुतिष्ठन्ति, तेनानेकजन्मसु कृतेन सुकृतेन प्रसादासादिता बुद्धेरन्तःकरणस्य वृत्तेः शुद्धिर्यैस्ते तथा, तेषाम्। पुनः कथंभूतानाम्। विवेकादिसम्पन्नानाम्। तत्र विवेको नाम नित्यानित्यवस्तुविवेकः। स च ब्रह्मैव नित्यं, ततोऽन्यत्सकलमनित्यमित्येवमाकारः, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "अजो नित्यः

शाश्वतः" "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति" "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादिवाक्यपर्यालोचनयोत्पद्यते। वैराग्यं तु "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इत्यादिश्रुतिपर्यालोचनयोत्पद्यते। ततः "शान्तो दान्तः" इत्यादिवाक्यालोचनया शमादिरुत्पद्यते। तत्र शमोऽन्तःकरणनिग्रहः, दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः। आदिशब्दादुपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाः संगृह्यन्ते।

अर्थ यह है—अनादि अविद्या के द्वारा रचित संसार की वासना से वासित अन्तःकरण वाले, 'मैं कर्ता और भोक्ता हूँ' इस प्रकार समझने वाले, स्वर्ग और नरक के सुख तथा दुःख का अनुभव कर रहे, पहले-पहले के भोगों की वासना के कारण प्रवृत्तिमार्ग में लगे हुये जीवों की निवृत्ति के प्रति उत्सुकता कैसे हो सकती है, यह आशङ्का करके—**अनेकजन्मादि**-शब्द कहे गये हैं—यद्यपि कर्मों का सम्पादन, उनसे फलों का भोग और फिर उनकी वासना से कर्मों का अनुष्ठान होने से कर्म-मार्ग से विरति नहीं हो पाती, तथापि अनेक जन्मों से प्राप्त स्वतःस्फूर्त पुण्य-राशि का परिपाक होने से किसी भी एक जन्म में निवृत्ति के प्रति उत्सुकता भी हो सकती है। इससे अनेक जन्मों में केवल नित्य, नैमित्तिक कर्म ही करते हैं, उस अनेक जन्मों में किये गये पुण्यों की कृपा से प्राप्त की गयी है बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण के वृत्ति की शुद्धि जिनके द्वारा वे वैसे (०प्रसादासादितशुद्धिबुद्धिमत्) हैं, उनको। और किस प्रकार वालों को? विवेक आदि से युक्तों को। उनमें विवेक है नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक, और वह है—ब्रह्म ही नित्य है, उससे भिन्न सब कुछ अनित्य है—इस स्वरूप का, जो कि 'सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है' 'अजन्मा, नित्य और सनातन है', 'नित्य, विज्ञान और आनन्द ब्रह्म है', 'यहां कुछ भी भिन्न नहीं है', 'जहाँ दूसरा नहीं देखता, दूसरा नहीं सुनता', 'मिट्टी यह ही सत्य है', इत्यादि वाक्यों के पर्यालोचन से उत्पन्न होता है। वैराग्य तो 'आत्मा के लिये सब प्रिय होता है', 'तो जैसे यहाँ कर्म से सञ्चित लोक क्षीण होता है, उसी प्रकार से वहाँ पुण्य से प्राप्त लोक भी क्षीण हो जाता है' इत्यादि श्रुति-वाक्यों के पर्यालोचन से उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् 'शान्त, दान्त' इत्यादि वाक्य के आलोचन से शम आदि

उत्पन्न होता है। इनमें शम अन्तःकरण को वश में करना है, और दम है बाह्य इन्द्रियों का निरोध। **'आदि'** शब्द से उपरति, तितिक्षा, समाधान, और श्रद्धा का संग्रह होता है।

साधनसम्पत्त्यभिव्यञ्जकमाह—परित्यक्तेति । परितः सर्वात्मना त्यक्तानि सकलानि लौकिकानि यादृच्छिकदेहयात्रातिरिक्तानि वैदिकान्यप्यावश्यकातिरिक्तानि यैस्ते तथा तेषामिति यावत्। कथमेतावता मोक्षशास्त्रे प्रवृत्तिः, प्रयोजनाकांक्षाभावात्। प्रयोजनमाकाङ्क्षन् हि प्रवर्तते प्रेक्षवान्, अत आह-**मोक्षमात्रमाकांक्षतामिति**। मात्रशब्दः कामनान्तरशङ्कानिवृत्त्यर्थः।

साधनसम्पत्ति के अभिव्यञ्जक—**'परित्यक्त**–इत्यादि पद कहे गये हैं। परितः अर्थात् पूर्णरूप से त्याग दिये गये हैं ऐच्छिक देह निर्वाह के कार्यों के अतिरिक्त समस्त कार्य, आवश्यक के अतिरिक्त अन्य वैदिक कार्य भी, जिनके द्वारा वे वैसे हैं, उनके (यह भाव है।) इतने से मोक्ष-शास्त्र में प्रवृत्ति कैसे होगी, क्योकि (यहाँ) प्रयोजन की आकांक्षा का अभाव है, चूँकि विचारवान् पुरुष प्रयोजन की आकांक्षा करता हुआ ही प्रवृत्त होता है, (निष्प्रयोजन नहीं,) इस लिये कहा गया है—मोक्षमात्र की आकांक्षा करने वालों को। 'मात्र'-शब्द दूसरी कामनाओं की आशङ्का के निवारण के लिये (प्रयुक्त) है।

ननु मात्रशब्देन न कामनान्तरव्यावृत्तिः, तत्त्वज्ञानमवाप्तुमिच्छतामित्यनेन विरोधादित्याशङ्क्य तस्यापि मोक्षोपायत्वेनेच्छाविषयत्वान्न-**कामनान्तरत्वमित्याह—तदुपायभूतमिति**। ननु "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति श्रुतेस्तत्त्वज्ञानस्यैव फलत्वावगमनान्न तस्य मोक्षोपायतेति चेत्, उच्यते—दुःखनिवृत्त्यानन्दावाप्ती पुरुषार्थौ, न तत्त्वज्ञानं तयोरन्यतरत्। तस्य कार्यरूपस्यानित्यत्वेन तदयोगात्। परिशेषात्तत्त्वज्ञानस्य फलसाधनत्वमेव। अमृतत्वशब्दप्रयोगस्तु जीवनसाधने लाङ्गलादौ जीवनशब्दप्रयोगवन्नानुपपन्नः। तथा चोपायापेक्षाऽप्युपेयार्थेति न मात्रपदवैयर्थ्यमिति।

" 'मात्र'-शब्द से दूसरी कामनाओं का निषेध नहीं होता है, क्योंकि 'तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वालों को' इस (शब्द समूह) से विरोध होता है", यह आशङ्का करके मोक्ष का उपाय

होने के कारण उसके भी इच्छा का विषय होने से उसकी कामना-भिन्नता नहीं है, इसी को (प्रदर्शित करने के लिये)—उसके उपायभूत—**'तदुपायभूतम्'** आदि कहा गया है। " 'अरे! निश्चित ही इतना ही अमृतत्व है' इस श्रुतिवाक्य से 'तत्त्वज्ञान के ही फलरूप में समझे जाने से, उसकी मोक्ष की साधनता नहीं है', यदि ऐसी शङ्का हो तो (उत्तर-रूप में) कहा जा रहा है—दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति दोनों पुरुषार्थ हैं, तत्त्वज्ञान उन दोनों से भिन्न नहीं है, क्योंकि उस कार्य-रूप के अनित्य होने से उसका योग नहीं किया गया। अवशिष्ट होने से तत्त्व-ज्ञान की फल में साधनता ही है। 'अमृतत्व'-शब्द का प्रयोग तो जीवन के साधन हल आदि में, जीवन-शब्द के प्रयोग की भाँति असङ्गत नहीं है। इस प्रकार 'उपाय की अपेक्षा भी उपेय के लिये होती है' इस (न्याय से) 'मात्र'-पद का प्रयोग व्यर्थ नहीं हैं।

तत्त्वज्ञानस्य मोक्षोपायत्वं कुतोऽवगतमिति तत्राह—श्रुतिमुखादिति। "तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः" "विद्ययाऽमृतमश्नुते" "तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादिश्रुति मुखादित्यर्थः। तर्हि प्राप्तमेव तत्त्वज्ञानं श्रुतिमुखात्, कुतस्तदिच्छेतितत्राह—**आपातत** इति। विचारं विना सामान्यतोऽधिगतमित्यर्थः। नन्वेतादृशानामधिकारिणां तत्त्वनिर्णयप्रधानं शारीरकमेव व्याख्येयम्, किमपूर्वपञ्चीकरणनिर्माणेनेत्यत आह—**अतिलघुनोपायेनेति**। मन्वानो विचारयमाणः। सिद्धार्थमाह—**ॐकारमिति**। **ॐकारं प्रतिलभ्येति** व्यवहितेन सम्बन्धः। अतिविततगम्भीरे भाष्ये बहुवादिविसम्वादनिरासपटीयसि अलसप्रायाधिकारिणो न व्युत्पादयितुं शक्याः। अतः सार्थक एव पञ्चीकरणारम्भ इत्यभिप्रायः। **तथाविधेति**। मोक्षोपायभूतस्य बोधस्य समुदयः सम्यगनायासेन उदय उत्पत्तिस्तस्य निदानं समीचीनं कारणमित्यर्थः। सम्यक्त्वं च ज्ञानस्य निरतिशयफलहेतुत्वात्। ननु वेदार्थविचारस्यैव तथाविधज्ञानोपायत्वाद्वेद एव व्याख्येयः, न प्रणव इत्यत आह—**सर्ववेदसारभूतमिति**। ॐकारो हि सर्ववेदसारभूतः सर्ववाग्व्यापकत्वात्सर्वात्मकत्वाच्च। तथा च श्रुतयः "तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा" इति। तथा "ॐइत्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्" "भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव" इत्याद्याः। स्मृतिरपि "वेदः प्रणव एवायम्"इत्यादिका। तथा चोङ्कारनिरूपणमेव सर्ववेदार्थनिरूपणमित्यर्थः। ननु तत्त्वज्ञानमिच्छतां तन्निर्णायकमहावाक्यनिरूपणमुचितं न प्रणवनिरूपणमत आह—**तदीय-**

स्वरूपनिरूपणद्वारा तत्त्वं निवेदयितुकाम इति। प्रणवस्वरूपेऽर्थतो निरूपिते महावाक्यमेवार्थतो निरूपितं भवेदित्यर्थः। ननु ब्रह्मात्मैक्यं विचारविषयः स च वाक्यार्थः, न पदार्थः, वाक्यं चानेकपदात्मकम्। तथा च प्रणवस्य वर्णत्रयात्मकत्वेन पदत्वान्न वाक्यता। अतो न तन्निरूपणेन वाक्यार्थो निरूप्येतेति, तन्न, प्रणवस्यापि वाक्यत्वात्। न वर्णसमूहः पदमिति पदलक्षणं, वाक्ये व्यभिचारापत्तेः। किन्तु प्रत्येकं सम्भूय वा वाक्यांशबोधको वर्णः पदमिति तल्लक्षणम्। अन्यथैकाक्षराणामर्थवाचकानां पदत्वं न स्यात्। स्मर्यते हि "अकारो वासुदेवः स्यात्" इत्यभिधानम्। अतो न वर्णसमूहः पदमिति। तथा चाकारादीनामपि पदत्वात्तत्समुदायात्मकस्य प्रणवस्य वाक्यत्वं नानुपपन्नमिति भावः।

तत्त्वज्ञान का मोक्ष का उपाय होना कहाँ से ज्ञात हुआ, इस प्रश्न पर, उसके विषय में कहा गया है–**श्रुतिमुखात्**-श्रुतियों के मुख से इत्यादि। 'जिसे धीर पुरुष विज्ञान से पूर्णतः देखते हैं', 'विद्या से अमृत का स्वाद लेता है' 'उस परावर के देखे जाने पर' इत्यादि श्रुतियों के मुख से, यह अर्थ है। तब तो तत्त्वज्ञान श्रुति-मुख से प्राप्त ही हो गया, फिर उसे क्यों चाहते हैं, इस विषय में–**आपाततः**–इत्यादि कहा गया है, जिसका अर्थ है कि विचार के विना सामान्य रूप में अवगत हुआ है। "ऐसे अधिकारियों के लिये तो तत्त्वनिर्णय को प्रधानता देने वाले शारीरक-शास्त्र—शङ्कराचार्य रचित 'शारीरकभाष्य' अथवा औपनिषदविद्या–की ही व्याख्या की जानी चाहिये, इस अपूर्व 'पञ्चीकरण' के निर्माण से क्या लाभ?" इसी के (उत्तर में) कहा गया है–**'अतिलघुनोपायेन'** अतीव छोटे उपाय से–इत्यादि। 'मन्वानः' का अर्थ है–विचार कर रहे लोग। सिद्ध विषय को कह रहे हैं–**ॐकारम्** इत्यादि से। ओङ्कार का **'प्रतिलभ्य'** 'प्राप्त करके' इस दूरवाले (पद) से सम्बन्ध है। अत्यन्त विस्तृत तथा गम्भीर, अनेक वादियों के असङ्गत तर्कों को निरस्त करने में पटु (शारीरक) भाष्य में प्रायः आलसी अधिकारियों को व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता, अतः 'पञ्चीकरण' की रचना सार्थक ही है, यह अभिप्राय है। **'तथाविध'** इत्यादि (का अर्थ इस प्रकार है।) मोक्ष के उपायभूत बोध का **'समुदय'** अर्थात् सम्यक् रूप से अनायास ही **'उदय'** उत्पत्ति, उसके **'निदान'** अर्थात 'समीचीन कारण' यह (सम्यक्बोधसमुदयनिदान) का

अर्थ है। 'सम्यक्त्व' ज्ञान के निरतिशयफल का हेतु होने से है। "वेदों के अर्थ के विचार के ही उस प्रकार के ज्ञान का उपाय होने से वेद की ही व्याख्या की जानी चाहिये, न कि प्रणव की।" इस आशङ्का पर कहा गया है–**सर्ववेदसारभूतम्'**। ओंकार ही सारे वेदों का साररूप है, क्योंकि वह सारी वाणी में व्याप्त है और सर्वात्मक भी है, वैसा ही 'तो जैसे रेशे से सारे पत्ते व्याप्त हैं उसी प्रकार ओङ्कार से सारी वाणी व्याप्त है', और "ओङ्कार' यही अक्षर है, यह सब तो उसकी समीपवर्तिनी व्याख्या है।', 'अतीत, वर्तमान और भविष्य अथवा हुआ, हो रहा और होने वाला यह सब ओङ्कार ही है।' इत्यादि श्रुतियाँ (कहती हैं।) 'यह प्रणव ही वेद है' इत्यादि स्मृति भी (वैसा ही कहती हैं।) इस प्रकार से ओङ्कार का निरूपण ही सभी वेदों के अर्थों का निरूपण है, यह अर्थ है। "तत्त्व-ज्ञान के अभिलाषियों को उसके निर्णायक महावाक्यों का निरूपण करना उचित है न कि प्रणव का निरूपण"। इसीलिये कहा है–उसके स्वरूप के निरूपण के द्वारा तत्त्व का निवेदन करने को इच्छुक–इत्यादि, जिसका अर्थ यह है कि प्रणव के स्वरूप का अर्थतः निरूपण कर देने पर महावाक्य ही अर्थतः निरूपित हो जायेंगे। "ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य विचार का विषय है, और वह वाक्य का अर्थ है, न कि पद का अर्थ, क्योंकि वाक्य अनेक पदात्मक होता है। इस प्रकार तीन वर्ण-स्वरूप होने के कारण 'पद' होने से (उसमें) वाक्यता नहीं होगी। इसलिये उसके निरूपण से वाक्यार्थ का निरूपण नहीं होगा", यह (बात) नहीं है, क्योंकि प्रणव की भी वाक्यता है। 'वर्णों का समूह पद है' यह पद का लक्षण नहीं है, क्योंकि (इस लक्षण की प्रवृत्ति) वाक्य में भी व्यभिचरित होने लगेगी। अपितु 'अलग-अलग अथवा एक साथ वाक्य के अंश का बोधक वर्ण पद है' यह उसका लक्षण है। नहीं तो, अर्थ बतलाने वाले एक अक्षरों का पदत्व नहीं होगा। 'अकार वासुदेव है' यह कथन स्मृति में कहा ही गया है। अतः वर्ण-समूह पद नहीं है। वैसा मानने से अकार आदि के भी पद होने से उनके समुदाय-स्वरूप प्रणव की वाक्यता असङ्गत नहीं है, यह अभिप्राय हुआ।

ननु पदार्थावगतिपूर्विका वाक्यार्थावगतिः, अतः पदार्थो वर्णनीय इत्यत आह–तदवयवभूतमकारमिति। तस्य प्रणवस्यावयवभूतमित्यर्थः।

वाक्यार्थो ह्यद्वितीयब्रह्मस्वरूपम् । अतस्तदवगमाय तदवयवो निरूपणीयः, किं प्रपञ्चोपन्यासेनेत्यत आह—**अध्यारोपेति** । वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः, अध्यारोपितस्याधिष्ठानमात्रपर्यवशेषणमपवादः । अपवादस्य प्रतिषेधरूपत्वात्तस्य च प्राप्तिपूर्वकत्वात् , तदर्थमध्यारोपस्य प्राथम्यम् । तथा च तदवयवनिरूपणाय प्रपञ्चोपन्यास इति भावः । त्रयाणां वर्णानां प्रणवावयवत्वे समाने किमित्यकारार्थः प्रथमतो निरूप्यते, तत्राह—**प्रतिपत्तिसौकर्यार्थमिति** । स्थूलप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेऽपि न तस्याविद्यात्मकता प्रसिद्धा । अविद्यात्मकत्वानुपपादने च तस्य न ज्ञानेनापवादः सम्भवति । अतस्तन्निरूपणायैव स्थूलप्रपञ्चोपन्यास इति भावः ।

"वाक्यार्थ का अवबोध पहले पद का अर्थ-बोध होने पर ही होता है, अतः पदार्थ का वर्णन होना चाहिये," इस (प्रश्न) पर (उत्तर) (कहा गया है)—उसका अवयव भूत अकार–**'तदवयव०'** इत्यादि । **तस्य** = उसके अर्थात् प्रणव के अङ्गस्वरूप, यह अर्थ है । "वाक्यार्थ तो अद्वितीय ब्रह्म के स्वरूप का है । अतः उसके अवबोध के लिये उसके अवयवों का निरूपण करना चाहिये, प्रपञ्च को उपस्थित करने से क्या (लाभ)," इसके उत्तर में—**'अध्यारोप'** इत्यादि कहा गया है । वस्तु पर अवस्तु का आरोप-'अध्यारोप' है, और अध्यारोपित का केवल अधिष्ठान के रूप में अवशिष्ट रह जाना 'अपवाद' है । 'अपवाद' के निषेधात्मक होने से, पहले से प्राप्ति अपेक्षित होने से, उसके लिये अध्यारोप की (निरूपण में) प्राथमिकता है । इस प्रकार उसके अवयवों के निरूपण के लिये ही 'प्रपञ्च' का उपन्यास किया गया है, यह अर्थ है । "तीनो वर्णों की प्रणव के अवयव के रूप में समानता होने पर भी क्यों अकार का ही अर्थ पहले निरूपित किया जा रहा है," इसके विषय में कहा गया है—"समझने में सरलता के लिये"—**प्रतिपत्ति०** । स्थूलप्रपञ्च के प्रत्यक्ष आदि से सिद्ध होने पर भी उसकी अविद्यात्मकता प्रसिद्ध नहीं है, अविद्यात्मकता का प्रतिपादन किये विना उसका ज्ञान से अपवाद सम्भव नहीं होगा । अतः उसके निरूपण के लिये ही स्थूल-प्रपञ्च का वर्णन किया जा रहा है, यह आशय है ।

"पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि" इति पदं व्याचष्टे—**अस्यायमर्थ** इति । स्थूलभूतानां पञ्चीकृतत्वमुपपादयितुं तत्कारणभूतानां सूक्ष्म-

भूतानामुत्पत्तिं दर्शयति—**आकाशेति** । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इति श्रुतिसिद्धेयं सृष्टिरुच्यते । अन्नशब्दः पृथिवीवाचकः । "पृथिवी वाऽन्नम्" इति श्रुतेः । कथं शुद्धस्यात्मनो जगत्कारणत्वमित्यत आह—**अविद्यासहायादिति** । अनुक्रमस्तु श्रुतिसिद्धः । तेषां स्वरूपमाह—**अतिसूक्ष्माणीति** । अतिसूक्ष्माण्यगोचराण्यत एव व्यवहाराक्षमाणि । तानि यदा पञ्चीकृतानि भवन्ति तदा स्थूलानि भवन्तीत्यन्वयः । तेषां किं पञ्चीकरणमकस्मादेव, नेत्याह—**कर्मापेक्षयेति** । तत्किं स्पन्दनात्मकमेवापेक्ष्यम् , नेत्याह—**धर्माधर्मात्मकेति** । धर्माधर्मावात्मा स्वरूपं यस्य तत्तथा । व्यवहारनिर्वाहकेति कर्मणः पञ्चीकरणोत्पादने योग्यतोक्ता । सूक्ष्माणामव्यवहार्यत्वाद्व्यवहारान्यथाऽनुपपत्त्या पञ्चीकरणं कल्प्यमिति व्यवहारपदेन प्रमाणमपि सूचितमिति भावः । व्यवहारो व्यवहर्तृसाध्यः । न च व्यवहर्ता अद्वैतमतेऽस्ति, तत्राह—**कल्पितव्यवहर्तृप्राणीति** । निकायः समूहः । अनाद्यविद्यावासनापरिकल्पिता व्यावहारिका जीवा व्यवहर्तार इति नानुपपन्नं किञ्चिदिति भावः । **तानि चेत्यादि उच्यन्त** इत्यन्तो ग्रन्थः स्पष्टः ।

'पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि' इस पद की व्याख्या करते हैं–**'अस्यायमर्थः'** इत्यादि पदों के द्वारा । स्थूलभूतों की पञ्चीकृतता की सङ्गति बतलाने के लिये उनके कारणभूत सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति बतला रहे हैं—**आकश**-इत्यादि शब्दों से । 'उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' इस श्रुति से सिद्ध यह उत्पत्ति कही जा रही है । 'अन्न'-शब्द पृथिवी का वाचक है, क्योंकि 'अथवा पृथिवी अन्न है' ऐसी श्रुति है । "शुद्ध आत्मा की जगत्कारणता कैसे होगी" इसके उत्तर में—'अविद्या के साथ होने से—**अविद्यासहायता**–इत्यादि कहा गया है । (उत्पत्ति के) क्रम का कथन तो श्रुतियों से सिद्ध है । उनका स्वरूप—**अतिसूक्ष्माणि**-आदि से कहा है । अत्यन्त सूक्ष्म (इन्द्रियादि से) ग्राह्य नहीं होते, अतः व्यवहार के योग्य नहीं होते । वे जब पञ्चीकृत हो जाते हैं, तब स्थूल होते हैं, इस प्रकार का अन्वय है । 'क्या उनका पञ्चीकरण विना किसी कारण के ही होता है", "नहीं", इसी लिये 'कर्म की अपेक्षा से'—**कर्मापेक्षया**-इत्यादि कहा है । "वह (कर्म की) अपेक्षा क्या स्पन्दन-स्वरूप है", "नहीं", इसी से **'धर्माधर्मात्मक'** कहा गया है । धर्म और अधर्म है आत्मा

अर्थात् स्वरूप जिसका वह, ऐसा। **'व्यवहारनिर्वाहक'** इससे कर्म की पञ्चीकरण को उत्पन्न करने की योग्यता कही गयी है। सूक्ष्मों के व्यवहार के योग्य न होनें से और अन्यथा व्यवहार की उपपत्ति न होने के कारण पञ्चीकरण की कल्पना आवश्यक है। इससे व्यवहार पद से प्रमाण भी सूचित किया गया, यह आशय है। "व्यवहार व्यवहर्त्ता से सिद्ध होने वाला है। अद्वैत के मत में व्यवहर्त्ता होता नहीं है।" इस विषय में कहा है—**'कल्पित-व्यवहर्तृप्राणी'** इत्यादि। निकाय समूह है। अनादि अविद्या की वासना से परिकल्पित व्यावहारिक जीव व्यवहर्त्ता हैं, इस प्रकार कुछ भी असङ्गत नहीं हुआ, यह अर्थ है। **'तानि च'** से लेकर **'उच्यन्ते'** तक की पंक्तियाँ स्पष्ट हैं।

कथं तर्हि भूतानां पञ्चात्मकत्वे समाने व्यवहारासांकर्यम्, अत आह—**तेषु चेति**। वैशेष्याद्भागस्याधिक्यात्तद्वादः 'पृथिवी जलम्' इत्यादिर्व्यवहार इत्यर्थः। बीप्सा सूत्रे अध्यायसमाप्त्यर्था। तथा च न व्यवहारसङ्कर इत्यर्थः। पञ्चीकरणप्रतिपादकश्रुत्यादिप्रमाणाभावे कथं पञ्चीकरणं सिद्धवदुपन्यस्यत इत्याशङ्क्य परिहरति—**न चेत्यादि तानि चेत्यतः** प्राक्तनेन ग्रन्थेन। भूतत्रयसर्गश्रुतौ भूतपञ्चकसर्गोपलक्षणतां सिद्धवत्कृत्य तद्दृष्टान्तेन त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणपरता-माह—**भूतत्रयेति**। भूतत्रयसृष्टिश्रुतेर्भूतपञ्चकोपलक्षणता युज्यते, न त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणता, प्रमाणाभावादित्याशङ्क्ते—**ननु भूतत्रयेति**। तुशब्दसूचितं वैषम्यमुपपादयति—**ब्रह्मण** इति। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यारभ्य "तत्सत्यं स आत्मा" इत्युपसंहारात्सच्छब्दितं ब्रह्म, तस्मात् ब्रह्मणो भूतद्वयानुत्पत्तौ नाद्वितीयता तस्य सिद्धयेत्। कार्यकारणयोरभेदेन खल्वद्वितीयतोपपद्यते एदद्युक्तम्। अद्वितीयत्वसिद्धयर्थमिति। **सृष्टिपरिपूर्तय** इति। जगदन्तःपातिनोर्वाय्वाकाशयोर्ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणो जगत्सृष्टिः परिपूर्यते, सकलजगत्कारणत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधादित्यर्थः। चकारो हेतुसमुच्चयार्थः।

"भूतों की पञ्चात्मकता समान होनें पर व्यवहार में सङ्करता कैसे नहीं होगी?" अतः कहा है—**'तेषु च'** इनमें इत्यादि। **'वैशेष्य'** अर्थात् भाग की अधिकता के कारण **'तद्वादः'** अर्थात् 'पृथिवी, जल' इत्यादि का व्यवहार होता है, यह अर्थ है। वीप्सा अर्थात् सूत्र में (तद्वादः तद्वादः' इस रूप में एक ही पद का) दो-दो बार कहा जाना अध्याय की समाप्ति का बोध कराने के लिये है। उस प्रकार से व्यवहार में सङ्करता नहीं होती है, यह तात्पर्य है। पञ्चीकरण का प्रतिपादन करने वाली श्रुति आदि प्रमाणों का अभाव होने से पञ्चीकरण का विवेचन सिद्ध की भाँति कैसे किया जा रहा है, ऐसी आशङ्का करके उसका परिहार करते हैं—**'न च'** से शुरू करके "तानि च" इससे पूर्व के वाक्य द्वारा। तीन भूतों की सृष्टि विषयक श्रुति में पाँच भूतों की सृष्टि की सूचकता को सिद्ध सा करके उसके दृष्टान्त से त्रिवृत्करण की श्रुति में पञ्चीकरण की उपलक्षणता होने के विषय में—**'भूतत्रय'** इत्यादि कहा गया है। "तीन भूतों की उत्पत्ति की श्रुति की पाँच भूतों की उपलक्षणता तो ठीक है, किन्तु त्रिवृत्करण-श्रुति की पञ्चीकरण की उपलक्षणता नहीं, क्योंकि प्रमाण का अभाव है" ऐसी शङ्का करते हैं—**'ननु भूतत्रय'** इत्यादि से। 'तु' शब्द से सूचित विषमता का उपपादन—**'ब्रह्मणः'** इस पद से करते हैं। 'हे सोम्य, यह सत् ही पहले था', इससे प्रारम्भ करके 'वह सत्य है, वह आत्मा है' इस उपसंहार से, 'सत्'—शब्द से कहा गया ब्रह्म है, उस ब्रह्म से द्वितीय भूत के न उत्पन्न होने पर उसकी अद्वितीयता नहीं सिद्ध होगी। कार्य और कारण के अभेद से अद्वितीयता सङ्गत होती है, यह कहा जा चुका है; अद्वितीयता की सिद्धि के लिये। **'सृष्टिपरिपूर्तये'** इसकी व्याख्या कर रहे हैं, कि जगत् के अन्तर्गत आनेवाले वायु और आकाश के ब्रह्म के कार्य होने से ब्रह्म से जगत् की रचना सर्वथा पूर्ण हो जाती है, क्योंकि सकल जगत् के कारण होने का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति का विरोध होता है, यह अभिप्राय है। **'च'** का प्रयोग हेतुओं का संग्रह करने के लिये है।

ननु छान्दोग्ये भूतत्रयस्यैवोत्पत्तिश्रवणात् अश्रुतं भूतपञ्चककल्पनमयुक्तं, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गादित्यत आह—**भूतद्वयमश्रुतमपीति**। **गुणोपसंहारेति**। सकलशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति प्रतिपादनात्, एकस्यामेव शाखायां चातुर्होत्रकर्मप्रतिपत्त्यसिद्धेर्यथा शाखान्तरमाश्रित्य तदुपसंहारः, तथेहापि शाखान्तरमाश्रित्य भूतद्वयसर्गोपसंहार इति। तथा च नाश्रुतकल्पना, शाखान्तरे श्रुतत्वात्। नापि श्रुतहानिः, पञ्चकसर्गेऽपि श्रुतस्य [1]त्रिसर्गस्यापरित्यागादित्यर्थः।

१. 'विसर्गस्य' इति पाठान्तरमन्यत्र दृश्यते।

छान्दोग्य में तीन भूतों की उत्पत्ति सुनी जाने से न सुनी हुयी पाँच भूतों की कल्पना उचित नहीं, क्योंकि इससे सुने हुये का परित्याग–श्रुतहानि–और अश्रुत की कल्पना के दोष उपस्थित होंगे। इसके उत्तर में–**'भूतद्वयमश्रुतमपि'** इत्यादि कहा है। **'गुणोपसंहार'** इत्यादि द्वारा कहा गया है कि–सभी शाखाओं से ज्ञात होता है कि 'कर्म एक है' ऐसा प्रतिपादन होने, तथा एक ही शाखा में चतुर्होत्रकर्म की प्रतिपत्ति सिद्ध होने से जैसे दूसरी शाखाओं के सहारे उसका उपसंहार कर लिया जाता है, वैसे ही यहाँ भी दूसरी शाखाओं के सहारे दोनों भूतों का उपसंहार हुआ है। इस प्रकार से अश्रुत-कल्पना नहीं होगी, क्योंकि दूसरी शाखाओं में श्रुत है, और न तो श्रुतहानि ही है, क्योंकि पाँचों को सृष्टि में भो श्रुत तीन के सर्ग का परित्याग नहीं किया गया है, यह अर्थ है।

एवं भूतत्रयसृष्टिश्रुतेर्भूतपञ्चकसर्गोपलक्षणे प्रमाणमभिधाय त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणेन प्रमाणमित्याह–त्रिवृत्करणेति।

इस प्रकार तीन भूतों की सृष्टि को श्रुति को पञ्चभूतों की सृष्टि के उपलक्षण में प्रमाण कह कर त्रिवृत्करणश्रुति की पञ्चीकरण के उपलक्षण द्वारा प्रमाणता है, इसीसे––**'त्रिवृत्करण'** इत्यादि कहा गया है।

अयमाशयः—त्रिवृत्करणं तु साक्षात् श्रूयते, न पञ्चीकरणं, तादृशश्रुत्याद्यभावात्। ननु सूक्ष्मयोर्वायुनभसोरव्यवहार्यत्वात् तदीयस्थौल्यस्य च भूतान्तरानुप्रवेशाभावेऽभावात् व्यवहारान्यथाऽनुपपत्त्या पञ्चीकृतिः कल्प्यत इति चेत्, न, तस्यान्यथाऽप्युपपत्तेः। सूक्ष्माणामपि परमाणूनां व्यवहार्यत्वात्। तेषां प्रत्यक्षव्यवहारो नास्तीति चेत् तदिहापि तुल्यं, वाय्वाकाशयोरप्रत्यक्षत्वात्। अतो न पञ्चीकरणोपलक्षणे प्रमाणमिति। किमेतच्चोद्यं भूतत्रयसर्गश्रुतेर्भूतपञ्चकसर्गोपलक्षणत्वमनङ्गीकुर्वत उताङ्गीकुर्वत इति विकल्प्य वाक्यैकवाक्यतया सकलसर्गप्रतिपादकश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयाभावप्रसङ्गान्नाद्य इत्याह—नेति। द्वितीयं दूषयति—छान्दोग्येति। **परिसंख्यार्थत्व इति।** "अपपरि वर्जने" (पा० सू. १।४।८८) इति सूत्रात्पञ्चीकरणनिवृत्त्यर्थत्व इत्यर्थः। **प्रकरणविरोधेति।** छान्दोग्ये उपलक्षितभूतपञ्चकसृष्टिं प्रक्रम्य त्रिवृत्करणमात्रप्रतिपादने प्रकरणविरोध इत्यर्थः। न पञ्चीकरणे प्रमाणाभावः, व्यवहारान्यथाऽनुपपत्तेरेव प्रमाणत्वात्। नच परमाणुव्यवहारवत्तस्य व्यवहारः स्यादिति वाच्यम्। "स्थूलो वायुर्व्याप्तं नभः" इति व्यवहारस्य तद्विलक्षणत्वात्। नभोनभस्वतोर्भूतान्तरानुप्रवेशे रूपादिमत्तयोपलम्भप्रसङ्ग इति चेन्न, तर्हि त्रिवृत्करणपक्षे अप्तेजसोर्गन्धवत्तयोपलम्भप्रसङ्ग इति तुल्यम्। अथ पृथिव्यंशस्याल्पत्वादितरांशस्याधिक्यान्नातिप्रसङ्ग इति चेत्तुल्यमन्यत्राप्यभिनिवेशादिति। न च नभोनभस्वतोरप्रत्यक्षता, प्रत्यक्षगुणकत्वात्, न च वातानीतगन्धाश्रये व्यभिचारः, तस्य कदाचित्तज्जातीयप्रत्यक्षोपपत्तेरिति नावद्यं किंचित्।

कहने का अभिप्राय यह है––त्रिवृत्करण साक्षात् सुना जाता है––श्रुतियों द्वारा कहा जाता है, न कि पञ्चीकरण, क्योंकि उस प्रकार की श्रुति आदि का अभाव है। "सूक्ष्म वायु और आकाश के व्यवहार योग्य न होने से और दूसरे भूतों के अनुप्रवेश के बिना उनमें स्थूलता भी न हो पाने से, अन्यथा व्यवहार की सङ्गति न होने से, उनके पञ्चीकरण की कल्पना की जाती है" यदि ऐसी आशङ्का हो तो, "नहीं", क्योंकि अन्यथा भो उसकी उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि सूक्ष्म भी परमाणुओं का व्यवहार सम्भव होता है। यदि (शङ्का कीजिये कि) उनका साक्षात् व्यवहार नहीं होता है, तो यहाँ भी वही बात हुई, क्योंकि वायु और आकाश प्रत्यक्ष नहीं होते। अतः पञ्चीकरण के उपलक्षण में प्रमाण नहीं है। क्या यह प्रश्न भूतत्रय की सृष्टि से सम्बद्ध श्रुति से पञ्चभूतों को उत्पत्ति के उपलक्षण को अस्वीकार करते हुये है अथवा स्वीकार करते हुये, इस प्रकार विकल्प करके वाक्य की एकवाक्यता के द्वारा सारी सृष्टि की प्रतिपादक श्रुतियों का ब्रह्म में समन्वय न हो पाने का प्रसङ्ग होने लगने से पहला विकल्प नहीं हो सकेगा, इसी से **'न'** इत्यादि कहा गया है। दूसरे विकल्प को दूषित बतला रहे हैं–– **'छान्दोग्य'** इत्यादि के द्वारा। **'परिसंख्यार्थत्व इति'** का (अर्थ कर रहे हैं।) 'अप और परि वर्जन के अर्थ में होते हैं।' इस सूत्र से पूरे पद का अर्थ होगा–पञ्चीकरण के निवृत्यर्थ होने पर। **'प्रकरण-विरोध'** का अर्थ इस प्रकार है कि छान्दोग्य उपनिषद् में उपलक्षित पाँच भूतों की सृष्टि का उपक्रम करके त्रिवृत्करण-मात्र का प्रतिपादन करने पर प्रकरण का विरोध होगा। पञ्चीकरण में प्रमाण का अभाव नहीं है, क्योंकि उसके अभाव में व्यवहार की अनुपपत्ति

होने से ही उसकी प्रामाणिकता है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि परमाणु के व्यवहार की भाँति उसका भी व्यवहार होगा, क्योंकि 'वायु स्थूल है; आकाश भर गया है' इस प्रकार का व्यवहार (परमाणु के व्यवहार से) विलक्षण है। 'यदि कहें कि आकाश और वायु की दूसरे भूतों में अनुप्रवेश होने पर (उनकी भी) रूप आदि से युक्त की भाँति उपलब्धि का प्रसङ्ग होने लगेगा।' तो त्रिवृत्करण के पक्ष में जल और अग्नि के भी गन्धयुक्त की भाँति उपलब्धि का प्रसङ्ग होने लगेगा। इस प्रकार दोनों समान हो जायेंगे। फिर यदि कहें कि पृथिवी-अंश कम होने से और दूसरे अंशों के अधिक होने से अतिप्रसङ्ग नहीं होगा, तो अभिनिवेश के कारण दूसरी जगह भी समानता ही होगी। आकाश और वायु की अप्रत्यक्षता भी नहीं है, क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष-योग्य गुण हैं। वायु के द्वारा लाये गये गन्ध का आश्रय होने पर भी व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि कदाचित् उसके जातिवाले का प्रत्यक्ष उपपन्न हो जाता है, इस प्रकार कुछ भी निन्द्य नहीं हैं।

इतोऽपि पञ्चीकरणमभ्युपेयमित्याह—**किंचेति**। कथं शब्दस्पर्शयोर्नभोनभस्वत्स्थूलभागात्मतेति तत्राह—**पञ्च चेन्द्रियगोचरा इति**। कथं भाष्यकारैरिन्द्रियगोचरशब्देन स्थूलानि भूतानि व्याख्यातानीति चेत्, कार्यकारणयोरभेदाभिप्रायेणेति ब्रूमः। न कार्यकारणयोः परमार्थतो भेदोऽस्ति, सर्वस्य भेदमात्रस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। ननु—"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च॥ इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः" (गी. १३।५) इत्यत्र महाभूतशब्देनैव स्थूलभूतानामुक्तत्वादिन्द्रियगोचरशब्देन पुनर्महाभूतव्याख्याने पौनरुक्त्यापात इति चेत्, न, महाभूतशब्देन सूक्ष्मभूतोक्तेः। कथं तेषां महाभूतशब्दवाच्यतेति चेत्, न, लिङ्गदेहाख्यस्वकार्यव्यापित्वेन महत्त्वोपचारात्। वक्ष्यति च—"पूर्ववन्महान्ति च भवन्ति" इति। तथा च शब्दस्पर्शयोर्नभोनभस्वत्स्थूलभागता युक्तेति भावः। ततः किम्? अत आह—**न चेति**। उपसंहरात्—**तानि चेति**। पञ्चीकृतानां महत्त्वे हेतुमाह—**स्वकार्येति**। तेषां कार्यमेव गमयति—**तेषां चेति**। चकारः पुनरर्थे। अन्तःकरणसमष्टिः सर्वान्तःकरणसमुदायः। प्राणसमष्टिः सर्वप्राणसमुदायः। सर्वेन्द्रियसमुदाय इन्द्रियसमष्टिः। तासां गोलकादिभेदैः स्थानभेदैर्भिन्नं सकलमपि स्थूलं जगदेकीकृत्य विराडित्युच्यते। अध्यात्मविद्भिरिति योजना। विविधं राजत इति विराट्। तत्राधिदैविकं निर्दिशति—**ब्रह्माण्डमिति**। आध्यात्मिकं गोलकादिः। आधिभौतिकमिन्द्रियाणां विषयः। उच्चो देवमनुष्यादिः। अवचः तिर्यगादिः। **भूतभौतिकरूपमिति** कारणकार्यरूपमित्यर्थः।

इससे भी पञ्चीकरण को मानना चाहिये, जिसे **'किञ्च'** इत्यादि से कह रहे हैं। शब्द और स्पर्श की आकाश तथा वायु को स्थूलभागात्मकता कैसे है? इस पर कहा गया है—**'पञ्च चेन्द्रियगोचराः'** "भाष्यकार ने 'इन्द्रियगोचर' शब्द से स्थूल भूतों की व्याख्या कैसे की है" यदि ऐसी शङ्का हो तो हम कहते हैं कि कार्य और कारण में अभेद के अभिप्राय से (भाष्यकार ने व्याख्या की है।) कार्य और कारण में परमार्थतः भेद नहीं है, क्योंकि सारे भेदमात्र आगे निरस्त किये जा रहे हैं। यदि शङ्का हो कि 'महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, एकादश इन्द्रियाँ तथा पाँच इन्द्रिय-गोचर" इस श्लोक में महाभूत-शब्द से ही स्थूलभूतों का कथन हो जाने से 'इन्द्रियगोचर' शब्द से पुनः महाभूत का कथन करने पर पुनरुक्ति दोष होगा, तो उत्तर है कि "नहीं" क्योंकि 'महाभूत' शब्द से सूक्ष्मभूतों का कथन किया गया है। 'उनकी 'महाभूत'-शब्द से वाच्यता कैसे होगी" यह प्रश्न होने पर हम कहेंगे कि 'नहीं', क्योंकि लिङ्ग-देह नामक अपने कार्य में व्यापक होने से उसमें महत्त्व का उपचार होता है। जैसा कि कहेंगे भी—'पहले की भाँति महान् भी होते हैं।' इस प्रकार शब्द और स्पर्श की आकाश तथा वायु की स्थूल-भागता उचित है, यह आशय है। इससे क्या होगा? उसके उत्तर में—**'न च'** इत्यादि वाक्य कहा है। अब **'तानि च'** इत्यादि से उपसंहार कर रहे हैं। **'स्वकार्य'** इत्यादि से पञ्चीकृतों के महत्त्व के कारण बतला रहे हैं। **'तेषां च'** से उनके कार्यों की ही प्रतीति करा रहे हैं। 'च' का प्रयोग 'और' के अर्थ में हुआ है। अन्तःकरण-समष्टि का अर्थ है सभी अन्तःकरणों का समुदाय। प्राण-समष्टि का अर्थ है सभी प्राणों का समुदाय। सभी इन्द्रियों का समुदाय इन्द्रिय-समष्टि है। उनके गोलक आदि भेदों अर्थात् स्थानभेदों से भिन्न सारे ही स्थूल जगत् को एक-करके 'विराट्' कहा जाता है। 'अध्यात्मविदों के द्वारा'—'अध्यात्मविद्भिः'—इतना पद और जोड़ लेना चाहिये। विविध प्रकार से शोभित होता है

वह 'विराट्' है। **'ब्रह्माण्डम्'** इत्यादि से आधिदैविक का निर्देश कर रहे हैं। आध्यात्मिक है गोलक आदि। आधिभौतिक है इन्द्रियों का विषय। **'उच्च'** (योनि का अर्थ है) देव, मनुष्य आदि। **'अवच'** का अर्थ है 'तिर्यक्'–पशु-पक्षी-आदि। **'भूतभौतिकरूप'** का अर्थ है कारण-कार्यरूप।

कथमसङ्कीर्णानामाध्यात्मिकादीनामेकीकरणम्? तत्राह–**न पुनरिति**। विभागो वास्तव इति शेषः। कुत इत्यत आह–**सर्वस्येति**। अयं भावः–आध्यात्मिकादिकार्यं भूतपञ्चकाभिन्नं भूतपञ्चककार्यत्वात्, यद्यस्य कार्यं तत्ततोऽभिन्नम्, यथा मृत्कार्यं करकादि मृदभिन्नम्, तथा चेदम्, तस्मात्तथा। न च पितृपुत्रादौ मुद्गरघटप्रध्वंसादौ व्यभिचारः उपादानरूपकारणविशेषस्य विवक्षितत्वात्। साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेत्, तत्र वक्तव्यं किं मृद्घटयोरत्यन्तभेदः, उत भेदाभेदाविति। तत्र नाद्यः। कुण्डलस्यापि मृज्जातीयत्वप्रसङ्गात् अत्यन्तभेदाविशेषात्। द्वितीयेऽपि किं कारणस्य कार्यात् भेदाभेदौ, कार्यस्य वा कारणात्। न उभयथाऽपि, वस्तुनो द्वैरूप्यासम्भवात्।

पृथक्-पृथक् आध्यात्मिक आदि का एकीकरण कैसे होगा? इसके बारे में कहा है–**'न पुनः'** इत्यादि। **'विभागोऽवास्तवः'**–विभाग वास्तविक (नहीं है)–इतना वाक्य में शेष रह गया है, (उसे जोड़ लेना चाहिये।) 'क्यों' इसके समाधान में–**'सर्वस्य'** इत्यादि कहा गया है। (कहने का) तात्पर्य यह है–आध्यात्मिक आदि कार्य पाँचों भूतों से अभिन्न हैं, क्योंकि पाँचों के कार्य हैं। जो जिसका कार्य होता है, वह उससे अभिन्न होता है, जैसे मिट्टी के कार्य करक (टोटीदार जलपात्र) आदि मिट्टी से अभिन्न हैं, ऐसा ही यह है, अतः वैसा है। (इस लक्षण का) पिता-पुत्र, मुद्गर और घट-प्रध्वंस आदि का व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि यहाँ उपादान-रूप-कारण-विशेष ही अपेक्षित है। यदि कहें कि दृष्टान्त साध्यरहित है, तो बताइये कि क्या मिट्टी और घड़े में अत्यन्त भेद है अथवा भेद, अभेद दोनों हैं। इनमें पहला नहीं है, क्योंकि अत्यन्त भेद का विशेष न होने से कुण्डल भी मिट्टी की जाति का होने लगेगा। दूसरे विकल्प में भी क्या कारण का कार्य से भेदाभेद है अथवा कार्य का कारण से? उभयरूपों में भी नहीं हो सकते, क्योंकि एक ही वस्तु का द्वैरूप्य संभव नहीं है।

शां. अ.—पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि **वियदादीनि स्थूलभूतानि। तत्कार्यं चतुर्दशभुवनानि चतुर्विधस्थूलशरीराणि जाग्रदवस्था च। विराड् विविधम् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन राजमानत्वात् विराट्।** अत्र दशेन्द्रियाणि अन्तःकरणं चाध्यात्मं, तेषां देवतानामधि**दैवत्वं, विषयाणां चाधिभूतत्वमिति विवेकः।**

'पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि' (का अर्थ है) आकाश आदि स्थूलभूत। **'तत्कार्यम्'**–उनका कार्य है चौदह भुवन, चार प्रकार के स्थूलशरीर और जाग्रत्-अवस्था। **'विराट्'**–विविध आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक भेदों से सुशोभित होने के कारण 'विराट्' है। यहां दश इन्द्रियाँ और अन्तःकरण को अध्यात्म, उनके देवों को अधिदैवत और विषयों को अधिभूत ऐसा समझना चाहिये।

सु. वा.–पञ्चीकृतानि भूतानि तत्कार्यं च विराड् भवेत् ॥१०½॥

पञ्चीकृत भूत और उसका कार्य 'विराट्' है ॥ १०½ ॥

वा. भ.—एवमुपोद्घाततया सृष्टिमभिधाय नित्यमुक्ते आत्मनि अतस्मिंस्तद्रूपत्वेन मायाकार्यत्वेन च तस्या आरोपत्वं चोक्त्वा इदानीं तस्या ॐकारेणापवादसौकर्याय आरोपितस्य कृत्स्नस्य त्रैविध्यकरणार्थं पञ्चीकृतेत्यादि आचार्यवाक्यं व्याचष्टे–पञ्चीकृतानीत्यादिना ॥ १०½ ॥

इस प्रकार भूमिका के रूप में सृष्टि का कथन करके नित्यमुक्त आत्मा पर वह जो नहीं है उस रूप में तथा माया के कार्य के रूप में उस (सृष्टि) का आरोप बतला कर अब उसका ओङ्कार के द्वारा अपवाद में सरलता के लिये सम्पूर्ण आरोपितों को तीन विभागों में बाँटने के निमित्त **'पञ्चीकृतानि'** इत्यादि शब्दों के द्वारा आचार्य के पञ्चीकृत इत्यादि वाक्यों को विशेषतया कहा है ॥१०½॥

एतत् स्थूलशरीरमात्मनः।

सु. वा.—स्थूलं शरीरमेतत्स्यादशरीरस्य चात्मनः ॥११॥

शरीरहीन आत्मा का यही स्थूल शरीर है ॥ ११ ॥

वा. भ.—विराट्शब्दार्थमाह–स्थूलं शरीरमिति। अनेन

व्यष्टिसमष्टिशरीरद्वयमप्युक्तम्। ननु तस्य स्थूलशरीराङ्गीकारे अस्थूलमित्यादिश्रुतिविरोध इत्याशंक्य वस्तुतोऽशरीरस्य शरीर-सम्बन्धासम्भवं वदन् तस्य मृषात्वमाह—अशरीरस्येति। चोऽवधारणे। वस्तुतः कालत्रयेऽपि शरीरसम्बन्धरहितस्यैवे-त्यर्थः ॥ ११ ॥

'विराट्' शब्द का अर्थ कहा है—**'स्थूलं शरीरम्'** इत्यादि के द्वारा। इसके द्वारा व्यष्टि और समष्टि दोनों शरीर कह दिये गये। 'उसका स्थूल शरीर स्वीकार करने पर 'अस्थूलम् इत्यादि'—वह स्थूल नहीं है–आदि श्रुतियों का विरोध होगा' ऐसी आशङ्का करके वस्तुतः शरीररहित का शरीर से सम्बन्ध संभव नहीं है, यह बतलाते हुये उसका मिथ्यात्व बतलाते हैं—'अशरीरस्य' इस पद से। (वार्तिक में प्रयुक्त) 'च' शब्द निश्चय अर्थ में है। ('अशरीरस्य' के साथ 'च' जोड़ देने से उसका अर्थ होगा)—वस्तुतः तीनों कालों में भी जो शरीर के सम्बन्ध से रहित है उसी का ॥ ११ ॥

आ. गि. वि.—अथेदं वैराजमेव रूपं प्रत्यगात्मतया प्रतिपत्तव्यं, न त्वन्यदात्मत्वं ज्ञातव्यमस्तीति चेत्, नेत्याह—**एतत्स्थूशरीरमात्मन** इति।

इसके बाद यह 'वैराज'-रूप ही 'प्रत्यगात्मा' के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिये, अन्यात्मता नहीं समझी जानी चाहिये' यह शङ्का होने पर, कहा गया है—नहीं, (अर्थात् उक्त शङ्का ठीक नहीं है, उसी के समाधानार्थ (मूल में)—**'एतत्स्थूल०'**—यह आत्मा का स्थूल शरीर है, कहा गया है।

रा. त.—ननु कार्यस्य कारणात्मनाभेदः कार्यात्मना भेद इत्यापेक्षिकोऽभेदव्यवहार इति चेत्, न, सापेक्षस्य स्वरूपस्यावस्तुत्वात्। यद्धि यस्यान्यानपेक्षं स्वरूपं तत्तस्य तत्त्वम्, यदन्यापेक्षं न तत्तस्य तत्त्वम्। अन्याभावेऽभावात्। अतः प्रतीयमानवेदस्य मिथ्यात्वान्न कार्यकारण-योर्वास्तवो भेद इति ॥ लोकायतिकदृष्ट्या शङ्कते—अथेति। परिहरति—**नेत्याहेति।**

कार्य का कारण के रूप में अभेद है और कार्य के रूप में भेद

है, इस प्रकार का आपेक्षिक अभेद व्यवहार है, ऐसा कहें तो, "नहीं", क्योंकि सापेक्ष का स्वरूप वस्तु नहीं होगा। और जो जिसका स्वरूप अन्य-सापेक्ष नहीं है, वह उसका तत्त्व है जो अन्या-पेक्ष है वह उसका तत्त्व नहीं हैं, क्योंकि दूसरे के न होने पर अभाव होगा। इसलिये प्रतीत हो रहे भेद के मिथ्या होने से कार्य और कारण का वास्तविक भेद नहीं होगा। चार्वाकों की दृष्टि से—**'अथ'** इत्यादि शब्दों से शङ्का करते हैं, और **'नेत्याह'** इत्यादि से परिहार करते हैं।

शां. अ.—**एतत्, विराट् आत्मनः ब्रह्मणः स्थूलशरीरं, अन्न-विकारत्वादन्नमयकोशश्च।**

एतत्–विराट् आत्मा ब्रह्म का स्थूल शरीर है, अन्न-विकार होने से अन्नमय कोश भी है।

इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्।

सु. वा.—अधिदैवतमध्यात्ममधिभूतमिति त्रिधा।
एकं ब्रह्म विभागेन भ्रमाद्भाति न तत्त्वतः ॥१२॥

अधिदैवत, अध्यात्म और अधिभूत इन तीन विभागों में एक (ही) ब्रह्म भ्रम से प्रतीत होता है, वस्तुतः नहीं ॥ १२ ॥

इन्द्रियैरर्थविज्ञानं देवतानुग्रहान्वितैः।
शब्दादिविषयं ज्ञानं तज्जागरितमुच्यते ॥१३॥

देवताओं की कृपा से युक्त इन्द्रियों से (जो) अर्थ का विशिष्ट ज्ञान होता है, वह शब्द आदि विषयों वाला ज्ञान 'जागरित' कहा जाता है ॥ १३ ॥

वा. भ.—ननु "इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्" इति मूल-मनुपपन्नम्। अद्वितीयात्मनि इन्द्रियादिभेदाभावादारोपितस्य तस्य सत्त्वेऽपि इन्द्रियाणां जडानां स्वतःप्रवृत्त्यसम्भवः, न चात्माऽसङ्गस्तत्प्रवर्त्तको भवति, अतस्तेषां विषयसम्बन्धाभावा-दर्थोपलब्धिर्न सम्भवतीत्यत आह—अधिदैवतमिति। अधि-दैवतमित्यादिषु सप्तम्यर्थेऽव्ययीभावः। देवतासु विद्यमानं दिगा-

दिक् अधिदैवतं आत्मनि कार्यकरणसङ्घाते शरीरे विद्यमाने श्रोत्राद्यध्यात्मं भूतेषु विद्यमानं विषयभूतं शब्दादिकमधिभूतम्। "तेभ्यः समभवत्" (वार्ति. ६) इति वार्तिके भूतानामिन्द्रियाणां च सृष्टिः कण्ठरवेणोक्ता। इन्द्रियसृष्ट्युक्त्यैव समष्टीन्द्रियाभिमानिचेतनानामेव देवतात्वात् तत्सृष्टिरप्यर्थादुक्तेति त्रिविधस्याप्यात्मन्यारोपो दर्शित इति भावः। एवं सति "इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः" इतिवाक्यमुपपन्नम् ॥ १२ ॥

'इन्द्रियों से विषयों की उपलब्धि जागरित है' यह मूल सङ्गत नहीं है। अद्वितीय आत्मा में इन्द्रिय आदि का द्वैत न होने से, आरोपित किये जाने पर उसके होने पर भी जड़ इन्द्रियों की अपने-आप प्रवृत्ति संभव नहीं है, और न तो असङ्ग आत्मा ही प्रेरक हो सकता है, अतः विषयों से सम्बन्ध न होने के कारण उनको विषयों की उपलब्धि संभव नहीं है' इस (शङ्का के निराकरण) के लिये कहा है—**'अधिदैवतम्'**। 'अधिदैवत' इत्यादि (पदों में) सप्तमी के अर्थ में अव्ययीभाव समास है। देवताओं में विद्यमान दिग् आदि 'अधिदैवत' है, आत्मा (अर्थात्) कार्य और इन्द्रियों के समुदयरूप शरीर में विद्यमान रहने पर श्रोत्र आदि 'अध्यात्म' है, भूतों में विद्यमान विषयस्वरूप शब्द-आदि 'अधिभूत' है। 'तेभ्यः समभवत्' (वार्तिक ६)—उनसे उत्पन्न हुआ—इस वार्तिक में भूतों और इन्द्रियों की सृष्टि स्पष्ट शब्दों में कही गयी है। इन्द्रिय-सृष्टि के कथन से ही, समष्टि-इन्द्रियों के अभिमानी चेतनों के ही देवता होने से, उनकी भी सृष्टि अर्थतः उक्त हो जाती है, इस प्रकार तीनों विभागों का भी आत्मा के ऊपर आरोप दिखला दिया गया (उक्त वार्तिक का) यह अभिप्राय है। ऐसा होने पर 'इन्द्रियों से अर्थों की उपलब्धि' यह कथन युक्त सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

देवतानामिन्द्रियप्रवर्त्तकत्वोपपत्तिरित्याह—इन्द्रियैरिति। एवं सति देवतानुग्रहान्वितैरिन्द्रियैरर्थविज्ञानं जायते, तज्ज्ञानं जागरितमुच्यत इति, एवं वाक्यभेदेन ज्ञानपदद्वयस्याप्यन्वयो द्रष्टव्यः।

देवताओं का इन्द्रिय-प्रेरक होना उचित है, इस आशय को कहा है—**'इन्द्रियः'** आदि शब्दों से। ऐसा होने पर देवताओं की कृपा से युक्त इन्द्रियों के माध्यम से अर्थ का ज्ञान होता है, वह ज्ञान 'जागरित' कहा जाता है, इस प्रकार का वाक्यभेद के द्वारा दोनो 'ज्ञान'-पदों का अन्वय देखा जा सकता है।

यद्वा इन्द्रियजन्यं ज्ञानं अन्यच्च शास्त्रानुमानादिजन्यं ज्ञानं सर्वं च जागरितमिति ज्ञानपदद्वयस्यापुनरुक्तिः। अत्र उपलब्धिरित्युक्ते तुरीये गतम्, अतः अर्थेति। विषयोपलब्धिरित्यर्थः। सुषुप्तावज्ञानस्य विषयत्वोपलब्धेरर्थपदं शब्दादिपरत्वेन व्याख्यातम्, शब्दादिविषयमित्यनेन। तथापि स्वप्ने वासनारूपशब्दाद्यर्थोपलब्धेः सत्त्वादतिव्याप्तिवारणाय इन्द्रियैरित्युक्तम्। नच तत्रापि इन्द्रियाणि दृश्यन्त इति वाच्यम्, वासनामात्रत्वात्। नच वासनारूपैरपि तैरर्थोपलब्धिस्तत्रास्तीति वाच्यम्, वासनारूपाणां तेषामर्थानामिव विषयत्वेन साक्षिभास्यत्वमेव न तूपलब्धौ करणत्वम्। तत्प्रतीतिस्तु जाग्रत्काले करणत्वप्रतीतिस्तद्वासनामात्रं देवतानुग्रहाभावेन मुख्यकरणत्वाभावादित्याशयेन "देवतानुग्रहान्वितैः" इत्युक्तम्। नच एवमपि मनः करणं तत्रास्तीति वाच्यम्, तस्येन्द्रियत्वाभावात्, "मनः सर्वेन्द्रियाणि च।" इत्यादिश्रुतौ इन्द्रियेभ्यः पृथग्ग्रहणात्। अत एव श्रुतेः इन्द्रियत्वाभावनिश्चयात् "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि" इत्यत्र विजातीयेनैव संख्यापूरणं कार्यम्। 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इत्यत्र अनर्त्विजाऽपि विजातीयेन यजमानेन संख्यापूरणदर्शनात्। सजातीयेनैव संख्यापूरणन्यायस्तु "गुहां प्रविष्टौ" (ब्र. सू. अ. १ पा. २ सू. ११) इत्यधिकरणसिद्धसन्देहस्थले एव, नतु मानान्तरेण विजातीयत्वनिश्चयस्थलेऽपि इति भावः। स्वप्ने मनस अर्थोपलब्धि प्रत्युत्पादकत्वेन करणत्वाभावाच्च न तदा अतिव्याप्तिरिति। न चैवमपि समाधिमूर्च्छयोरव्याप्तिः, तत्र

इन्द्रियैरुपलब्ध्यभावात्तयोर्जागरणत्वादिति वाच्यम्; मूर्च्छाया "मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः" (ब्र. सू. अ. ३ पा. २ सू. १०) इति न्यायेन अजागरणत्वात्समाधेस्तुरीयावस्थात्वेनाजागरणत्वाच्चेति भावः ॥ १३ ॥

अथवा इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान और इससे भिन्न शास्त्र, अनुमान आदि से होने वाला ज्ञान सब ही 'जागरित' है, इससे दो 'ज्ञान'-पदों की पुनरुक्ति नहीं होगी। यहाँ **'उपलब्धि'** पद के कहने से तुरीयावस्था का अवगम होने लगेगा, इसी से **'अर्थ'** इस पद को भी (रखा गया है।) इसका अर्थ होगा—विषयों की उपलब्धि। सुषुप्ति में अज्ञान की विषयता प्राप्त होने के कारण अर्थ-पद की व्याख्या शब्दादिपरक के रूप में की गयी है। (वार्तिक में प्रयुक्त) **शब्दादिविषयम्'** इस पद के द्वारा। फिर भी स्वप्न में वासनारूप में विद्यमान शब्दों की उपलब्धि होने के कारण अतिव्याप्ति-दोष की निवृत्ति के लिये **'इन्द्रियैः'** इस पद को कहा गया है। 'वहाँ (स्वप्न में) भी इन्द्रियाँ दिखलाई पड़ती हैं' ऐसा नहीं कहना चाहिये, (क्योंकि) वासनारूप में विद्यमान उनकी प्रतीति अर्थों की भाँति विषय होने के कारण साक्षी के द्वारा ही होती है, न कि उपलब्धि में साधनता। उसकी प्रतीति तो जाग्रदवस्था में करणता की प्रतीति है। उसका वासनामात्र केवल देवताओं की कृपा के अभाव के कारण मुख्य करण नहीं हो पाता, इसी अभिप्राय से **'देवतानुग्रहान्वितैः'**—देवताओं की कृपा से युक्त—यह पद कहा गया है। 'मन' इन्द्रिय तो वहाँ है ही' ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह (मन) इन्द्रिय नहीं है। यतः 'मन और सभी इन्द्रियाँ' इत्यादि श्रुतियों में (उसका) मन से पृथक् ग्रहण किया गया है। इसीलिये श्रुति से (मन) में इन्द्रियत्व का अभाव निश्चित हो जाने के कारण ही 'छठें मन के साथ इन्द्रियाँ' इस कथन से (इन्द्रिय से) भिन्न ही जाति वाले (मन) से ('षट्')-संख्यात्व की पूर्ति करनी चाहिये। (जैसे) 'पाँचवाँ है यजमान जिनमें वे (ऋत्विक्) इडा का भक्षण करते हैं।' यहाँ ऋत्विक् न होने पर भी भिन्न जातीय यजमान से (पाँच) संख्या की पूर्ति देखी जाती है। समान जातिवाले से ही संख्या-पूर्ति की युक्ति तो "गुहां प्रविष्टौ" इस (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।२।११) अधिकरण

में सिद्ध किये गये संशय के स्थलों पर ही प्रवृत्त होती है, न कि दूसरे प्रमाणों से विजातीयता के निश्चय की जगह पर भी, कहने का यह आशय है। स्वप्न में मन की विषयों की उपलब्धि के प्रति उत्पादकता होने से और करणत्व (इन्द्रियत्व) का अभाव होने से भी उस समय अतिव्याप्ति नहीं होती। यह भी नहीं है कि समाधि और मूर्च्छा में अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि उनमें इन्द्रियों के द्वारा उपलब्धि का अभाव होता है और दोनों में जागरण का भाव होता है, यह कहना चाहिये। 'मूर्च्छावस्था में (अभिमान का) आधा लय होता है' इस न्याय से मूर्च्छा के जागरण न होने के कारण और समाधि के तुरीयावस्था के रूप में होने के कारण जागरण न होने के कारण भी (दोनों में जागरित लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।) यह आशय है ॥ १३ ॥

सु. वा.—श्रोत्रमध्यात्ममित्युक्तं श्रोतव्यं शब्दलक्षणम्।
अधिभूतं तदित्युक्तं दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥१४॥

श्रोत्रेन्द्रिय 'अध्यात्म' कही गयी है, श्रोत्र का विषय शब्दस्वरूप है। वही 'अधिभूत' कहा गया है। वहाँ दिशायें 'अधिदैवत' हैं ॥ १४ ॥

वा. भ.—इदानीमध्यात्मादिविभागं सुखप्रतिपत्त्यर्थं विविच्य दर्शयति—**श्रोत्रमित्यादिना 'दिशस्तत्राधिदैवतम्'** इत्यन्तेन। अत्राधिभूतमिति तत्तदिन्द्रियविषय उच्यते, शब्दस्वरूपं श्रोत्रेन्द्रियस्य विषय इत्यर्थः। एवं सर्वत्र योज्यम्। "दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्" इत्यादिश्रुत्या दिगादीनामधिष्ठातृदेवतात्वावगमात्तेषां तथात्वमङ्गीकार्यमित्यर्थः। एतेन जीवाधिष्ठितानामेवेन्द्रियाणां प्रवृत्त्युपपत्तेस्तदधिष्ठात्र्यो देवता न सन्तीति वदन्तो वैशेषिकादयो निरस्ताः। श्रुतिविरोधादसङ्गस्य जीवस्याधिष्ठातृत्वानुपपत्तेश्चेति। यद्यपि श्रुतौ "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" इत्यादिना वागग्न्यादिक्रमेणाध्यात्मादिविभाग उक्तः, तथापि तदुत्पादकतद्ग्राह्यभूतक्रमेण तत्रापि ज्ञानेन्द्रिय-

पूर्वकत्वात् कर्मेन्द्रियप्रवृत्तेस्तदुत्पादकतद्ग्राह्यभूतक्रमेण आध्यात्मादिक्रम इहोक्तः ॥ १४ ॥

अब अध्यात्म आदि विभाजनों को सरलता से समझने के लिये अलग-अलग प्रदर्शित किया जा रहा है—'श्रोत्रम्' (१४वें वार्तिक) से लेकर 'ईशस्तत्राधिदैवतम्' (२८वें वार्तिक) तक–(के वार्तिकों के द्वारा।) यहाँ 'अधिभूत' इस (पद) से उन-उन इन्द्रियों का विषय कहा जा रहा है, जैसे कि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। इसी प्रकार की योजना सभी जगह करनी चाहिये। 'दिशायें श्रोत्र होकर दोनों कानों में प्रविष्ट हो गयीं' इत्यादि श्रुति से दिक् आदि का अधिष्ठाता देवता के रूप में ज्ञान होने से उनका वैसा होना स्वीकार करना चाहिये, यह कहने का अभिप्राय है। इससे 'जीवों से ही अधिष्ठित इन्द्रियों की प्रवृत्ति की उपपत्ति होने से उनके अधिष्ठाता नहीं हैं' ऐसा कह रहे वैशेषिक आदि निरस्त हो जाते हैं और श्रुति का विरोध होने से असङ्ग जीव की अधिष्ठातृता भी असङ्गत सिद्ध हो जाती है। यद्यपि श्रुति में 'अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुआ' इत्यादि के द्वारा वाक्, अग्नि आदि के क्रमसे अध्यात्म-आदि विभागों का कथन हो जाता है, तथापि उनके उत्पादक और उनके ग्राह्य भूतों के क्रम से वहाँ भी कर्मेन्द्रिय-प्रवृत्ति के पहले होने से उनके ग्राह्य भूतों के क्रम से अध्यात्म-आदि क्रम यहां कहा गया है ॥ १४ ॥

सु. वा.–त्वगध्यात्ममिति प्रोक्तं स्प्रष्टव्यं स्पर्शलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं वायुस्तत्राधिदैवतम् ॥१५॥

त्वगिन्द्रिय को अध्यात्म कहा गया है, स्पर्श के योग्य (त्वक् का विषय) स्पर्शस्वरूप है, वही 'अधिभूत' कहा गया है, वहाँ अधिदैवत वायु है ॥ १५ ॥

चक्षुरध्यात्ममित्युक्तं द्रष्टव्यं रूपलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमादित्योऽत्राधिदैवतम् ॥१६॥

चक्षुरिन्द्रिय को अध्यात्म कहा गया है, दर्शन का विषय रूप है, वही अधिभूत कहा गया है, आदित्य वहाँ अधिदैवत है ॥ १६ ॥

वा. भ.––त्वगध्यात्ममिति। वायुरिति। यद्यपि

"ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्" इतिश्रुतौ ओषधिवनस्पतीनां त्वग्देवतात्वमुक्तं तथापि देवतात्वाप्रसिद्धेस्तेषामधिष्ठाता वायुरेव ओषध्यादिशब्देनोक्त इति मत्वा इह वायुरुक्तः। वृक्षाणां वाय्वधिष्ठितत्वं च श्रुत्यादिप्रसिद्धमिति भावः ॥ १५ ॥

'त्वग् अध्यात्म है' आदि। 'वायु' आदि। यद्यपि 'ओषधियां और वनस्पतियां रोम बन कर त्वचा में प्रविष्ट हो गयीं' इस श्रुति में ओषधि और वनस्पतियों का त्वक् का देवता होना कहा गया है, तथापि उनका देवत्व विख्यात न होने के कारण उनका अधिष्ठाता वायु ही 'ओषधि' आदि शब्दों से कहा गया है, ऐसा मानकर यहाँ वायु कहा गया है। इसका भाव यह है कि वृक्षों का वायु से अधिष्ठित होना श्रुति आदि से विख्यात है ॥ १५ ॥

चक्षुरिति स्पष्टम् ॥ १६ ॥

(१६ वें वार्तिक में उक्त) 'चक्षु' इत्यादि श्लोक स्पष्ट है। (उसका अर्थ स्फुट है, कहने की आवश्यकता नहीं है।) ॥ १६ ॥

सु. वा.–जिह्वाऽध्यात्मं तयाऽऽस्वाद्यमधिभूतं रसात्मकम् ।
वरुणो देवता तत्र जिह्वायामधिदैवतम् ॥ १७ ॥

जिह्वा (= रसना) अध्यात्म है, उसके द्वारा आस्वादनीय रस अधिभूत है, उस जिह्वा में अधिदैवत वरुण देवता है ॥ १७ ॥

वा. भ.––जिह्वेति। रसात्मकमास्वाद्यं अधिभूतमित्यन्वयः। "वरुणो वा एनं गृह्णाति" इत्यादौ व्याधिविशेषे वरुणशब्दस्यप्रयोगात्तद्व्यावृत्त्यर्थं देवतारूपोऽधिदैवतमित्युक्तम्। वरुणस्य चाधिष्ठातृत्वाद्रसस्य चाबात्मकत्वात् "शन्नो मित्रः शं वरुणः" इत्यत्र इन्द्रियदेवतासु तस्य गणनाच्च तत्र देवतेति भावः ॥१७॥

'जिह्वा' इस (पद से प्रारम्भ वार्तिक की व्याख्या की जा रही है।) इसमें (पूर्वार्ध में 'रसात्मक आस्वाद्य अधिभूत है' ऐसा अन्वय करना चाहिये। 'अथवा वरुण इसका ग्रहण करते हैं।' इत्यादि श्रुति में रोग-विशेष में वरुण शब्द का प्रयोग होने से, उसके

निराकरण हेतु देवता-स्वरूप (वह) 'अधिदैवत' कहा गया है। वरुण के अधिष्ठाता होने से और रस के जलस्वरूप होने से 'मित्र (सूर्य) हमारा कल्याण करे, वरुण कल्याण करें' यहाँ इन्द्रिय के देवताओं में उसकी गणना होने से भी वहाँ वह देवता है, यह कहने का भाव है ॥ १७ ॥

सु. वा.—घ्राणमध्यात्ममित्युक्तं घ्रातव्यं गन्धलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं पृथिव्यत्राधिदैवतम् ॥१८॥

घ्राण को अध्यात्म कहा गया है, घ्राण के योग्य विषय गन्ध-स्वरूप हैं, उन्हें अधिभूत कहा गया है, यहाँ पृथिवी अधिदैवत है ॥ १८ ॥

वा. भ.—घ्राणमध्यात्ममिति । पृथिवीति । घ्राणेन्द्रियस्य पार्थिवत्वात्पृथिव्यभिमानिदेवतायास्तत्र देवतात्वमुचितमिति 'पृथिव्यत्राधिदैवतम्' इत्युक्तम् । यद्वा "दिग्वातार्कप्रचेतो"-इतिसम्प्रदायश्लोके अश्विनोः घ्राणाधिदेवतात्वोक्तेः वडवाभूतसूर्यपत्नीनासिकानिर्गतत्वेन पुराणप्रसिद्धेश्च तयोरेवाधिदैवतत्वौचित्याच्च, इह पृथिवीशब्देन तावेवोक्तौ "अभूतौ वा इमौ मनुष्यचरौ" इत्यत्र तयोर्मनुष्यवत्पृथ्वीसम्बन्धश्रवणात् । यद्यपि "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इत्यत्र वायोर्देवतात्वमुक्तं, तथापि नासिकासञ्चारिश्वासरूपेण वायोर्गन्धग्रहणे सहकारित्वमात्रेण तथोक्तम् । वस्तुतस्तत्र वायुशब्देन तत्सहचारिपूर्वोक्तदेवतैव ग्राह्येति न विरोधः ॥ १८ ॥

'घ्राण अध्यात्म' (से प्रारम्भ हो रहे वार्तिक की व्याख्या की जा रही है।) (वहीं) **'पृथिवी'** इस (पद से उसका अधिदेव बतलाया गया है।) घ्राण-इन्द्रिय के पृथिवी-तत्त्वात्मक होने से पृथिवी के अभिमानी देवता का वहाँ देवता होना उचित है, इसीलिये 'यहाँ पृथिवी अधिदेवता है' ऐसा कहा गया है। अथवा 'दिशा, वायु, सूर्य, वरुण०, इस सम्प्रदाय-प्रसिद्ध श्लोक में अश्विनीकुमारों

---

१. अश्विनौ इत्यपि पाठः ।

को घ्राण का अधिदेवता होना कहा जाने से और घोड़ी बनी हुई सूर्य की पत्नी के नासारन्ध्रों से निकलने की पौराणिक-प्रसिद्धि से भी उन दोनों का ही अधिदेवत्व उचित होने के कारण यहाँ पृथिवी शब्द से वही दोनों कहे गये हैं, क्योंकि 'ये दोनों मनुष्य की भाँति विचरण करनेवाले हो गये' यहाँ उन दोनों का मनुष्य की भाँति पृथिवी से सम्बन्ध सुना जाता है। यद्यपि 'वायु प्राण होकर दोनों नासिकाओं में प्रविष्ट हो गया' इस (श्रुति) में वायु का देवता होना कहा गया है, तथापि नासिका में सञ्चार करने वाले श्वास के रूप में वायु के गन्धग्रहण में सहकारी होने मात्र से वैसा कहा गया है। वस्तुतः वहाँ वायु शब्द से उसके सहचारी पूर्वोक्त देवता का ही ग्रहण होना चाहिये, इससे विरोध नहीं होगा ॥ १८ ॥

सु. वा.—वागध्यात्ममिति प्रोक्तं वक्तव्यं शब्दलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमग्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ १९ ॥

वाक् को अध्यात्म कहा गया है, वाणी का विषय शब्दस्वरूप है, वही अधिभूत कहा गया है, अग्नि वहाँ अधिदैवत है ॥ १९ ॥

वा. भ.—वैशेषिकादयस्तु-कर्मेन्द्रियाणि न सन्त्येव हस्ताद्यवच्छिन्नात्मनि प्रयत्नोत्पत्तौ तत एव हस्तादौ व्यापारोत्पत्तिसम्भवादित्याहुः । तदयुक्तम् । "अग्निर्वाग्भूत्वा" इत्यादिश्रुतिविरोधात्कुणित्वादिप्रापककर्मप्रतिबद्धेन्द्रियाभावे कुणित्वपङ्गुत्वाद्यसम्भवापत्तेः । अन्यथा तत्तद्गोलकावच्छिन्नात्ममनःसंयोगादेव ज्ञानोत्पत्तिसम्भवेन ज्ञानेन्द्रियाणामप्यभावप्रसङ्गाच्चेत्यभिप्रेत्य कर्मेन्द्रियेषूक्तविभागमाह—वागध्यात्ममिति । वागादयश्च यथाक्रमं राजसाकाशादिभूतकार्याणीति बोध्यम् ॥ १९ ॥

वैशेषिक आदि ने कहा है कि कर्मेन्द्रियाँ होती ही नहीं हैं, क्योंकि हाथ आदि से विशिष्ट आत्मा में प्रयत्न की उत्पत्ति होने पर वहीं से हाथ आदि में क्रियाशीलता की उत्पत्ति संभव होती है। (उनका) यह (कहना) ठीक नहीं है, क्योंकि 'अग्नि वाक् होकर' इत्यादि श्रुति का विरोध होने तथा कुणित्व (हाथ का लुंज हो जाना) आदि को प्राप्त करने वाले, कर्म से इन्द्रिय के सम्बद्ध

न होने पर कुणित्व, पंगुत्व (लँगड़ापन) आदि की असंभावना होने लगेगी। अन्यथा उन-उन गोलकस्थानों से विशिष्ट आत्मा और मन के संयोग से ही ज्ञान की उत्पत्ति संभव हो जाने के कारण ज्ञानेन्द्रियों के भी अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होने लगेगा, यही लक्ष्य करके कर्मेन्द्रियों में उक्त विभाजन कहा है–'**वागध्यात्म**'-आदि। वाक्-आदि क्रमानुसार राजस आकाश आदि भूतों के कार्य हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १९ ॥

सु. वा.–हस्तावध्यात्ममित्युक्तमादातव्यं च यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तमिन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥२०॥

दोनों हाथ अध्यात्म कहे गये हैं, जो ग्रहण का विषय है वही अधिभूत कहा गया है, वहाँ इन्द्र अधिदैवत है ॥ २० ॥

वा. भ.––हस्तावध्यात्ममिति। इन्द्र इति। "इन्द्रो मे बले श्रितः" इति श्रुत्या इन्द्रस्य बलाधिष्ठातृत्वाद्बलस्य "बाहोर्बलम्" इति श्रुत्या बाहुधर्मत्वादिन्द्रो हस्ताधिदैवतमित्यर्थः ॥ २० ॥

'**हस्तावध्यात्म**' (से वार्तिक का प्रारम्भ है।) '**इन्द्र**' (यह पद वहाँ प्रयुक्त है।) 'इन्द्र मेरे बल में आश्रित हैं' इस श्रुति से इन्द्र का बल का अधिष्ठाता होना और 'बाहुओं का बल' इस श्रुति से बल के बाहु का धर्म होने से इन्द्र हाथ का अधिष्ठाता देवता है, यह अर्थ (सिद्ध हुआ।) ॥ २० ॥

सु. वा.–पादावध्यात्ममित्युक्तं गन्तव्यं तत्र यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥२१॥

दोनों पैरों को 'अध्यात्म' कहा गया है, वहाँ जो गमन का विषय है वही अधिभूत कहा गया है, वहाँ विष्णु अधिदैवत हैं ॥ २१ ॥

वा. भ.––पादाविति। विष्णुरिति। विष्णोर्विक्रमणकर्तृत्वात् विक्रमणहेतुपादाधिष्ठातृत्वं तस्योचितमित्यर्थः ॥२१॥

'**पादौ**' इस पद से (वार्तिक का आरम्भ होता है।) (वहाँ) '**विष्णु**' यह (देवता-वाचक पद आया है।) विष्णु के विशिष्ट

पदनिक्षेप करने के कारण चलने-फिरने के हेतुभूत पावों पर उसकी अधिष्ठातृता उचित ही है, यह अभिप्राय है ॥ २१ ॥

सु. वा.–पायुरिन्द्रियमध्यात्मं विसर्गस्तत्र यो भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तं मृत्युस्तत्राधिदैवतम् ॥२२॥

पायु-इन्द्रिय अध्यात्म है, वहाँ जो विसर्ग (=त्याग) है वही अधिभूत कहा जाता है, वहाँ अधिदैवत मृत्यु है ॥ २२ ॥

वा. भ.––पायुरिति स्पष्टम् ॥ २२ ॥

'**पायुः**' इस से (प्रारम्भ होने वाला वार्तिक) स्पष्ट है ॥ २२ ॥

सु. वा.–उपस्थेन्द्रियमध्यात्मं स्त्र्याद्यानन्दस्य कारणम्।
अधिभूतं तदित्युक्तमधिदैवं प्रजापतिः ॥२३॥

उपस्थ-इन्द्रिय अध्यात्म है, स्त्री-आदि (जो) आनन्द के कारण हैं वही अधिभूत कहे गये हैं, (वहाँ) अधिदैवत प्रजापति हैं ॥२३॥

वा. भ.––उपस्थेति। प्रजापतिरिति। यद्यपि "आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्" इति श्रुतौ अपां देवतात्वमुक्तं, तथापि तत्र अप्शब्देन तदुपलक्षितपञ्चभूतोपाधिकः प्रजापतिरेवोक्त इति भावः ॥ २३ ॥

'**उपस्थ**' इससे (वार्तिक का प्रारम्भ होता है।) (वहाँ देवता वाचक) '**प्रजापति**' (पद आया है।) यद्यपि 'जल वीर्य होकर लिङ्ग में प्रविष्ट हो गया' इस श्रुति में जल का देवता होना कहा गया है, तथापि यहाँ 'आप्' शब्द से उससे उपलक्षित हो रहा पञ्चभूतों की उपाधि वाला प्रजापति ही कहा गया है, यह (श्रुति का) आशय है ॥ २३ ॥

सु. वा.–मनोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं मन्तव्यं तत्र यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तं चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥२४॥

मन को अध्यात्म कहा गया है, वहाँ जो मनन के योग्य विषय है वही अधिभूत कहा गया है, वहाँ चन्द्रमा अधिदैवत है ॥ २४ ॥

बुद्धिरध्यात्ममित्युक्तं बोद्धव्यं तत्र यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तमधिदैवं बृहस्पतिः ॥२५॥

बुद्धि को अध्यात्म कहा गया है, वहाँ जो बुद्धि का विषय होता है, वही अधिभूत कहा जाता है, बृहस्पति (वहाँ) अधिदैवत है ॥ २५ ॥

अहङ्कारस्तथाऽध्यात्ममहङ्कर्तव्यमेव च ।
अधिभूतं तदित्युक्तं रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥२६॥

उसी प्रकार अहङ्कार अध्यात्म (है) और अहङ्कार का (जो) विषय है वही अधिभूत कहा गया है, वहाँ अधिदैवत रुद्र हैं ॥ २६ ॥

वा. भ.—मन्तव्यबोद्धव्यादिकं सर्वं यद्यपि श्रोतव्यादिरूपमेव, तथापि मन्तव्यत्वादिरूपेण श्रोतव्याद्यपेक्षया तेषां मनआदिविषयत्वमाह—मनोऽध्यात्ममिति त्रिभिः । मन्तव्यमित्यादिना बृहस्पत्यादीनां तु बुद्ध्यादिदेवतात्वमागमादवगन्तव्यम् । इतरेषां तु "अग्निर्वाग्भूत्वा" इत्यादिश्रुतौ तथात्वं स्पष्टमिति ॥ २४–२६ ॥

मनन, बोध आदि के सभी विषय यद्यपि श्रवण आदि के विषय के रूप के ही हैं, तथापि मनन के विषय आदि के रूप की श्रोतव्य आदि की तुलना में भेद स्वीकार करके उनकी मनन आदि की विषयता को कहा है—**'मनोऽध्यात्मम्'** इत्यादि तीन (वार्तिकों से ।) **'मन्तव्यम्'** इत्यादि के द्वारा बृहस्पति आदि का तो बुद्धि आदि का देवता होना शास्त्रों से समझना चाहिये, (यह व्यक्त होता है ।) अन्यों का तो 'अग्नि वाक् होकर' इत्यादि श्रुति में वैसा होना स्पष्ट है ॥ २४–२६ ॥

सु. वा.–चित्तमध्यात्ममित्युक्तं चेतव्यं तत्र यद्भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं क्षेत्रज्ञोऽत्राधिदैवतम् ॥२७॥

चित्त अध्यात्म कहा गया है, वहाँ जो चिन्तन का विषय है वही अधिभूत कहा गया है, यहाँ क्षेत्रज्ञ (पुरुष) अधिदैवत है ॥ २७ ॥

वा. भ.—चित्तमिति । क्षेत्रज्ञः साक्षीत्यर्थः ॥ २७ ॥

'चित्तम्' इस पद से (वार्तिक का आरम्भ होता है ।) (वहाँ प्रयुक्त) **'क्षेत्रज्ञ'** पद का अर्थ है—साक्षी ॥ २७ ॥

सु. वा.–तमोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं विकारस्तत्र यो भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमीश्वरोऽत्राधिदैवतम् ॥२८॥

तमस् को अध्यात्म कहा गया है, वहाँ जो विकार होगा वही अधिभूत कहा गया है, यहाँ अधिदैवत ईश्वर हैं ॥ २८ ॥

वा. भ.—तम इति । ईश्वरः मायाप्रवर्त्तको जगत्कारणमिति भेदः ॥ २८ ॥

'तमः' यह (वार्तिक का प्रथम पद है ।) (वहाँ) **'ईश्वरः'** को माया का प्रवर्तक और जगत् का कारण माना गया हैं, (यही इस अधिदेवता का अन्यों से) अन्तर है ॥ २८ ॥

सु. वा.—बाह्यान्तःकरणैरेवं देवतानुग्रहान्वितैः ।
स्वं स्वं च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते ॥२९॥

इस प्रकार देवताओं की कृपा से युक्त बाह्य (ज्ञान तथा कर्म की इन्द्रियों) तथा अन्तःकरणों (बुद्धि आदि) के द्वारा (जो) अपने अपने विषयों का ज्ञान है वह 'जागरित' कहा जाता है ॥ २९ ॥

वा. भ.—एवमध्यात्मादिविभागं प्रदर्श्य 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्' इतिवाक्ये इन्द्रियग्रहणं करणोपलक्षणार्थमित्यभिप्रेत्य वदन् वाक्यार्थमुपसंहरति—बाह्येति । अत्र ज्ञानमिति कर्मेन्द्रियव्यापाराणाम् उपलक्षणम् । अन्यथा कर्मेन्द्रियस्यासंग्रहापातात् स्वरूपनिरूपणवैयर्थ्यं स्यादिति ॥ २९ ॥

इस प्रकार अध्यात्म आदि विभागों को ठीक से दिखला कर 'इन्द्रियों से विषयों की उपलब्धि 'जागरित' है' इस वाक्य में 'इन्द्रिय' पद का ग्रहण उसकी साधकतमता को प्रदर्शित करने के लिये है, ऐसे आशय के साथ कहते हुये वाक्य के अर्थ का समापन करते हैं—**'बाह्य'** इत्यादि शब्दों द्वारा । यहाँ 'ज्ञान' कर्मेन्द्रियों की वृत्ति का ज्ञापक है, नहीं तो कर्मेन्द्रियों का असंग्रह आ जाने से उनके स्वरूप का निरूपण निरर्थक हो जाता है ॥ २९ ॥

आ. गि. त्रि.—ननु इदमात्मनः शरीरमपवर्गे नोपयुज्यते, तस्याशरीररूपत्वात् भोगायतनत्वेन भोगोपयोगित्वं

वक्तव्यम् । कुत्र च तदभिमानाधीनो भोगः स्यादित्याकांक्षायां तत्र जागरिते तदभिमानप्रयुक्तो भोगो भवतीति वक्तुं जागरितं लक्षयति——**इन्द्रियैरिति** । सुषुप्तिव्यावृत्त्यर्थं शब्दादिविषयवाचकमर्थपदम् । स्वप्नं निरसितुमिन्द्रियविशेषणम् । तत्र हि विद्यमानमपि मनो विविधविषयाकारेण परिणतं साक्षिणो दृश्यतयाऽवतिष्ठमानं नोपलब्धौ करणं भवतीति भावः ।

'आत्मा का यह शरीर मोक्ष होने पर उपयोग में नही आता, उस (मोक्ष) के शरीररूप न होने से भोग का आयतन होने के कारण उसकी उपयोगिता भोग में ही कही जानी चाहिये । उसके अभिमान के अधीन रहने वाला भोग कहाँ होगा' ऐसी आकांक्षा होने पर 'जहाँ जागरित में उसके अभिमान से प्रयुक्त भोग होता है' यह कहने के लिये जागरित का लक्षण देते हैं—**'इन्द्रियैरिति'**—इन्द्रियों से—इत्यादि शब्दों द्वारा । सुषुप्ति का समावेश न हो इसलिये शब्द-आदि विषयों का वाचक 'अर्थ' पद (लक्षण में) रखा गया है । 'स्वप्न' की व्यावृत्ति करने के लिये 'इन्द्रिय' विशेषण है । मन वहाँ (स्वप्न और सुषुप्ति में) विद्यमान रहने पर भी अनेक विषयों के आकार में परिणत होकर साक्षी के दृश्य के रूप में स्थित रहता हुआ उपलब्धि में अतिशयित कारण (=करण) नहीं बन पाता है, यह तात्पर्य है ।

रा. त.—आत्मनः शरीरसम्बन्धाभावमभिप्रेत्य शङ्कते—**नन्विति** । सम्भवे वा आत्मन एतच्छरीरं मोक्षे उपयुज्यते, अवस्थान्तरे वेति विकल्प्य प्रथमस्यासम्भवमाह—**अपवर्ग** इति । कुत इत्यत आह——**तस्येति** । "अस्थूलम्" इत्यादिश्रुतेरशरीरतेत्यर्थः । अवस्थान्तरमाकाङ्क्षन्नाह—**भोगायतनत्वेनेति** । भोगः सुखादिसाक्षात्कारः, तदायतनत्वं तन्निष्पादनस्थानत्वम् । भोगोपयोगित्वं तु तत्साधनत्वमिति विवेकः । उभयं स्वात्मपरात्मभेदेनेति द्रष्टव्यम् । **कुत्रेति**, कस्यामवस्थायामित्यर्थः । चकारः समुच्चयार्थः । एतदुत्तरत्वेन मूलमवतारयन्नाह—**तत्रेति** । तस्यां शङ्कायां सत्यामित्यर्थः । उपलब्धिर्जागरितमित्युक्ते सुषुप्तेऽतिव्याप्तिः, तत्रापि स्वरूपोपलब्धिसत्त्वात् । अन्यथा 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्युत्थितस्य परामर्शानुपपत्तेस्तन्निवृत्त्यर्थमर्थपद-

मित्याह—**सुषुप्तीति** । ननु स्वरूपमप्यर्थ एव, तत्राह—**शब्दादीति** । तावत्युक्ते स्वप्नेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्याह——**स्वप्नमिति** । अस्त्येव तत्रापि मनोऽन्तरमिन्द्रियमिति चेत्तत्राह——**तत्रेति** । तत्र स्वप्नावस्थायां यद्यपि मनसोऽवस्थानमस्ति तथाऽपि दृश्यविषयाकारपरिणतत्वान्न तद्ग्राहकवृत्त्याकारपरिणामः सम्भवति, युगपदेव ग्राह्यग्राहकत्वेन विरुद्धपरिणामद्वयानुपपत्तेः । मनउपादानभूताविद्यावृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिमात्रवेद्यत्वान्नेन्द्रियवेद्यः स्वाप्नपदार्थः । अतः स्वप्ननिवृत्तये इन्द्रियविशेषणं युक्तमिति । ननु विवरणानुसारिणस्तु निद्रादोषदूषितान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं स्वाविद्याशक्तिविवर्तं स्वप्नावलम्बनमिच्छन्ति, अन्तःकरणस्य च तद्ग्राहकवृत्त्याकारपरिणामम् । अतः "इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्" इति तन्मतेऽतिव्याप्तिरिति चेत्, न, तन्मते बाह्यपदस्यानुसन्धेयत्वात् । न च तर्हि जाग्रत्सुखाद्युपलब्धावव्याप्तिरिति शङ्क्यम्, सुखादेरिन्द्रियवेद्यत्वानभ्युपगमादिति द्रष्टव्यम् । यद्वा मनस इन्द्रियत्वानभ्युपगमान्न मनोमये स्वप्नेऽतिव्याप्तिः ।

आतमा के शरीर से सम्बन्ध न होने को लक्ष्य करके शङ्का कर रहे हैं-**नन्विति**—ननु इत्यादि शब्दों से । अथवा (आतमा का शरीर से सम्बन्ध) सम्भव होने पर भी आतमा का यह शरीर मोक्ष में उपयोग में आता है अथवा किसी दूसरी अवस्था में, ऐसा विकल्प करके पहले की असम्भावना बतला रहे हैं—**'अपवर्ग'** इत्यादि के द्वारा । 'क्यों', इसके उत्तर में **'तस्य'** इत्यादि कहा गया है । 'स्थूल नहीं है'—**'अस्थूलम्'** इत्यादि श्रुतिवचन के कारण (आतमा की) अशरीरता है, यह अर्थ हुआ । दूसरी अवस्था की आकांक्षा करते हुये—**भोगायतनत्वेन** इत्यादि कहा गया है । भोग है सुख आदि का साक्षात्कार, उसका आयतन होना उसके निष्पादन का स्थान होना है । भोग में उपयोगी होना तो उसका साधन होना है, यह विचार की बात है । उभय को-'स्वातम' तथा 'परातम'—अपने तथा पराये—के भेद से समझना चाहिये । 'कुत्र' का अर्थ है 'किस अवस्था में' । चकार का प्रयोग समुच्चय के अर्थ में है । इसके उत्तर के रूप में मूल को अवतरित करते हुये—**'तत्र'** इत्यादि कहा है । जिसका अर्थ है 'उस शङ्का के होने पर ।' 'उपलब्धि जागरित है' ऐसा कहने पर सुषुप्ति में अतिव्याप्ति होने लगेगी, क्योंकि वहाँ भी स्वरूप की उपलब्धि होने लगेगी । नहीं तो 'मैं सुख से सोया' इस प्रकार की सोकर जागे हुये का परामर्श सङ्गत नहीं होगा, उसी के निराकरण

के लिये 'अर्थपद' का प्रयोग हुआ है। इसी को 'सुषुप्ति' इत्यादि से कहा है। 'यदि कहें कि स्वरूप भी 'अर्थ' ही है, तो उसके उत्तर में **'शब्दादि'** यह कहा है। उतना कहने पर स्वप्न में अतिव्याप्ति की आशङ्का करके कहा है—**'स्वप्न'** इत्यादि। 'वहाँ भी मन नामक अन्तरिन्द्रिय है ही' ऐसी शङ्का हो तो उस विषय में—**तत्र** इत्यादि कहा गया है। वहाँ स्वप्नावस्था में यद्यपि मन की अवस्थिति होती है, तथापि दृश्य-विषय के आकार में परिणत होने के कारण उसकी ग्राहक-वृत्ति के आकार में परिणति सम्भव नहीं होगी, क्योंकि एक साथ ही ग्राह्य और ग्राहक के रूप में परस्पर विरोधी दो परिणाम सङ्गत नहीं होंगे। मन की उपादान-भूता अविद्या की वृत्ति से अवच्छिन्न साक्षि-मात्र के द्वारा वेद्य होने से स्वप्न के पदार्थ इन्द्रियों के वेद्य नहीं होंगे। इसलिये स्वप्न का निवारण करने के लिये 'इन्द्रिय'-विशेषण ठीक लगा है। "विवरण-मतानुयायी तो निद्रा-दोष से दूषित अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को अपनी अविद्या-शक्ति के विवर्त स्वप्न का अवलम्बन मानते हैं, और अन्तःकरण का उसके ग्राहक-वृत्ति के आकार में परिणाम। इसलिये "इन्द्रियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि जागरित है' यह कहना उनके मत में अतिव्याप्त हो जायेगा" ऐसी शङ्का करें तो, 'नहीं', उनके मत में बाह्यपद अनुसन्धान का विषय होता है। और यह भी शङ्कनीय नहीं है कि तब तो जाग्रत् काल के सुख-आदि की उपलब्धि में अव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि सुख-आदि की इन्द्रिय-वेद्यता सम्मत नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। अथवा मन के इन्द्रिय न माने जाने से मनोमय स्वप्न में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

ननु कथं मनस इन्द्रियत्वस्यानभ्युपगम इति? उच्यते—लिङ्गदेहावयवगणनावसरे कर्मेन्द्रियपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकमितीन्द्रियत्वस्य वागादिष्वेव नियमितत्वात्। तथा चान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमे तस्यानिन्द्रियत्वान्न तद्वेद्ये स्वप्नेऽतिव्याप्तिः।

'मन की इन्द्रियता क्यों नहीं मान्य है' इस (प्रश्न का उत्तर) कह रहे हैं—लिङ्गदेह के अवयवों की गणना के समय पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों को कहा गया है, इस प्रकार वाक्-आदि में ही इन्द्रियत्व को नियमित किया गया है। इसी प्रकार अन्तःकरण की वृत्ति को स्वीकार करते समय उसको इन्द्रिय के रूप में नहीं

स्वीकार किया गया है, अतः उसके वेद्य स्वप्न में अतिव्याप्ति नहीं होती।

वस्तुतस्तु विचार्यते—अन्तःकरणवृत्तिर्हि द्विधा, वृत्तिः फलं चेति। तत्र वृत्तिः अन्तःकरणस्य विशिष्टशब्दादिप्रमाणबलात्तत्तद्विषयाकारसमुल्लासः। फलं तु तस्य चक्षुरादिद्वारा बाह्यविषयाकारपरिणामः। तदुभयं प्रमाणमेव। न पुनरप्रमाया अन्तःकरणवृत्तिरूपत्वं मायावादिनाऽभ्युपेयते, तस्या अविद्याविवर्तत्वाङ्गीकारात्। तदुक्तमिष्टसिद्धिकारैः—"सदसद्भ्यामनिर्वाच्याऽविद्या वेद्यैः सह भ्रमः" इति। तस्मात्स्वप्नस्य विपर्ययत्वान्नान्तःकरणपरिणामत्वमित्यतः सुष्ठूक्तं नोपलब्धौ करणं भवतीति भाव इति।

वास्तविक विचार इस प्रकार का है—अन्तःकरण की वृत्ति दो प्रकार की है—वृत्ति तथा फल। उनमें वृत्ति है अन्तःकरण का विशिष्ट शब्द आदि प्रमाणों के बल से उन-उन विषयों के रूप में उल्लसित होना। फल है उसका चक्षु-आदि के द्वारा बाह्य विषयों के आकार में परिणत होना। वह दोनों प्रमाण ही है। मायावादियों के द्वारा अप्रमा को अन्तःकरण की वृत्ति में नहीं माना जाता, क्योंकि उसे तो अविद्या का विवर्त स्वीकार किया गया है। 'इष्ट-सिद्धि' के रचयिता (विमुक्तात्मयति) ने कहा है—'सत् और असत् के द्वारा अनिर्वचनीय अविद्या वेद्यों के साथ भ्रम है।' इसलिये स्वप्न का, विपर्यय होने से, अन्तःकरण का परिणाम होना सम्भव नहीं है। इसीलिये ठीक ही कहा गया है कि 'उपलब्धि में करण नहीं होता है' यह आशय है।

शां. अ.—इन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः स्वस्वदेवतानुगृहीतैः अर्थानां स्वस्वविषयाणां उपलब्धिर्ज्ञानं जागरितं जाग्रदवस्था।

'इन्द्रियैः'—अपने-अपने देवताओं से अनुगृहीत श्रोत्र-आदि इन्द्रियों के द्वारा **अर्थानां**—अर्थों अर्थात् अपने-अपने विषयों की, **उपलब्धिः** = ज्ञान, **जागरितं** = जाग्रदवस्था है।

(ए) तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः। एतत् त्रयमकारः।

सु. वा.—येयं जागरितावस्था शरीरं करणाश्रयम्।
यस्तयोरभिमानी स्याद्विश्व इत्यभिधीयते ॥३०॥

१. 'एतदुभयाभिमानी' इति शान्त्यानन्दसरस्वतीपादानां सम्मतः पाठः।

जो यह जागरितअवस्था, (अन्तः तथा बाह्य) करणों (=इन्द्रियों) का आधार शरीर, और इन दोनों का जो अभिमानी है, (वे तीनों) 'विश्व' कहे जाते हैं ॥ ३० ॥

वा. भ.—'तदुभयाभिमानी' इत्यत्रोभयशब्दार्थं वदन् तद्वाक्यार्थमाह—येयमिति । विश्वस्य स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयाभिमानित्वात्सूक्ष्मशरीरसंग्रहाय **'शरीरं करणाश्रयम्'** इत्युक्तम् । अत एव तमश्शब्दितं कारणशरीरमपि **'तमोऽध्यात्मम्'** इत्यत्रोक्तम् । अन्यथा जागरावस्थोक्तिप्रस्तावे तस्यानवसरप्रसङ्गात् । तच्च इह शरीरग्रहणेन गृहीतमिति बोध्यम् ॥ ३० ॥

'तदुभयाभिमानी' उन दोनों का अभिमानी यहाँ ('पञ्चीकरणम्' के मूल में प्रयुक्त पदावली में आये हुये) 'उभय' शब्द का अर्थ बतलाते हुये उस वाक्य का अर्थ कहा जा रहा है—**'येयम्'** आदि (वार्तिक-द्वारा।) 'विश्व' के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का अभिमानी होने के कारण सूक्ष्म-शरीर का संग्रह करने के लिये (वातिक में) **'शरीरं करणाश्रयम्'** अर्थात् इन्द्रियों का आश्रयभूत शरीर—ये शब्द कहे गये हैं। इसीसे 'तमः' शब्द से उक्त कारण शरीर को भी **'तमोऽध्यात्मम्'** 'तम अध्यात्म है' ऐसा यहाँ कहा गया है। अन्यथा जागर-अवस्था को कहने के उपक्रम में वह अवसर प्राप्त नहीं होगा। वह यहाँ 'शरीर' शब्द के प्रयोग से ले लिया गया है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३० ॥

सु. वा.—विश्वं वैराजरूपेण पश्येद्भेदनिवृत्तये ॥ ३०½ ॥

भेद के निवारण के लिये 'विश्व' को वैराज (= विराट्) के रूप में देखना चाहिये ॥ ३०½ ॥

वा. भ.—ननु 'तत्कार्यं च विराड् भवेत्' इत्यत्र समष्टिव्यष्टिशरीरयोरभिधानात् समष्टौ च वैश्वानरशब्दितस्य वैराजस्याभिमानित्वात्कथं व्यष्ट्यभिमानिनो विश्वस्य तदुभयाभिमानित्वम् ? अत आह—**विश्वमिति** । वैराजस्य रूपं यस्य स तथा । भावप्रधानो निर्देशः । वैराजं विश्वात्मत्वेन पश्येदित्यर्थः । हिरण्यगर्भरूपेण चिन्तयेदित्यादावप्येवमेवार्थः । यथाश्रुते विश्वस्य

वैराजान्तर्भावे विश्वस्य प्राधान्यं न स्यात् । तथा च सति प्रत्यगात्मशोधनं न भवेत् । वैराजादीनाम् ईश्वरावस्थाभेदत्वेन प्रत्यगात्मावस्थाभेदत्वाभावात् । तथा सति "अकारमात्रं विश्वः स्यात् । अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्" इत्यादि-वक्ष्यमाणः विश्वादिप्राधान्यव्यपदेशा विरुध्येरन् ।

'तत्कार्यं च विराड् भवेत्'—'उसका कार्य 'विराट्' होगा—इस श्लोकांश में समष्टि और व्यष्टि दोनों शरीरों का कथन हो जाने से और समष्टि में 'वैश्वानर' कहे गये वैराज के अभिमानी होने से व्यष्टि का अभिमानी 'विश्व' उन दोनों का अभिमानी कैसे होगा' इस (शङ्का की निवृत्ति हेतु) कहा गया है—**'विश्वम्'** इत्यादि । वैराज का रूप है जिसका वह वैसा हुआ। (यहाँ) निर्देश भावप्रधान है जिसका अर्थ है वैराज के रूप में होने से। वैराज को 'विश्व' के रूप में देखना चाहिये, यह अभिप्राय है। 'हिरण्यगर्भ के रूप में चिन्तन करना चाहिये' इत्यादि में भी इसी प्रकार का अर्थ है। जैसा सुना गया है वैसे विश्व का वैराज में अन्तर्भाव करने पर विश्व की प्रधानता नहीं रहेगी। वैसा होने पर प्रत्यगात्मा का संशोधन नहीं हो सकेगा, क्योंकि वैराज आदि की ईश्वरावस्था से अभिन्नता के कारण प्रत्यगात्मा की दशा में अभेद का अभाव हो जायेगा। वैसा होने पर 'अकारमात्र विश्व है। अकार पुरुष विश्व का उकार में विलय करना चाहिये' इत्यादि भविष्य में कहे जाने वाले विश्व आदि की प्रधानता के कथनों का विरोध होने लगेगा।

एतदुक्तं भवति—एकस्यैव चैतन्यस्य समष्टिव्यष्ट्यभिमानभेदेन भेदाज्जीवानामपि "सर्वे जीवाः सर्वमयाः" इति श्रुत्या अपरिच्छेदात्परिच्छिन्नव्यष्ट्यभिमानकृतः परिच्छेदभ्रमः । तत्र समष्टिव्यष्ट्योः स्थूलत्वसामान्येन अभेदे चिन्तिते परिच्छिन्नाभिमाननिवृत्त्या परिच्छेदभ्रमनिवृत्तौ तदभिमानिनोरपि विश्ववैराजयोरभेददर्शनं स्यादिति 'एतत् त्रयमकारः' इत्यादिनोक्तम् ॥ ३०½ ॥

अभिप्राय यह हुआ कि—एक ही चैतन्य के समष्टि और व्यष्टि

के अभिमान-भेद के कारण भिन्नता होने से जीवों का भी अलग-अलग होने का भ्रम, 'सभी जीव सर्वमय हैं' इस श्रुति के अनुसार पृथक्त्व न होने के कारण, सीमित व्यष्टि के अभिमान से किया गया माना जायेगा। वहाँ समष्टि तथा व्यष्टि दोनों में स्थूलता की समानता के आधार पर अभेद का चिन्तन करने पर पृथक्त्व अभिमान की निवृत्ति हो जाने से पृथकता के भ्रम का निवारण हो जाने पर उनके दोनों अभिमानियों विश्व तथा वैराज में भी अभेद का दर्शन होगा। इसी को 'यह तीनों अकार हैं' इत्यादि शब्दों द्वारा कहा गया है।। ३०३ ।।

आ. गि. त्रि.—ननु वैराजे शरीरे जागरिते च प्रत्यगात्मा कथं 'अहं मम' इत्यभिमानभाक् भवितुमुत्सहते ? न हि तस्यासङ्गोदासीनस्य क्वचिदहङ्कारो ममकारो वा युज्यते, तत्र वस्तुतोऽभिमानाभावेऽपि कल्पनया तदुपपत्तेरित्यभिप्रेत्य स्थूले शरीरे जागरिते चाहम्ममाभिमानवतः संज्ञां दर्शयन्नध्यात्माधिभूताधिदैवविभागाभावं सूचयति—**तदुभयेति**। ननु वैराजशरीरं जागरितं तदुभयाभिमानी चेति कथमेतत्त्रयमद्वैतवादिभिरास्थीयते, तत्राह—**एतत्त्रयमिति**।

वैराज शरीर और जागरित (अवस्था दोनों) में प्रत्यगात्मा कैसे 'अहं मम' इस प्रकार के अभिमान वाला होने का साहस करता है ? क्योंकि असङ्ग और उदासीन उसका कहीं भी अहङ्कार या ममकार युक्त नहीं हैं, वहाँ वस्तुतः अभिमान न होने पर भी कल्पना से उसकी उपपत्ति हो जाती है' यह ध्यान में रखकर स्थूल शरीर और जागरित में भी 'अहं-मम' के अभिमान वाले की संज्ञा प्रदर्शित करते हुये अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव विभागों का अभाव सूचित कर रहे हैं—**तदुभयेति**—उन दोनों-इत्यादि से। वैराजशरीर, जागरित और उन दोनों का अभिमानी ये तीनों अद्वैतवादियों के द्वारा कैसे स्थापित किये जा सकते हैं ? इस विषय में कहा है—**'एतत्त्रयमिति'**—ये तीनों-इत्यादि।

रा. त.—यत्तु "तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः" इत्युक्तं तदयुक्तम्, आत्मनोऽभिमानाभावादिति शङ्कते—**नन्विति**। वैराजे शरीरे अहमिति,

जागरिते ममेति विभागः। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इति श्रुतिमाश्रित्यात्मनोऽभिमानाभावं दर्शयति—**न हीति**।

"और जो यह कहा गया है कि 'उन दोनों का अभिमानी आत्मा विश्व है' वह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा को अभिमान नहीं होता है" यह आशङ्का **'ननु'** इत्यादि से की गई है। ('अहंमम' के प्रयोग में) वैराज शरीर में 'अहम्' तथा जागरित में 'मम' यह विभाग (समझना चाहिये।) 'यह पुरुष तो असङ्ग है' इस श्रुति के सहारे—**'न हि'** इत्यादि के द्वारा आत्मा में अभिमान का अभाव दिखला रहे हैं।

सिद्धान्ती अभिमानस्यावास्तवत्वमङ्गीकृत्य काल्पनिकोऽभिमान इति परिहरति—**तत्रेति**। अध्यात्माधिभूताधिदैवविभागाभावम्। वस्तुत इति शेषः। द्वैतापत्तिमाशङ्कते—**नन्विति**। वास्तवाभेदमाश्रित्य परिहरति—**तत्राहेति**।

सिद्धान्ती अभिमान की अवास्तविकता को स्वीकार करके अभिमान काल्पनिक है इस प्रकार से मान कर—**तत्र** इत्यादि से (पूर्वपक्षी की शङ्का का) परिहार करता है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव विभागो का अभाव है। (यहाँ वाक्य में) 'वस्तुतः' पद शेष रह गया है, (उसे लगाकर अर्थ करना चाहिये।) **"ननु"** आदि से द्वैत की आपत्ति की आशङ्का करते हैं और वास्तविक अभेद के सहारे—**तत्राह** यह कहकर उसका परिहार करते हैं।

शां. अ.—**एतदुभयाभिमानी स्थूलदेहजाग्रद्द्वयाभिमानी आत्मा विश्वः विश्वसंज्ञः। एतत् त्रयं स्थूलदेहो जाग्रद्विश्वश्चेति त्रितयं अकारः ओंकारगताकारवाच्यम्। अत्रेदं बोध्यम्—वस्तुतोऽसङ्गोदासीनस्वभावमद्वितीयं चिद्वस्तु तथापि स्थूलोपाधिवशात्तदभिमानः, तेन च नाममात्रं चितो भेदो विश्व इति। नामरूपयोश्च मिथ्यात्वं 'वाचारंभणं विकारो नामधेयम्' इति श्रुतिसिद्धम्। अध्यात्मादिविभागस्तु विचित्रोपाधिकृत इति नायं वास्तवो भेदः। यतः स्थूलाभिमानी चेतन एक एव अत एवाकाररूपैकपदवाच्यतापि। वाच्यवाचकयोश्च तादात्म्यादेकतेति स्थूलोपाधिरेक एव। अनेन व्यष्ट्युपाधिर्जीवः, समष्ट्युपाधिरीशः, तावुभावप्यकारवाच्यौ इति तत्त्वंपदार्थवाच्यताप्यकारस्य दर्शिता। एषैव रीतिः स्वप्नसुषुप्त्योरपि बोध्या।**

'एतदुभयाभिमानी' (मूल में प्रयुक्त इस पद का अर्थ है) स्थूल-देह और जाग्रत् दोनों का अभिमानी, **'आत्माविश्वः'**—विश्वनाम का है। **'एतत्त्रयं'**—ये तीनों—स्थूलदेह, जाग्रत् और विश्व ये तीनों, **अकारः**—अकार हैं—ओङ्कार में स्थित अकार के वाच्य हैं। यहाँ यह समझना चाहिये—यद्यपि चिद् वस्तु वास्तव में असङ्ग, उदासीन-स्वभाव तथा अद्वितीय है, तथापि स्थूल-उपाधि के कारण उसका अभिमान होता है, और उसी से नाममात्र का चित् का भेद विश्व है। नाम और रूप का मिथ्यात्व तो 'वाचारम्भणं०-००-' नाम तो वाणी के द्वारा किया गया विकार है—इस श्रुति से सिद्ध है। अध्यात्म-आदि विभाग तो विचित्र उपाधि से कृत है अतः यह वास्तविक भेद नहीं है, क्योंकि स्थूल का अभिमानी चेतन एक ही है, अतः अकाररूप में एकपद से उसे कहा भी गया है। वाच्य और वाचक में तादात्म्य के कारण एकता होती है, इस लिये स्थूल-उपाधि एक ही है। इससे व्याष्टि-उपाधि जीव है, समष्टि-उपाधि ईश्वर है, वे दोनों भी अकार से वाच्य हैं, इस प्रकार 'तत्' और 'त्वं' पदों के अर्थ की वाच्यता भी अकार की दिखला दी गयी। यही रीति स्वप्न और सुषुप्ति की भी समझनी चाहिये।

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि तत्कार्यं च पञ्च प्राणाः, दशेन्द्रियाणि, मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। एतत्सूक्ष्मशरीरमात्मनः।

सु. वा.—ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ॥३१॥

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं और पाँच (ही) कर्मेन्द्रियाँ (भी) हैं ॥ ३१ ॥

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वा धीन्द्रियपञ्चकम्।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियपञ्चकम् ॥३२॥

श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, घ्राण तथा रसना (यह) पाँच ज्ञानेन्द्रियों का समूह है। वाक्, पाणि, पाद, पायु (= मलद्वार) और उपस्थ (= जननेन्द्रिय) (यह) पाँच कर्मेन्द्रिय समूह है ॥ ३२ ॥

वा. भ.—पादानां मात्राणां चाभेदं श्रौतक्रममनुसृत्यैव 'अकारमात्रं विश्वः स्यात्' इत्यादिना वक्ष्यामीत्यभिसन्धाय अपञ्चीकृतेत्यादिनोक्तं द्वितीयपादं व्याचष्टे—ज्ञानेन्द्रियाणीत्यादिना। श्रोत्रत्वगिति स्पष्टम् ॥ ३१-३२ ॥

पादों और मात्राओं का अभेद श्रुतिनिर्दिष्ट क्रम का अनुसरण करके ही 'अकार की मात्रा विश्व होगा' इत्यादि शब्दों द्वारा कहूँगा, ऐसा निश्चय करके 'अपञ्चीकृत' इत्यादि के द्वारा कहे गये द्वितीय पाद की व्याख्या—**'ज्ञानेन्द्रियाणि'** इत्यादि के द्वारा की जायेगी। 'श्रोत्रत्वक्०' यह वार्तिक स्पष्ट है ॥ ३१-३२ ॥

सु. वा.—मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
सङ्कल्पाख्यं मनोरूपं बुद्धिर्निश्चयरूपिणी ॥३३॥

मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त यह चार का समूह (अन्तःकरण है।) मन का स्वरूप सङ्कल्प है, बुद्धि निश्चय के स्वरूप-वाली है ॥ ३३ ॥

वा. भ.—मनो बुद्धिरिति। सङ्कल्पाख्यमिति। सङ्कल्पवृत्तिरूपेण परिणतमन्तःकरणं मन इत्यर्थः। निश्चयाख्यवृत्तिरूपेण परिणतमन्तःकरणं बुद्धिः ॥ ३३ ॥

'मनो बुद्धिः' (आदि से वार्तिक का आरम्भ है।) (उसमें) **'सङ्कल्पाख्यम्'** (पद आया है जिसका अर्थ है कि) सङ्कल्प-वृत्ति के रूप में परिणत अन्तःकरण मन है। निश्चय-नामक वृत्ति के रूप में परिणत अन्तःकरण बुद्धि है ॥ ३३ ॥

अभिमानात्मकस्तद्वदहङ्कारः प्रकीर्तितः।
अनुसन्धानरूपं च चित्तमित्यभिधीयते ॥३४॥

उसी प्रकार अहङ्कार अभिमान के रूप में विख्यात है और चित्त अनुसन्धान के रूपवाला कहा जाता है ॥ ३४ ॥

अभिमानात्मक इति। अभिमानवृत्तिरूपेण परिणतमन्तःकरणमहङ्कारः। पूर्वोत्तरानुसन्धानरूपवृत्तिमच्चित्तमित्यर्थः। "मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्। संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं

विषया इमे ॥" इत्यभियुक्तोक्तेः । तत्र गर्वोऽभिमानः, स्मरणं अनुसन्धानं, विषयाः साध्या वृत्तय इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

'अभिमानात्मक' इस (पद से वार्तिक प्रारम्भ होता है ।) अभिमान की वृत्ति के रूप में परिणत अन्तःकरण अहङ्कार है। पूर्वापर-विमर्शरूप वृत्ति से युक्त (अन्तःकरण) चित्त है, यह भाव है। 'मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त (ये) चारो (अन्तःकरण) हैं। संशय, निश्चय, अभिमान और स्मरण ये (इनके क्रमशः) विषय हैं।' क्योंकि ऐसा अभियुक्तो ने कहा है। वहाँ गर्व (का अर्थ) अभिमान है, स्मरण (का) अनुसंधान। विषय सिद्ध की जानेवाली वृत्तियाँ हैं, (उद्धरण में प्रयुक्त गर्व, स्मरण और विषय शब्दों का) यह अर्थ है ॥ ३४ ॥

सु. वा.—प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानाख्यस्तथैव च ।
समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः ॥३५॥

प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान ये पाँच प्राण की अवस्थायें विख्यात है ॥ ३५ ॥

वा. भ.—प्राणोऽपान इति स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

'प्राणोऽपान' (इससे प्रारम्भ होने वाला वार्तिक) स्पष्ट है ॥३५॥

सु. वा.—खं वाय्वग्न्यम्बुक्षितयो भूतसूक्ष्माणि पञ्च च ।
अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥३६॥

आकाश, वायु, तेज, जल (ये) पाँच सूक्ष्म भूत और अविद्या, काम तथा कर्म (से बने) लिङ्ग शरीर को 'पुर्यष्टक' समझा गया है ॥ ३६ ॥

खं वाय्विति । पुर्यष्टकमिति—एकैकं पञ्चकमेकैका पुरी, मनआदिचतुष्टयमेका पुरी, कामादिकं प्रत्येकमेकैका पुरीति पुर्यष्टकम् । एतच्च ज्ञानेन्द्रियादिकं जीवस्य भोगसाधनत्वात्तदुपाधित्वेन तदवस्थानप्रदेशत्वाच्च पुरीव राज्ञः पुरीत्यर्थः । "ज्ञानेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथा पराणि, कर्मेन्द्रियाणि मनआदिचतुष्टयं च । प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च, कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पुरी ॥" इत्यभियुक्तोक्तेः । अत्र वार्तिके अभियुक्तश्लोके चाविद्यातमश्शब्दौ पूर्वपूर्वभ्रमजन्यवासनारूपाविद्यापरौ, मूलाविद्यायाः कारणशरीरत्वेन सूक्ष्मशरीरान्तर्भावासम्भवात् । पूर्वपूर्वभ्रमजन्यवासनायामप्यविद्याशब्दः प्रत्युक्तो वाचस्पतिमिश्रैः "अनिर्वाच्याविद्याद्वितीयसचिवस्य" इत्यत्र । यद्यपि 'पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ॥ अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥' इति प्राणादिसप्तदशकमेव लिङ्गशरीरमित्यात्मबोधादावुक्तम् , अत्र च कामकर्मादीनामपि लिङ्गशरीरान्तर्भाव उच्यते 'एतत्सूक्ष्मशरीरं स्यात्" इति, तथाप्यात्मबोधादिश्लोकेषूपलक्षणपरत्वेन कामकर्मादीनामपि ग्रहणं स्वीकर्तव्यम् , अन्यथा तेषां शरीरत्रयेऽप्यन्तर्भावाभावेन शरीरत्रयापलापेऽपि तदपलापाभावप्रसङ्गात् । तथा च स्थूलप्रपञ्चः सर्वोऽपि स्थूलशरीरम् , सूक्ष्मप्रपञ्चः सर्वोऽपि सूक्ष्मशरीरं, मूलप्रकृतिः कारणशरीरमिति शरीरत्रयापलापे सर्वप्रपञ्चापलापसिद्धिरिति द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

'खं वायु' इत्यादि (वार्तिक की व्याख्या की जा रही है।) इसमें 'पुर्यष्टक' (पद की व्याख्या इस प्रकार है।) एक-एक पञ्चक (पाँच का समूह) एक-एक पुरी है। मन आदि चार का समूह एक पुरी है। कामादि में प्रत्येक एक-एक पुरी है, इस प्रकार आठ पुरियों का समूह (= पुर्यष्टक) है। ज्ञानेन्द्रियाँ हैं आदि में, जिसके वह जीव के भोग का साधन होने के कारण तथा उसकी उपाधि के रूप में उसके रहने का स्थान होने के कारण भी राजा की पुरी की भाँति, यह भी 'पुरी' है इसका यह अर्थ है। '(पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा इनसे भिन्न पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन आदि चारों का समूह, प्राण आदि पाँचो का समूह, आकाशादि का समूह, काम, कर्म और तमस् ये 'पुर्यष्टक' हैं।' ऐसा विद्वानों का मत है। यहाँ वार्तिक में तथा अभियुक्त के श्लोक में भी 'अविद्या' और 'तमस्' दोनों शब्द पहले-पहले के भ्रमों से उत्पन्न वासनारूपी अविद्या के वाचक हैं, क्योंकि मूलाविद्या के कारणशरीर होने से इनका सूक्ष्मशरीर में

अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। पूर्व-पूर्वभ्रमों से उत्पन्न वासना के अर्थ में भी 'अविद्या' शब्द की प्रत्युक्ति वाचस्पतिमिश्र के द्वारा 'अनिर्वाच्य अविद्या है सचिव के रूप में सहयोगिनी (द्वितीया) जिसकी' इस वाक्य में की गयी है। यद्यपि 'पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, और दस (= ५ ज्ञान + ५ कर्म) इन्द्रियों से युक्त अपञ्चीकृत भूतों से बना सूक्ष्म-अवयवों वाला भोग का साधन (सूक्ष्म-शरीर) है।' इससे प्राणादि सत्रह का समूह ही लिङ्गशरीर है ऐसा 'आत्म-बोध' आदि (ग्रन्थों) में कहा गया है, और यहाँ काम, कर्म आदि का भी लिङ्गशरीर में अन्तर्भाव कहा जा रहा है—एतत्० यह सूक्ष्मशरीर है—आदि द्वारा, तथापि 'आत्म-बोध' आदि के श्लोकों में उपलक्षण-परक के रूप में कर्म आदि का भी ग्रहण स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा उनका तीनों शरीरों में अन्तर्भाव न होने के कारण तीनों शरीरों की निवृत्ति हो जाने पर भी उनकी निवृत्ति का अभाव उपस्थित होने लगेगा। इस प्रकार सारा ही स्थूल-प्रपञ्च स्थूल-शरीर है, सारा का सारा सूक्ष्म-प्रपञ्च सूक्ष्मशरीर है, मूल-प्रकृति कारण-शरीर है, इन तीनों शरीरों की निवृत्ति होने पर सारे प्रपञ्च की निवृत्ति सिद्ध हो जाती है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

सु. वा.—एतत्सूक्ष्मशरीरं स्यान्मायिकं प्रत्यगात्मनः ॥३६½॥

यह प्रत्यगात्मा का मायानिर्मित सूक्ष्म-शरीर है ॥ ३६½ ॥

वा. भ.—एतदिति। एतत्पुर्यष्टकम्। तस्य निरसन-योग्यतां दर्शयितुं मायिकमिति विशेषणम् ॥ ३६½ ॥

'एतद्' (वार्तिक के आदि में आया पद है।) 'एतत्' का अभिप्राय है 'पुर्यष्टक' से। उसके निवारण की योग्यता को प्रदर्शित करने के लिये 'मायिक' यह विशेषण (लगाया गया) है ॥ ३६½ ॥

आ. गि. वि.—तदेवमाद्यमकारं निरूप्य मध्यममुकारं निरूपयितुं सूक्ष्मप्रपञ्चं कथयति—**अपञ्चीकृतेति।** अयमर्थः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः तन्मात्राणि सूक्ष्मभूतानि परस्पर-मनुप्रवेशशून्यान्यपञ्चीकृतानि पञ्चसंख्याकानि पूर्ववन्महान्ति च भवन्ति। तेषां च कार्यं कर्मेन्द्रियपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं

प्राणादिवायुपञ्चकं बुद्धिर्मनश्चेत्यन्तःकरणद्वयमिति सप्तदशकं लिङ्गम्। तच्चेदं कयाऽपि विधया प्रतीचो गमकत्वादेव लिङ्गमिति व्याख्यायते। तत्कार्यत्वमुक्त्वा भौतिकत्वमभि-दधानो लिङ्गस्याहङ्कारिकत्वमप्रामाणिकमिति मन्यते। तदेतदपञ्चीकृतभूतपञ्चकं लिङ्गम्। तच्च सप्तदशकं पूर्वोक्तं भूतकार्यतया भौतिकम्। सर्वमेतदेकीकृत्य हिरण्यगर्भशब्दे-नोच्यत इति हिरण्यगर्भस्यापि विराडात्मवन्नात्मत्वम्, किन्तु तदुपाधित्वमित्यभिप्रेत्याह—**एतदिति।**

इस प्रकार उस आद्य-अकार का निरूपण करके मध्यम-उकार को निरूपित करने के लिये सूक्ष्म-प्रपञ्च को बतला रहे हैं—**अपञ्चीकृत इति**—अपञ्चीकृत इत्यादि से। उसका अभिप्राय यह है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्र सूक्ष्मभूत एक दूसरे में अप्रविष्ट, अपञ्चीकृत, संख्या में पाँच और पूर्व की भाँति महान् होते हैं। उनके कार्य पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण आदि पाँच वायु तथा बुद्धि और मन ये दो अन्तःकरण (ये) सत्रह लिङ्ग (शरीर) हैं। और वह किसी प्रकार से आभ्यन्तर (आत्मा) का सूचक होने से ही 'लिङ्ग' के रूप में जाना जाता है। उसकी कार्यरूपता को कहकर (उसकी) भौतिकता को बतलाते हुये 'लिङ्ग की आहङ्का-रिकता अप्रामाणिक है' यह मत प्रकट करते हैं। वही यह अपञ्चीकृत पाँचभूतों का समूह 'लिङ्ग' है। पहले कहा गया सत्रह का वह समूह भी भूतों का कार्य होने से भौतिक है। यह सब एकमें मिलाकर 'हिरण्यगर्भ' शब्द से वाच्य होता है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ की भी आत्मता विराडात्मा की भाँति नहीं (सिद्ध) होती है, किन्तु उसका उपाधित्व (सिद्ध) होता है, यह लक्ष्य करके—**'एतद् इति'**-(आदि शब्द) कहे गये हैं।

रा. त.—वृत्तानुवादपुरःसरमुत्तरग्रन्थमवतारयति—**तदेवमिति।** अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानीति पदतात्पर्यं कथयति—**अयमर्थ** इत्यादिना। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्त्वपञ्चीकृतानि भूतानीति योजना। तेषां सूक्ष्मत्वमाह—**तन्मात्राणीति।** तेषामाकाशादीनां मात्राणि कारणानि। तेषामपञ्चीकृतत्वं दर्शयति—**परस्परेति। पूर्ववदिति,** स्वकार्यव्यापित्वा-

दित्यर्थः। तेषां कार्यमाह—तेषां चेति। वाक्पाणिपादपायूपस्थानीति कर्मेन्द्रियाणि, श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि ज्ञानेन्द्रियाणि, प्राणादिवायुपञ्चकम्। चित्ताहङ्कारयोर्बुद्धिमनसोरन्तर्भावमभिप्रेत्याह—अन्तःकरणद्वयमिति। तेषां लिङ्गशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह—प्रतीचो गमकत्वादिति। प्रतीचः प्रत्यगात्मनो गमकत्वाज्ज्ञापकत्वात्। लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गमिति व्युत्पत्त्या गमकं लिङ्गमिति प्रसिद्धेः। कयाऽपि विधयेति, केनापि प्रकारेण इन्द्रियाणि स्वप्रवृत्त्या स्वप्रेरकमनुमापयन्तीत्यर्थः। तत्कार्यत्वमिति तस्य सप्तदशावयवात्मकस्य लिङ्गस्य अहङ्कारिकत्वमहङ्कारविषयत्वमित्यर्थः। अप्रामाणिकमितीति। यत इदं भूतकार्यमतोऽस्मिन्नहमित्यात्माभिमानोऽप्रामाणिक इत्यर्थः। भूतभौतिकयोः कार्यकारणत्वेनाभेदमाश्रित्य हिरण्यगर्भशब्देन ब्रूत इत्याह—तदेतदिति। भौतिकत्वे हेतुः—भूतकार्यतयेति। हिरण्यगर्भ एव प्रत्यगात्मतया प्रत्येतव्य इति नेत्याह—हिरण्यगर्भस्यापीति हिरण्यगर्भस्यापि नात्मत्वं, किन्तु विराडात्मवत्तदुपाधित्वमित्यन्वयः। तस्यात्मन उपाधिस्तदुपाधिः, तस्य भावस्तत्त्वमिति यावत्।

कहे गये का अनुवाद करते हुये बाद की पंक्तियों का अवतरण—**तदेवमिति** आदि शब्दों में कर रहे हैं। 'अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतानि' इस पद का तात्पर्य कहते हैं—**'अयमर्थ'** इत्यादि से। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध अपञ्चीकृत भूत हैं, इस प्रकार से पदयोजना करनी चाहिये। उसकी सूक्ष्मता को—**तन्मात्राणि** आदि से कहते हैं। उन आकाश आदि की मात्रायें अर्थात् कारण। उनकी अपञ्चीकृतता को दिखलाते हैं—**परस्पर** इत्यादि से। **'पूर्ववत्'** इसका अर्थ है—'पहले की भाँति' अर्थात् अपने कार्यों में व्यापक होने के कारण। उनके कार्यों को—**'तेषां च'** इत्यादि से कहा है। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये कर्मेन्द्रियाँ हैं, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, प्राणादि पाँच वायु हैं। चित्त और अहङ्कार का बुद्धि और मन में अन्तर्भाव लक्ष्य करके—**'अन्तःकरणद्वयम्'** इत्यादि कहते हैं। उनको 'लिङ्ग'-शब्द से कहने का कारण—**प्रतीचोगमकत्वात्** आदि पदों से कहते हैं। **'प्रतीच्'** अर्थात् प्रत्यगात्मा का **'गमकत्वात्'** = ज्ञापक होने से। 'लीन अर्थ को बतलाता है इसलिये लिङ्ग है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार गमक ही लिङ्ग के रूप में प्रसिद्ध है। **'कयाऽपि विधया'** का अर्थ है कि किसी भी प्रकार से इन्द्रिय

अपनी प्रवृत्ति के द्वारा अपने प्रेरक का अनुमान करा देती हैं। **'तत्कार्यत्वम्'** का अर्थ है—उस सत्रह अवयवों वाले लिङ्ग की अहङ्कारिता अर्थात् अहङ्कार का विषय होना। **'अप्रामाणिकम्'** इसका अर्थ है—चूँकि यह भूतों का कार्य है, अतः इसमें 'अहम्' यह आत्माभिमान प्रामाणिक नहीं है। भूत और भौतिक दोनों के कार्य और कारण के रूप में अभेद का आश्रय लेकर हिरण्यगर्भ शब्द से कह रहे हैं। इसी को **तदेतद्** इत्यादि से कहा है। भौतिक होने में हेतु बतलाया है—**'भूतकार्यतया'** इस शब्द से। 'हिरण्यगर्भ को ही प्रत्यगात्मा के रूप में समझना चाहिये' ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं—'नहीं'। **'हिरण्यगर्भस्यापि'** आदि हिरण्यगर्भ की भी आत्मता नहीं है, अपितु विराडात्मा की भाँति उसकी भी उपाधिता ही है, ऐसा अन्वय (समझना चाहिये)। उस आत्मा की उपाधि **'तदुपाधि'** है और 'उसका भाव' **'तत्त्व'** है।

शां. त.—**अपञ्चीकृतेति स्पष्टोऽर्थः।**

'अपञ्चीकृत'० इसका अर्थ स्पष्ट है।

करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्न इत्युच्यते।

सु. वा.—**करणोपरमे जाग्रत्संस्कारोत्थं प्रबोधवत् ॥३७॥**
ग्राह्यग्राहकरूपेण स्फुरणं स्वप्न उच्यते ॥३७½॥

इन्द्रियों के प्रवृत्ति से रुक जाने पर जाग्रत्-काल के संस्कारों से उद्भूत जागरण की भाँति ग्राह्य-ग्राहक रूप से (विषयों का) स्फुरण (= प्रतीति) 'स्वप्न' कहा जाता है॥ ३७½ ॥

वा. भ.—एवं शरीरं निरूप्य तस्य यस्यामवस्थायां भोगसाधनत्वं तामवस्थां दर्शयति—करणोपरमे इति। करणानां चक्षुरादीनामुपरमे सति जाग्रदनुभवजन्यसंस्कारोत्थमन्तःकरणवृत्तिरूपप्रबोधयुक्तं यद्ग्राह्यग्राहकरूपेण स्फुरणं चैतन्यमस्ति तद्विषयभूतरथगजादितद्विषयकान्तःकरणवृत्तिश्चेति द्वयं स्वप्न इत्यर्थः। मूले "जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः

स्वप्नः" इत्युक्तत्वात्, तदनुसारेणैव व्याख्यातम्। अन्यथा चैतन्यस्य स्वप्नावस्थान्तर्भावे तस्याप्यपलापापत्तेः॥ ३७½ ॥

इस प्रकार शरीर का निरूपण करके उसकी जिस अवस्था में भोगसाधनता होती है, उस अवस्था को प्रदर्शित कर रहे हैं—**'करणोपरमे'** इत्यादि द्वारा। करणों अर्थात् चक्षु-आदि के उपरत होने पर जाग्रत् काल के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से उठा, अन्तःकरण की वृत्तियों के रूप में प्रबोध से समन्वित, ग्राह्य और ग्राहक के रूप में जो स्फुरण, चैतन्य, है, उसके विषय बने रथ, गज आदि और उसके विषय से युक्त अन्तःकरण की वृत्ति ये दोनों स्वप्न है, यह कहने का अर्थ है। मूल में 'जागरित के संस्कार से उत्पन्न विषय-सहित ज्ञान स्वप्न है' ऐसा कहे जाने से, उसके अनुसार ही व्याख्या की गयी है, अन्यथा चैतन्य का स्वप्नावस्था में अन्तर्भाव हो जाने पर उसके भी अपलाप का प्रसङ्ग होने लगेगा॥ ३७½ ॥

आ. गि. वि.—अथाधुना चास्य भोगायतनत्वं यत्र तमवस्थाविशेषं लक्षयति—**करणेष्विति**। 'प्रत्ययः स्वप्नः' इत्युक्ते सुषुप्तावतिप्रसक्तिर्मा भूदित्युक्तं **सविषयः स्वप्न इति**। वासनामयविषयसहितः स्वप्नेऽपि प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। जागरितव्यावृत्त्यर्थमुक्तं—**करणेषूपसंहृतेष्विति**।

उसके बाद अब जहाँ इसका भोगायतन होना सिद्ध होता है, उस अवस्थाविशेष को **करणेष्विति**—आदि से लक्षित कर रहे हैं। **'प्रत्ययः स्वप्नः'**—प्रतीति स्वप्न है—यह कहने पर सुषुप्ति में अतिव्याप्ति न हो जाये, इसलिये (विशेषण)—**'सविषयः स्वप्नः'**-विषयों सहित स्वप्न में होती है—इत्यादि लगा दिया है, जिसका अर्थ है कि—स्वप्न में भी वासनामय विषयों के साथ ज्ञान (= प्रत्यय, प्रतीति) होता है। (लक्षण में) जागरित का समावेश न हो जाये इसलिये—**'करणेषूपसंहृतेषु'** ये शब्द कहे गये हैं।

ननु तर्हि करणाभावात्कथमयं समुद्भवेदित्याशङ्क्याह—**जागरितेति**। संस्कारग्रहणं न कारणान्तरपरिसंख्यार्थं, कारणान्तरस्यादृष्टादेरिष्टत्वादिति द्रष्टव्यम्।

तब भला करण के अभाव में यह प्रत्यय कैसे उत्पन्न हो सकता है, ऐसी आशङ्का करके—**जागरित०'**—इत्यादि भी कहा है। यहाँ 'संस्कार' का ग्रहण किसी दूसरे कारण के परिवर्जन के लिये नहीं है, क्योंकि अदृष्टादि अन्य कारणों का होना तो अभीष्ट ही है, ऐसा समझना चाहिये।

रा. त.—हिरण्यगर्भोपाधिकस्यात्मनोऽपि भोगः किं जागरिते, अथवा अवस्थान्तर इति जिज्ञासायामवस्थान्तरं दर्शयति—**अथाधुनेति**। करणेषूपसंहृतेषु सविषयः प्रत्ययः स्वप्न इति स्वप्नलक्षणम्। स्वप्नावस्थायां विषयाभावात् सविषयत्वाभावमाशङ्क्याह—**वासनेति**। **करणाभावे** प्रत्ययानुदयमाशङ्कते—**तर्हीति**। संस्कारस्यैव करणत्वान्न करणाभाव इति परिहरति—**जागरितेति**। कश्चिदाह स्वप्नः स्मृतिरिति। स प्रष्टव्यः स्मृतेः किं लक्षणमिति, संस्कारजन्यत्वमिति चेत्, प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिः। तन्मात्रजन्यत्वं तु प्रकृते नास्तीत्यत आह—**संस्कारग्रहणमिति**। परिसंख्या परिवर्जनम्। **अदृष्टादेरिति**, आदिशब्दाद्दोषो गृह्यते।

हिरण्यगर्भ की उपाधि वाले आत्मा का भोग क्या जागरित में होता है, अथवा किसी दूसरी अवस्था में? ऐसी जिज्ञासा होने पर दूसरी अवस्था को प्रदर्शित करते हैं—**अथाधुना**—इत्यादि से। करणों के विरत हो जाने पर विषय सहित प्रतीति स्वप्न है, यह स्वप्न का लक्षण है। स्वप्नावस्था में विषय का अभाव होने से विषय सहित अभाव की आशङ्का करके—**वासना**—इत्यादि कहा है। करण के अभाव में प्रत्यय की अनुत्पत्ति की आशङ्का—**तर्हि**—इत्यादि से करते हैं। संस्कार के ही कारण होने से करण का अभाव नहीं है, इस प्रकार से—**जागरित**—इत्यादि के द्वारा परिहार करते हैं। किसी ने कहा है कि 'स्वप्न स्मृति है।' उससे पूछना चाहिये कि स्मृति का लक्षण क्या है? यदि वह कहे कि 'संस्कार से उत्पन्न होना' (स्मृति का लक्षण है तो) प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति होगी। तन्मात्र से उत्पन्न होना तो प्रस्तुत प्रसङ्ग में है नहीं, इसी से—**संस्कारग्रहणम्**—इत्यादि कहा गया है। परिसंख्या का अर्थ है परिवर्जन—हटाना—। **"अदृष्टादेः"** में 'आदि' शब्द से दोष का ग्रहण होता है।

शां. अ.—**करणेष्विति स्पष्टम्**।

'करणेषु'० करणों में इत्यादि स्पष्ट है।

तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः । एतत् त्रयमुकारः ।

सु. वा.–अभिमानी तयोर्यस्तु तैजसः परिकीर्तितः ॥३८॥

जो उन दोनों (स्वप्न तथा सूक्ष्म शरीर) का अभिमानी है, (वह) 'तैजस' (के नाम से) विख्यात है ॥ ३८ ॥

वा. भ.––एवं शरीरमवस्थां चोक्त्वा तदभिमानिनं दर्शयति––अभिमानीति । तयोः स्वप्नसूक्ष्मशरीरयोः । तैजस इति, तेजसि वासनायामभिमानित्वेन निर्वृत्तो भवतीति तैजस इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार शरीर और अवस्था को कह कर उनके अभिमानी को प्रदर्शित करते हैं––'**अभिमानी**'–इत्यादि द्वारा। उन दोनों का अर्थात् स्वप्न और सूक्ष्म शरीरों का। '**तैजस**' यह जो है वह तेज अर्थात् वासना में अभिमानी के रूप में सम्पन्न होता है इसलिये 'तैजस' है, इसका यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

सु. वा.––हिरण्यगर्भरूपेण तैजसं चिन्तयेद् बुधः॥३८½॥

बुद्धिमान् पुरुष तैजस का चिन्तन 'हिरण्यगर्भ' के रूप में करे ॥ ३८½ ॥

वा. भ.––हिरण्यगर्भेति । अत्र हिरण्यगर्भशब्देन समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी सूत्रात्मोच्यते । यथा व्यष्टिभूतपत्र-पुष्पशाखादिकं समष्टिभूतवृक्षरूपेण पश्यति "एको वृक्षः" इति, तथा व्यष्टिभूतसूक्ष्मशरीराभिमानिनमात्मानं व्यष्टिसूक्ष्मशरीरा-भिमानं हित्वा समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानित्वेन ध्यायेदि-त्यर्थः ॥ ३८½ ॥

'हिरण्यगर्भ' इस (पद से प्रारम्भ वार्तिकार्ध की व्याख्या की जा रही है।) यहाँ हिरण्यगर्भशब्द से समष्टि-सूक्ष्मशरीर का अभिमानी सूत्रात्मा कहा जा रहा है। जैसे व्यष्टि रूप में विद्यमान पत्र, पुष्प, शाखा आदि का समूह समष्टिभूत वृक्ष के रूप में 'एक वृक्ष है' ऐसा दिखाई पड़ता है––उसी प्रकार व्यष्टिभूत सूक्ष्मशरीर के अभिमानी

आत्मा का व्यष्टि के सूक्ष्मशरीर के अभिमान को छोड़कर समष्टि के सूक्ष्मशरीर के अभिमानी के रूप में ध्यान करना चाहिये ॥ ३८½ ॥

आ. गि. वि.––इदानीं हिरण्यगर्भशरीरे स्वप्ने चाहम्म-माभिमानवतः संज्ञां सङ्गिरते–**तदुभयेति** । तैजसस्तेजसि वासनायामभिमानितया निर्वृत्तो भवतीति व्युत्पत्त्योच्यते । न च सूक्ष्मशरीरं स्वप्नावस्था च तयोरभिमानीत्येतत्त्रित-याङ्गीकारेण द्वैतमाशङ्कितव्यमित्याह–**एतत्त्रयमुकार** इति ।

इस समय हिरण्यगर्भशरीर तथा स्वप्न में 'अहं' और 'मम' के अभिमानी की संज्ञा कही जा रही है––**तदुभय**–इत्यादि द्वारा। 'तेजस् अर्थात् वासना में अभिमानी के रूप में सम्पन्न होने वाला' इस व्युत्पत्ति से 'तैजस' कहा जाता है। सूक्ष्मशरीर, स्वप्नावस्था और उनके अभिमानी इन तीनों को स्वीकार करने के कारण द्वैत की आशङ्का नहीं करनी चाहिये, इसीलिये––'**एतत् त्रयमुकारः**' यह कहा गया है।

रा. त.––न चादृष्टस्य संस्कारोद्बोधकत्वेनान्यथासिद्धिरिति वाच्यम्, सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वव्याहतिप्रसङ्गादिति । संज्ञां सङ्गिरते व्यव-हारासाङ्कर्यायेति शेषः । तैजसत्वं निर्वक्ति––तेजसीति । निर्वृत्तः तृप्तः । द्वैतापत्तिं परिहरति––न चेति ।

संस्कार के उद्बोधक के रूप में अदृष्ट की अन्यथा-सिद्धि है, ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि सभी उत्पत्ति से युक्तों में निमित्त-कारणता के निषेध की उपस्थिति होने लगेगी। 'संज्ञा को कह रहे हैं' (के आगे) 'व्यवहार में सङ्करता न होने देने के लिये' इतना शेष है, (उसका योग कर लेना चाहिये।) '**तेजसि**'–आदि से तैजसता का निर्वचन करते हैं। निर्वृत्त का अर्थ तृप्त है। '**न च**' इससे द्वैतापत्ति का निवारण करते हैं।

शां. अ.––**तेजो नाम वासना तस्यामभिमानितया निर्वृत्तस्तैजसः । प्राणमयकोशः (प्राणपञ्चककर्मेन्द्रिययुक्तं), मनोमयकोशः मनोयुक्तं धीन्द्रियैः, विज्ञानमयकोशः बुद्धिर्युक्ता धीन्द्रियैः, एतत्कोशत्रययुक्तं सूक्ष्मशरीरं तदुपाधिकस्तैजससंज्ञं इत्युक्तम् ।**

तेज है वासना, उसके अभिमानी के रूप में सम्पन्न 'तैजस' है। प्राणमयकोश (पञ्चप्राण तथा कर्मेन्द्रियों से युक्त), मनोमयकोश-ज्ञानेन्द्रियों के साथ युक्त मन, विज्ञानमयकोश = ज्ञानेन्द्रियों से युक्त बुद्धि, इन तीनों कोशों से युक्त सूक्ष्मशरीर है, उसकी उपाधिवाला तैजस-संज्ञक है, यह कहा गया है।

शरीरद्वयकारणमात्माज्ञानं साभासमव्याकृत-मित्युच्यते। एतत्कारणशरीरमात्मनः।

सु. वा.–चैतन्याभासखचितं शरीरद्वयकारणम् ॥ ३९ ॥
आत्माज्ञानं तदव्यक्तमव्याकृतमितीर्यते ॥ ३९½ ॥

चैतन्य के आभास से संयुक्त, (स्थूल एवं सूक्ष्म) दोनों शरीरों का कारणभूत जो आत्मविषयक 'अज्ञान' है, वही अव्यक्त, अव्याकृत कहा जाता है ॥ ३९½ ॥

वा. भ.–एवं सूक्ष्मशरीरं स्वप्नावस्थां तदभिमानिनं च उकारार्थमुक्त्वा मकारार्थं वक्तुं कारणशरीरं तस्य भोगसम्पादि-कामवस्थां तदभिमानिनं च दर्शयति–चैतन्येति। केवला-ज्ञानस्य शरीरद्वयकारणत्वासम्भवाच्चैतन्याभासखचितमित्युक्तं, चैतन्यप्रतिबिम्बसहितमित्यर्थः। आत्माज्ञानमिति। अत्र यदित्यध्याहारः। यत् शरीरद्वयकारणमज्ञानमस्ति तदव्यक्तम-व्याकृतमिति च ईर्यते इति सम्बन्धः ॥ ३९½ ॥

इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीर, स्वप्नावस्था और उनके अभिमानी उकार के अर्थ को कह कर, मकार के अर्थ को कहने के लिये, कारण शरीर, उसके भोगों को सम्पन्न कराने वाली अवस्था और उसके अभिमानी को **'चैतन्य'** आदि पदों से दिखला रहे हैं। केवल अज्ञान की ही दोनों शरीरों की कारणता सम्भव न होने से **'चैतन्याभास-खचितम्'** चैतन्य के आभास से युक्त–यह पद (विशेषण के रूप में) कहा गया है, जिसका अर्थ है–चैतन्य के प्रतिबिम्ब के सहित। **'आत्माज्ञानम्'** उसका (अर्थ कह रहे हैं।) यहाँ 'यत् (= जो) इस पद का अध्याहार–पहले से ग्रहण कर लिया गया है। अर्थात् जो

दो शरीरों का कारण अज्ञान है, वह अव्यक्त और अव्याकृत इन शब्दों से कहा जाता है, इस प्रकार (यत् का) सम्बन्ध है ॥ ३९½ ॥

आ. गि. वि.–नन्वकारात्मकस्थूलशरीरस्योकारात्मक-सूक्ष्मशरीरस्य च पारमार्थिकत्वाभ्युपगमे द्वैतता स्यादिति, नेत्याह–**शरीरद्वये**ति। कथं पुनरात्माश्रयमात्मविषयं चाज्ञानं कार्याय पर्याप्तम्? अचेतनत्वादिति तत्राह–**साभास**मिति। कुलालाद्यधिष्ठितं हि मृदादि घटादिकं कुर्वदुपगम्यते। तद्वच्चि-दाभासव्याप्तमज्ञानं शरीरद्वयाकारेण परिणमते विवर्त्तते इत्यर्थः। "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इत्यादिश्रुतावव्या-कृतस्य कारणत्वश्रुतेः। कथमात्माज्ञानस्य तु तदुक्तमित्या-शङ्क्य तत्रैवाव्याकृतशब्दप्रयोगान्नैवमित्याह–**अव्याकृत**मिति।

'अकारात्मक स्थूल-शरीर और उकारात्मक सूक्ष्म-शरीर की पारमार्थिकता स्वीकार करने पर द्वैतता होगी,' 'नहीं,' इसके (उत्तर) में **'शरीरद्वय** इत्यादि' कहा गया है। फिर 'आत्मा में आश्रित रहने वाला आत्मा-विषयक अज्ञान कार्य करने में कैसे समर्थ होगा, क्योंकि वह तो अचेतन है?' इस प्रश्न के उत्तर में–**साभासम्**–इत्यादि कहा गया है। कुम्हार-आदि से अधिष्ठित मिट्टी आदि घटादि बनाते हुये सङ्गत प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार चित् के आभास से व्याप्त अज्ञान दोनों शरीरों के आकार में परिणत होता है–विवर्त के रूप में भासित होता है, यह कहने का तात्पर्य है, क्योंकि 'तद्धेदं०'–तब तो केवल यह 'अव्याकृत' ही था–इत्यादि श्रुति में 'अव्याकृत' की कारणता सुनी जाती है। 'आत्म विषयक अज्ञान को ही वह कैसे कहा गया है' यह आशङ्का करके 'क्योंकि वहाँ पर अव्याकृत शब्द का प्रयोग होने से वैसा नहीं कहा जा सकता' (इसके उत्तर में)–**अव्याकृतमिति** कहा गया है।

रा. त.–तदेवमकारोकारनिरूपणं सप्रपञ्चं व्याख्याय मकार-निरूपणमवतारयति–**नन्विति**। स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चरूपकार्यस्य तत्कारण-मात्रत्वान्न द्वैतमिति परिहरति–**नेत्याहेति**। अज्ञानस्य प्रपञ्चोत्पाद-कत्वासम्भवमाशङ्कते–**कथमिति**। तत्र हेतुमाह–**अचेतनत्वादिति**।

पर्याप्तं अलं समर्थमिति यावत्। आत्माश्रयमात्मविषयमित्यस्यायं भावः--न अनात्मनः अज्ञानाश्रयता, तस्याज्ञानोत्पादितत्वेन तदाश्रयत्वायोगात्। न हि मृदुत्पादितो घटो मृदाश्रयो भवति। कथं तर्हि स्वप्रकाशचैतन्यमावरणरूपाऽविद्या समाश्रयेदिति चेत्, तत्र किं वास्तवमाश्रयत्वं न सम्भवति उत प्रातीतिकमपि। आद्येऽविवाद एव। द्वितीये 'अहमज्ञ' इत्यनुभवविरोधः। तथा चात्माश्रयमज्ञानमिति युक्तम्। तथाऽज्ञानविषयोऽप्यात्मैव। कथं तर्हि घटाज्ञानं पटाज्ञानमिति अनुभव इति चेत्, तदवच्छिन्नचैतन्यावरणादेवेति ब्रूमः। घटविषयकमज्ञानमित्यत्र घटावरणरूपमज्ञानमिति वक्तव्यम्। तच्च न सम्भवति, प्रमाणप्रयोजनयोरभावेन जडावरणस्य दुर्निरूपत्वात्। प्रसक्तप्रकाशप्रतिबन्धायावरणमपेक्षते। न कदाचिज्जडे प्रकाशः प्रसक्तः। विस्तृतमेतद्विवरणाचार्यैरिति नेह वदामः। उक्तं च--

इस प्रकार अकार और उकार के निरूपण की व्याख्या प्रपञ्च के साथ करके मकार के निरूपण का अवतार कर रहे हैं--'**ननु**' इस शब्द से। स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च रूपी कार्य के उसके कारणमात्र ही होने से द्वैत नहीं है, इस प्रकार का परिहार--**नैत्याह**-इत्यादि से किया जा रहा है। '**कथम्**' इस शब्द से अज्ञान की प्रपञ्च की उत्पादकता की असम्भावना की आशङ्का करते हैं। उसमें कारण कहा गया है--**अचेतनत्वाद्**-पद से। '**पर्याप्त**' का अर्थ है अलम् अर्थात् समर्थ, यह सब। '**आत्माश्रयम् आत्मविषयम्**' का भाव यह है--अनात्मा की अज्ञानाश्रयता नहीं है, क्योंकि उसके अज्ञान से उत्पादित होने के कारण उसके आश्रय होने का योग नहीं है। मिट्टी से उत्पन्न घड़ा मिट्टी का आश्रय नहीं होता है। 'तब कैसे स्वप्रकाश चैतन्य पर आवरणरूपिणी अविद्या आश्रय लेगी' यदि ऐसी आशङ्का करें तो हम पूछते हैं कि वहाँ क्या वास्तविक आश्रयता सम्भव नहीं होती है अथवा प्रातिभासिक भी। प्रथम दशा में तो विवाद ही नहीं है। दूसरी दशा में 'मैं अज्ञ हूँ' इस अनुभव का विरोध हो रहा है। इस प्रकार आत्मा पर आश्रित है अज्ञान, यह कहना ठीक है। उस प्रकार अज्ञान का विषय भी आत्मा ही है। 'फिर कैसे' 'घट का अज्ञान' 'पट का अज्ञान' इस प्रकार का अनुभव होता है' ऐसी शङ्का हो तो हम कहेंगे कि वह उससे अवच्छिन्न चैतन्य के आवरण के कारह ही होता है। 'घटविषयक अज्ञान' इस स्थान पर 'घटावरणरूप अज्ञान' ऐसा

कहना चाहिये। और वह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमाण और प्रयोजन दोनों के अभाव द्वारा जड़ आवरण का निरूपण कठिन होगा। प्राप्त प्रकाश के प्रतिबन्ध के लिये आवरण की अपेक्षा होती है। कभी भी जड़ में प्रकाश प्रसक्त नहीं होता। विवरणाचार्य ने इसकी विस्तार से व्याख्या की है इसलिये यहाँ हम नहीं कर रहे हैं। कहा भी गया है--

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥
(संक्षे० शारी० १।३।१६) इति।

"विभागों से रहित केवल चिति ही है जो आश्रयत्व और विषयत्व विभागों वाली है, क्योंकि पहले सिद्ध अन्धकार का बाद में न आश्रय होता है न विषय ही।"

अतोऽचेतनत्वादज्ञानं कथं कार्याय पर्याप्तमिति। उत्तरमाह--तत्राहेति। आ समन्ताद्भासत इत्याभासः चैतन्यं तेन सह वर्तते इति तथा, चैतन्याधिष्ठितमित्यर्थः। दृष्टान्तः स्पष्टः। प्रपञ्चद्वयकारणमात्माज्ञानमित्युक्तं तदयुक्तं, श्रुतिविरोधादित्याशङ्कां परिहरति--**तद्धेदमिति**। अव्याकृतं सुषुप्तिर्निद्रा मायाऽविद्या शक्तिरित्याद्यनेकशब्दवाच्यमात्माज्ञानमित्यर्थः।

इसलिये अचेतन होने के कारण अज्ञान कैसे कार्य में समर्थ होगा?' इसका उत्तर कहा गया है--**तत्राह** आदि से। 'आ' अर्थात् चारों ओर भासित होने वाला आभास है। चैतन्य उसके साथ रहता है, इसलिये वैसा है, इसका अर्थ है चैतन्य से अधिष्ठित। उदाहरण स्पष्ट है। 'दोनों प्रपञ्चों का कारण आत्मा के विषय में अज्ञान है, यह कहा गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति का विरोध है' इस आशङ्का का परिहार--'**तद्धेदम्** इत्यादि से करते हैं। आत्माविषयक अज्ञान अव्याकृत, सुषुप्ति, निद्रा, माया, अविद्या, शक्ति इत्यादि अनेक शब्दों से वाच्य है, यह कथन का अर्थ है।

शां. अ.--**अधुनाऽज्ञानाख्य आनन्दमयकोशकारणशरीरमात्मन इत्युच्यते--शरीरद्वयेति। स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयस्य कारणं परिणामिकारणं आत्मनिष्ठमज्ञानमात्माज्ञानं अव्याकृतं कारणावस्थापन्नं साभासं चित्प्रतिबिम्बसहितम् इति चोच्यते। न च निरवयवेऽज्ञाने निरवयवचेतनप्रतिबिम्बो न स्यादिति वाच्यं, निरवयवे खे निरवयवशब्दस्य**

प्रतिध्वनिरूपप्रतिबिम्बदर्शनात् । प्रतिबिम्बत्वं च तद्धर्मानुविधायित्वं, न तु दर्पणादिगतप्रतिबिम्बसदृशत्वम् । अनेनाभासवादोऽवच्छेदवादो कैश्चिदाचार्यैरभिमतः सोऽपि यथाधिकारं ग्राह्य इत्यपि सूचितम् । एतदज्ञानमात्मनः कारणशरीरम् ।

अब 'अज्ञान-नामक आत्मा का आनन्दमय कोश कारण शरीर है' ऐसा कहा जा रहा है, **शरीरद्वय**—इत्यादि से। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का कारण अर्थात् परिणामी कारण आत्मा में स्थिति अज्ञान आत्माज्ञान '**अव्याकृत**' = कारणावस्था को प्राप्त, **साभास** = चित् के प्रतिबिम्ब सहित ऐसा भी कहा जाता है। यह नहीं कहना चाहिये कि निरवयव अज्ञान में निरवयव चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं होगा, क्योंकि निरवयव आकाश में निरवयव शब्द का प्रतिध्वनि-रूप प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है। प्रतिबिम्बता उसके धर्म के अनुसार विधायिता है, न कि दर्पण आदि में रहने वाले प्रतिबिम्ब की सदृशता। इससे कुछ आचार्यों को मान्य (जो) आभासवाद अथवा अवच्छेदवाद है वह भी अधिकार के अनुसार ग्रहणीय है, यह भी सूचित हो गया। यह अज्ञान आत्मा का कारण शरीर है।

तच्च न सत्, नासत्, नापि सदसत्, न भिन्नं, नाभिन्नं, नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्, न निरवयवं, न सावयवं, नोभयं, किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम् ।

सु. वा.—**न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाभिन्नं न चात्मनः ॥४०॥**

(वह) न सत् है, न असत् और न सदसत् और आत्मा से न भिन्न है न अभिन्न ॥ ४० ॥

वा. भ.——ननु शरीरद्वयकारणत्वे तस्यार्थक्रियाकारित्वेन सत्ताऽवश्यंभावात्तत्कार्यशरीरद्वयस्यापि सत्तासम्भवात्तदपलापो न सम्भवतीत्याशङ्क्य नार्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वं, किन्त्वबाध्य-

१. 'न चोभयम्' इत्यन्यत्र मुद्रितपुस्तके पाठांतरम् ।

त्वम् । तच्चाधिष्ठानतत्त्वज्ञानबाध्यत्वादज्ञानस्य नास्ति इत्यभिप्रायेणाह——**न सदिति** । तर्हि शशशृङ्गादिवदसदेव स्यादित्याशङ्क्याह——**नासदिति** । अज्ञोऽहमित्यपरोक्षतया प्रतीयमानत्वान्नात्यन्तमसदित्यर्थः । न च सत्त्वनिषेधेऽसत्त्वम्, असत्त्वनिषेधे सत्त्वं वा वक्तव्यं, परस्परविरुद्धयोरन्यतरनिषेधे अन्यतरावश्यंभावादिति वाच्यम्, परमते घटात्यन्ताभावे घटतदत्यन्ताभावयोरभाववत्सत्त्वासत्त्वयोरप्यभावोपपत्तेरिति भावः । तर्हि केवलसदसद्रूपत्वाभावेऽपि तदुभयरूपत्वं स्यादित्याशङ्क्याह——**न सदसदिति** । एकस्यैकदैव सदसद्रूपत्वस्य विरुद्धत्वादित्यर्थः । ननु तदज्ञानमात्मनः सकाशाद्भिन्नमभिन्नं वा ? भिन्नत्वे अद्वैतहानिः, अभिन्नत्वे बाध्याज्ञानाभिन्नत्वेनात्मनोऽपि बाध्यत्वापत्तिरित्यत आह——**भिन्नाभिन्नमिति** । भिन्नत्वाभिन्नत्वयोः परस्परविरुद्धयोरप्यभावः पूर्ववदेव द्रष्टव्यः । यद्यपि 'न भिन्नं नाभिन्नं कुतश्चित्' इत्यस्य 'सतः असतः प्रत्येकं मिलितस्य च प्रतियोगित्वमुच्यते' इत्यानन्दगिरीये व्याख्यातं, तथापि वार्त्तिके आत्मन एव कण्ठरवेण भेदादिप्रतियोगित्वमुक्तमिति एवं व्याख्यातम् ॥ ४० ॥

'शरीरद्वय का कारण होने पर उसकी अर्थक्रियाकारिता के रूप में सत्ता की अनिवार्यता होने से कार्यरूपी दोनों शरीरों की भी सत्ता संभव होने लगने से, उनका निरास सम्भव नहीं होगा' ऐसी शङ्का करके (समाधान किया जा रहा है कि) अर्थक्रियाकारिता ही सत्ता नहीं है, अपितु बाधित न होना (सत्ता) है। और अधिष्ठान के वास्तविक ज्ञान से बाधित हो जाने के कारण अज्ञान का वही (= अबाध ही) नहीं है, इस आशय से कहा गया है—'**न सदिति**' वह सत् नहीं हैं आदि। तो खरगोश की सींग आदि की भाँति (वह) असत् ही हो सकता है, ऐसी आशङ्का करके कहा है कि—'**नासदिति**' वह असत् भी नहीं हैं। 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होने के कारण (वह) सर्वथा असत् नहीं है, ऐसा

अर्थ (समझना चाहिये ।) सत्त्व का निषेध होने पर असत्त्व अथवा असत्त्व का निषेध होने पर सत्त्व (होता है) ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो पदार्थों में से किसी एक का निषेध करने पर दूसरे की निश्चित उपस्थिति होती है ऐसा कहना चाहिये, और दूसरों को मान्य (या दूसरों के मत में) घट का अत्यन्ताभाव होने पर घट और उसके अत्यन्ताभाव में अभाव से युक्त सत्त्व और असत्त्व दोनों की ही अभावोपपत्ति होती है, यह अभिप्राय है, तब तो केवल सत् या असत् रूपता का अभाव होने पर भी उसकी उभयरूपता हो सकती है, ऐसी आशङ्का करके कहा गया है—'**न सदसदिति**' वह सत् और असत् दोनों नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु की एक ही समय सदसद्रूपता—सत् और असत् दोनों रूपों में होना विरुद्ध है, यह आशय है। 'वह अज्ञान आत्मा के सादृश्य से भिन्न है अथवा अभिन्न ? भिन्नता होने पर अद्वैतता क्षीण होती है, अभिन्नता होने पर बाध्य अज्ञान से अभिन्नता के कारण आत्मा को भी बाध्यता की प्राप्ति होगी; इसी शङ्का के निवारणार्थ) कहा है—**भिन्नाभिन्नमिति** वह भिन्नाभिन्न भी नहीं है इत्यादि। एक-दूसरे की विरोधी भिन्नता तथा अभिन्नता इन दोनों का भी अभाव पहले की भाँति समझना चाहिये। यद्यपि 'न भिन्नं नाभिन्नं कुतश्चित्' इस (मूल) की व्याख्या 'आनन्दगिरि' रचित (विवरण टीका) में की गयी है कि—'सत् और असत् पृथक्-पृथक् तथा सम्मिलित, का प्रतियोगित्व कहा जा रहा है।' तथापि वार्तिक में स्पष्ट रूप से (=कण्ठरवेण) आत्मा का ही भेद-आदि से प्रतियोगित्व कहा गया है, इसी से (मैंने = नारायणेन्द्रसरस्वती ने) इस प्रकार की व्याख्या की है ॥ ४० ॥

सु. वा.—न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम् ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ॥४१॥

(वह) न सावयव है न निरवयव और न उभयात्मक मिथ्या होने के कारण वह ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के ज्ञान से दूर किया जा सकता है ॥ ४१ ॥

वा. भ.—ननु सत्त्वादिना निर्वक्तुमशक्यत्वेऽपि सभागत्वादिना निर्वक्तुं शक्यत एवेत्याशङ्क्य सभागत्वं नाम सावयवत्वं

तच्चावयवरूपकारणसमवेतत्वं, तच्चाज्ञानस्यानादित्वेन नास्तीत्याह—न सभागमिति । तर्हि निर्भागं भविष्यतीत्याशङ्क्य तद्भागभूतानामंशभूतानां पृथिव्यादीनां विद्यमानत्वान्न निर्भागमित्याह—न निर्भागमिति । अत एव नोभयरूपमित्याह—न चापीति । ननु सर्वात्मना निर्वक्तुमशक्यत्वे तत्स्वरूपाधिगतिरेव न स्यात्, लक्षणाभावे लक्ष्याधिगतेरसम्भवादित्याशङ्क्य सत्त्वादिना निर्वचनाभावेऽपि आत्मज्ञानापनोद्यत्वादिरूपेण निर्वचनं सम्भवतीत्याह—ब्रह्मेति । ब्रह्मात्मैकविषयकाज्ञानस्यैवानर्थहेतुत्वात्तद्विषयकज्ञानमेव तन्निवर्तकमित्यर्थः । हेयमिति, नाश्यमित्यर्थः । ननु अन्यज्ञानेनान्यनाशः कथमित्याशङ्क्य मिथ्यात्वादधिष्ठानतत्त्वज्ञानेन तदज्ञानस्य निवृत्तिः सम्भवतीत्याह—मिथ्यात्वेति ॥ ४१ ॥

सत्त्व-आदि (शब्दों से) निर्वचन करना शक्य न होने पर भी, 'सभागत्व' आदि (पदों से) निर्वचन किया ही जा सकता है, ऐसी शङ्का करके 'सभागत्व सावयवत्व है और वह भी अवयवरूपी कारणों से समवाय-सम्बन्ध से युक्त होना है, और वह भी अज्ञान के अनादि होने के कारण नहीं है,' इसीलिये (वार्तिक में) कहा गया है कि वह—'**न सभागम् इति**।' 'तो फिर निर्भाग होगी' ऐसी आशङ्का करके उसके भागभूत (अर्थात्) अंशरूप में होने वाले पृथिवी-आदि के वर्तमान रहने से वह निर्भाग नहीं है, इसे कहा है—'**न निर्भागम्**' इत्यादि से। इसी से (वह) उभयरूप भी नहीं है, इसे कहा है '**न चापीति**' से। 'पूरी तरह से निर्वचन न किया जा सकने वाला होने पर उसके स्वरूप का अवबोध ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि लक्षण के अभाव में लक्ष्य का अवगम असम्भव होता है, ऐसी आशङ्का करके सत्त्व-आदि पदों से निर्वचन का अभाव होने पर भी आत्मज्ञान के द्वारा निरसनीयता आदि रूपों से निर्वचन सम्भव है। इसलिये कहा है—**ब्रह्मेति**। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व-विषयक अज्ञान के ही अनर्थों का कारण होने से उसके विषय का ज्ञान ही उसका निवर्तक होगा, कहने का अभिप्राय यह है।

(वार्तिक में प्रयुक्त) **'हेयम्'** इसका अर्थ है 'नाश्य'—'नष्ट किया जा सकने वाला'। 'दूसरे के ज्ञान से उससे भिन्न का नाश कैसे होगा' यह आशङ्का करके, मिथ्या होने के कारण अधिष्ठान का वास्तविक-ज्ञान हो जाने से उसके अज्ञान की निवृत्ति सम्भव होगी, यह (मन्तव्य प्रकट किया गया है)—**'मिथ्यात्वेति'**—मिथ्यात्व आदि (शब्दों से।) ॥ ४१ ॥

आ. गि. वि.—शरीरद्वयहेतोरव्याकृतस्यार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाभ्युपगमात्, तत्कार्यस्यापि तथात्वात्, अद्वैतानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—**तच्चेति**। तस्यापि सत्त्वे 'सदेव' इति ब्रह्मण्यवधारणायोगात् अभिधास्यमानज्ञानापनोद्यत्वानुपपत्तेश्च सत्त्वसिद्धिरित्यर्थः।

दोनों शरीरों के कारणभूत अव्याकृत को अर्थक्रियाकारी के रूप में मानने पर (उसकी) सत्ता-सिद्धि होने से, और उसके कार्य को भी वैसा ही मानने से, अद्वैत की असङ्गति होगी, ऐसी आशङ्का करके—**'तच्चेति'** आदि कहा गया है। जिसका अर्थ यह है कि 'यदि उसकी (अव्याकृत तथा उसके कार्य की) भी सत्ता मान लीं जाती है, तो 'सद् एव०'—सत् ही (पहले था) इस ब्रह्म में 'अवधारणा'-एव-निश्चय का योग न हो पाने से तथा कही जाने वाली अविद्या के द्वारा निरस्यता की अनुपपत्ति होने से सत्ता की असिद्धि होती है।

रा त.—नन्वज्ञानं सत् उत असत्, अथवा सदसद्भिन्नम्, उताभिन्नम्, अथवा भिन्नाभिन्नमिति निरूपणासहिष्णुतया अनिर्वचनीयत्वं प्रकटयितुमाह—शरीरेत्यादिना। तच्च न सदित्युक्तम्, तदाक्षिपति—**शरीरद्वयहेतोरिति**। तस्य सत्त्वे हेतुमाह—**अर्थक्रियाकारित्वेनेति**। ततः किमनिष्टमित्यत आह—**अद्वैतानुपपत्तिरिति**। तत्रोत्तरत्वेन मूलमवतारयति—**तच्चेतीति**। तदुपपादयति—**तस्यापीति**।

अज्ञान सत् है या असत् अथवा सदसत् से भिन्न या अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न इन निरूपणों के उपयुक्त न हो पाने के कारण अनिर्वचनीयता को प्रकट करने के लिए—**'शरीर'** इत्यादि से कह रहे हैं। वह सत् नहीं है, यह कहा जा चुका है, उसी पर—**'शरीरद्वयहेतोः'** इत्यादि से आक्षेप कर रहे हैं। उसके 'सत्' होने में कारण को **'अर्थक्रियाकारित्वेन'** इत्यादि से कह रहे हैं। उससे क्या अनिष्ट हो

जायेगा, उसके उत्तर में कहते हैं कि—अद्वैत की अनुपपत्ति हो जायेगी—**'अद्वैतानुपपत्तिः'** इत्यादि। उसी के उत्तर के रूप में—**'तच्च'** इत्यादि मूल को अवतरित कर रहे हैं। **'तस्यापि'** इत्यादि से उसका उपपादन भी कर रहे हैं।

नन्वग्रे सृष्टेः पूर्वं सदेवासीदिति सन्मात्रमेवावधारयति श्रुतिः, न तु ब्रह्मासीदिति। तत्कथं ब्रह्मण्यवधारणयोग इति चेत्, न, छान्दोग्ये "सदेव सोम्य" इत्युपक्रम्य, "तत्सत्यं स आत्मा" इत्युपसंहारात् ब्रह्मण्येवावधारणोपपत्तेः। हेत्वन्तरमाह—अभिधास्यमानेति।

आगे सृष्टि के पहले 'सत् ही था' इस प्रकार से केवल 'सत्' की ही अवधारणा श्रुति करा रही है, न कि ब्रह्म था, इसकी। तो ब्रह्म के ही साथ अवधारणा-एव-का योग कैसे हो रहा है, ऐसी शङ्का हो तो, 'नहीं', क्योंकि छान्दोग्य में 'हे सोम्य! सत् ही०' इस प्रकार का उपक्रम करके, "वही सत्य है, वही आत्मा है" ऐसा उपसंहार करके ब्रह्म में ही अवधारणा की सङ्गति होती है। दूसरा कारण—**'अभिधास्यमान'** इत्यादि से कहते हैं।

अयमर्थः—न ज्ञानं वस्तु स्वतो निवर्तकम्, तेन सह विरोधाभावात्। विरोधस्तु प्रसिद्ध एव ज्ञानाज्ञानयोः, रज्जुतत्त्वज्ञानेन रज्ज्वज्ञानविलयदर्शनात्। यद्यज्ञानं परमार्थतः सत् स्यात् तर्हि ज्ञानेन न निवर्तेत। निवर्तते च तत्। श्रूयते च "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इति।

अर्थ यह है कि ज्ञान-वस्तु अपने से निवर्तक नहीं है, क्योंकि उसके साथ विरोध का अभाव है, अपितु ज्ञान और अज्ञान का विरोध तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि रज्जु के तत्त्व-ज्ञान से रज्जु के अज्ञान का विलय देखा जाता है। यदि अज्ञान परमार्थतः सत् होता तो ज्ञान से निवृत्त नहीं होता, किन्तु वह निवृत्त होता है। श्रुतियों में कहा भी गया है—'और फिर अन्त में सारी माया की निवृत्ति हो जाती है।'

आ. गि. वि.—तर्हि सत्त्वनिषेधादसत्त्वमेव स्यात्, नभोनलिनीवदिति चेत्, न, इत्याह—**नासदिति**। "अज्ञोऽहम्" इत्यपरोक्षप्रतीतिविरोधादर्थक्रियाकारित्वाच्च नात्यन्तिकमसत्त्वम्। न च परस्परविरोधे सत्त्वासत्त्वयोर्विधानान्तरानुप-

पत्तिः। संसर्गाभावान्योन्याभावयोर्भेदप्रतिपादको योऽन्योन्याभावः स यथा एतदुभयविलक्षणस्तद्वदत्रापि सत्त्वासत्त्वविलक्षण इत्यर्थः। अभावान्योन्याभावयोरन्योन्याभावस्य तद्भावानभ्युपगमवत् इहापि सत्त्वस्यासत्त्वस्य चानभ्युपगमसम्भवादिति भावः।

'तो 'सत्ता' का निषेध होने से 'असत्ता' ही रहे, जैसे कि 'आकाश-कमल', यदि ऐसी शङ्का हो, तो 'नहीं', क्योंकि (उसके उत्तर में)–'**नासदिति**' असत् भी नहीं था, इत्यादि कहा गया है। 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार की साक्षात् प्रतीति का विरोध होने लगने से, तथा अर्थ-क्रिया-कारिता के कारण भी सर्वथा असत्ता नहीं होती है। यह भी बात नहीं है कि सत्त्व और असत्त्व दोनों के परस्पर विरोधी होने से किसी अन्य विधा की अनुपपत्ति होगी। संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव दोनों की भिन्नता का प्रतिपादन करने वाला जो अन्योन्याभाव है वह जैसे इन दोनों से भिन्न लक्षण वाला है, उसी प्रकार यहाँ भी सत्त्व और असत्त्व से विलक्षण (पदार्थ की सिद्धि हो सकती है।) अभाव और अन्योन्याभाव को जैसे उस (अभाव) के रूप में नहीं समझा जाता है, यहाँ भी सत्त्व और असत्त्व का भी अभ्युपगम सम्भव नहीं होगा, यह कहने का तात्पर्य है।

रा. त.—तस्मान्न सदज्ञानमिति सत्त्वासत्त्वयोः परस्परस्पर्द्धिनोरेकनिषेधेऽन्यविधानान्तरीयकत्वादसदेवेत्याशङ्कते—**तर्हीति**। दूषयति–**नेत्याहेति**। कुत इत्यत आह—**अज्ञोऽहमिति**। न ह्यत्यन्तासतः शशशृङ्गादेरपरोक्षावभासः सम्भवतीत्यर्थः।

इसलिये अज्ञान सत् नहीं है, अपितु परस्पर स्पर्धा करने वाले सत्त्व और असत्त्व में से एक का निषेध होने पर अन्य का विधान बाधित हो जाने से वह असत् ही है, ऐसी आशङ्का—'**तर्हि**' इत्यादि से करते हैं, और (उस आशङ्का में) दोष का प्रदर्शन–**नेत्याह** इत्यादि से करते हैं। 'क्यों', इसके उत्तर में—**अज्ञोऽहम्**–इत्यादि कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो अत्यन्त असत् है जैसे कि शशशृङ्ग आदि, उसका प्रत्यक्ष अवभासन नहीं हो सकता है।

नन्वसत्त्वनिषेधे सत्त्वं सत्त्वनिषेधे चासत्त्वम्, अतः कथं तृतीयः प्रकार इत्याशंक्याह–न चेति। विधान्तरमेव **दृष्टान्तेन साधयति–संसर्गाभावान्योन्याभावयोरिति**। संसर्गाभावश्चान्योन्याभावश्च संसर्गाभावान्योन्याभावौ, तयोरन्योन्याभावः अन्योन्यात्मकता तदभावः अन्योन्यात्मकताऽभावः। **तद्भावानभ्युपगमवदिति** तदुभयानभ्युपगमसम्भवादिति योजना।

असत्त्व का निषेध करने पर सत्त्व और सत्त्व का निषेध करने पर असत्त्व होता है, इसलिये तीसरा प्रकार कैसे होगा, ऐसी आशङ्का करके—'**न च**' इत्यादि कहा है। उदाहरण द्वारा एक दूसरी ही विधा को साध रहे हैं—'**संसर्गाभावान्योन्याभावयोः**' इत्यादि के द्वारा। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव (में समास करने पर बना) '**संसर्गाभावान्योन्याभावौ**' उन दोनों की 'अन्योन्यात्मकता' है, उसका ही अभाव '**अन्योन्यात्मकताऽभावः**' है। "तद्भावानभ्युपगमवद्" इसकी योजना—'**तदुभयानभ्युपगमसम्भवात्**' 'उन दोनों के अभ्युपगम के सम्भव न होने से' इस प्रकार की है।

अयमर्थः—अनभ्युपगमसम्भवादित्यन्ते परिशेषात्प्रकारान्तरसम्भव **इति योजनीयम्**। "**अभावान्योन्याभावयोः**" इति **पाठे** संसर्गाभावान्योन्याभावयोर्भेदको योऽन्योन्याभावस्तस्य तदुभयविलक्षणत्वाङ्गीकारवदित्यर्थः। यद्यपि तार्किकमतेऽभावान्योन्याभावयोः संसर्गाभावान्योन्याभावयोर्वा भेदकः स्वरूपातिरिक्तोऽन्योन्याभावो नास्ति, तथापि स्वरूपात्मकभेदानभ्युपगमात् भेदकः कश्चिदाकार एष्टव्यः, भावाभावयोरभावयोर्वाऽन्यथापेक्षानपेक्षविरुद्धधर्मयोर्भेदस्वरूपयोरैक्यप्रसङ्गात्।

इसका अर्थ यह है—'**अनभ्युपगमसम्भवात्**' इसके अन्त में परिशेषता के कारण '**प्रकारान्तरसम्भवः**' इसकी योजना करनी चाहिये। '**अभावान्योन्याभावयोः**' इस पाठ में संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव दोनों का भेदक जो अन्योन्याभाव है उसकी दोनों से विलक्षणता स्वीकार करने की भाँति, यह अर्थ है। यद्यपि नैयायिकों के मत में अभाव और अन्योन्याभाव अथवा संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव का भेदक स्वरूप के अलावा अन्योन्याभाव नहीं है, तथापि स्वरूपात्मक-भेद को स्वीकार न करने से कोई आकार ही भेदक माना जाना चाहिये, क्योंकि भाव और अभाव में अथवा दो अभावों में, नहीं तो अपेक्ष और अनपेक्ष विरुद्ध धर्मों के भेदस्वरूपों में ऐक्य की आपत्ति होने लगेगी।

आ. गि. वि.—अस्तु तर्हि प्रत्येकं सत्त्वासत्त्वप्रतिषेधेऽपि

समुचितं सदसदात्मकमव्याकृतमिति चेत्, मैवम्, विरोधात्, एकत्र तद्भावासम्भवादित्याह—**नापीति**। तर्हि सतोऽसतः सदसद्भ्यां वा भिन्नमिति चेत्, न, इत्याह—**न भिन्नमिति**। न हि भेदो धर्मत्वेन स्वरूपत्वेन वा प्रतिपादयितुं शक्यते। धर्मत्वे भेदाभेदविकल्पप्रवेशप्रसङ्गात्। स्वरूपत्वे चान्यतरपरिशेषापातादित्यर्थः।

तो फिर अलग-अलग सत्त्व और असत्त्व का प्रतिषेध होने पर भी अव्याकृत सम्मिलित रूप से 'सदसदात्मक' है, यदि ऐसा कहें तो, ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि विरोध होगा, अर्थात् एकही जगह उसका होना सम्भव नहीं। इसीको—**'नापीति'** से कहा है। 'तो फिर सत्, असत् या सदसद् से भिन्न हो सकता है' ऐसा कहें तो, उत्तर है कि—'नहीं,' इसीलिये—**'न भिन्नमिति'**—आदि कहा गया है। धर्म के रूप में या स्वरूप के रूप में भेद का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि धर्म के रूप में मानने पर भेद और अभेद के विकल्प के प्रवेश की सम्भावना होने लगेगी और स्वरूप माने जाने पर बचे हुये दूसरे का ग्रहण होने लगेगा, कहने का यह आशय है।

भेदनिषेधे प्राप्तमभेदं निरस्यति—**नाभिन्नमिति**। सदसद्भ्यामन्यतमपरिशेषे पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्। अव्याकृतमात्रपरिशेषे च वस्त्वप्रसिद्धेस्तदसिद्धिरित्यर्थः। भेदाभेदयोरेकैकस्य निषेधेऽपि प्राप्तं भिन्नाभिन्नत्वं विरोधात्प्रत्याचष्टे—**नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चिदिति**। सतोऽसतश्चेति प्रत्येकं मिलितस्य च प्रतियोगित्वमुच्यत इति ज्ञातव्यम्।

भेद का निषेध प्राप्त होने पर अभेद का भी निषेध किया जा रहा है—**नाभिन्नमिति**—अभिन्न भी नहीं है—इत्यादि शब्दों में। सत् और असत् में से एक के अवशिष्ट रहने पर पूर्वोक्त दोष का सम्बन्ध होने लगेगा, और केवल अव्याकृत के शेष रह जाने पर वस्तु की असिद्धि के कारण उसकी भी असिद्धि होगी, यह अभिप्राय है। भेद और अभेद में से एक-एक का भी निषेध होने पर विरोध के कारण प्राप्त 'भिन्नाभिन्नत्व' का प्रत्याख्यान किया गया—**'नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित'** आदि से। सत् और असत् का अलग-अलग तथा सम्मिलित का भी प्रतियोगित्व कहा जाता है, यह समझना चाहिये।

रा. त.—अतो दृष्टान्तोपपत्तिरिति परिशेषात् सदसत्समुच्चय एवास्त्वव्याकृतमिति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। न च समुच्चयोऽनुपपन्न इति वाच्यम्, त्रिदोषसमुच्चयस्य संनिपातत्ववत् त्रिगुणसमुच्चयस्य प्रकृतित्ववत्, सदसत्समुच्चयस्याव्याकृतत्वोपपत्तेरिति परिहरिति—**मैवमिति**। न च संनिपातादिवत्समुच्चयसम्भवः परस्परप्रतिस्पर्द्धित्वात्सत्त्वासत्त्वयोः। न ह्येकमेव वस्तु युगपत् सच्चासच्च भवतीति भावः।

इससे दृष्टान्त की उपपत्ति हो जाती है इसलिये परिशेषन्यायेन सत् और असत् का समुच्चय ही 'अव्याकृत' मान लिया जाये, इसकी शङ्का—**'अस्तु तर्हि'** इत्यादि से होती है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि समुच्चय उपपन्न नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार त्रिदोषों का समुच्चय 'सन्निपात' होता है और त्रिगुणों का समुच्चय प्रकृति होती है, उसी प्रकार सदसत्समुच्चय की अव्याकृत के रूप में उपपत्ति होगी, इस आशङ्का का परिहार—**मैवम्** इत्यादि से करते हैं। सन्निपात आदि की भाँति समुच्चय संभव नहीं है, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु एक-साथ ही सत् और असत् नहीं होती।

तर्हि चतुर्थ एव प्रकारोऽस्त्वित्याशङ्कते—**तर्हीति**। **न हि भेद इति**। भेदः किं वस्तुधर्मः स्वरूपं वा? । नाद्य इत्याह—**धर्मत्व इति**। वस्तुधर्मयोर्यो भेदः स किं वस्तुनः सकाशाद्भिन्नः उत अभिन्नः? आद्येऽपि किं स्वत एवोत भेदान्तरेण? नाद्यः, स्वस्यैव भेद्यभेदकत्वेन कर्मकर्तृत्वविरोधप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, सोऽपि भेदो भेदान्तरेणेत्यनवस्थापातादिति। अभिन्नत्वे धर्मत्वव्याघातात्। नापि द्वितीय इत्याह—**स्वरूपत्वे चेति**। घटपटयोर्भेदस्य स्वरूपानतिरिक्तत्वे घट एव वा स्यात्पटो वा नान्यो भेदोऽस्तीत्यर्थः। **पूर्वोक्तदोषानुषङ्गादिति**। सतोऽभिन्नत्वे ज्ञानापनोद्यत्वानुपपत्तेः, असतोऽभिन्नत्वे अपरोक्षप्रतिभासानुपपत्तेः, समुच्चयाभेदस्य विरोधिनोः समुच्चयासम्भवादेवासम्भव इत्यर्थः। तर्ह्यव्याकृताभेद एवास्तु। तत्राह—**अव्याकृतेति**। पक्षान्तरव्याख्याऽतिराहितार्था। कुतश्चित्पदस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्याह—**कुतश्चिदितीति**। सदाद्यन्यतमादपि न भिन्नं नाभिन्नं नापि भिन्नाभिन्नमित्यर्थः।

तो फिर चौथा ही प्रकार मान लिया जाये, ऐसी आशङ्का—**तर्हि** इत्यादि, **न हि भेदः** इत्यादि से करते हैं। क्या भेद वस्तु का धर्म है अथवा स्वरूप ? पहला नहीं है, इसको—**'धर्मत्वे'** इत्यादि से कहते हैं। वस्तु और धर्म का जो भेद है वह क्या वस्तु से भिन्न है अथवा अभिन्न ? प्रथम विकल्प में भी क्या अपने से ही है अथवा दूसरे भेद से ? प्रथम नहीं, क्योंकि स्वयं के ही भेद्य और भेदक माने जाने पर कर्म और कर्ता में विरोध होने लगेगा। दूसरा भी नहीं है, क्योंकि वह भी भेद दूसरे भेद से (भिन्न होगा) इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होने लगेगा। अभिन्नता मानने पर धर्मता का व्याघात होने लगेगा। दूसरा भी नहीं है, इसी के सम्बन्ध में—**'स्वरूपत्वे च'** इत्यादि कहा गया है। घट और पट के भेद के स्वरूप से भिन्न न होने पर या तो घट ही होगा अथवा पट ही, अर्थात् भेद कोई अन्य वस्तु नहीं है, यह अर्थ है। **'पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्'** इसका अर्थ है–सत् से अभिन्न होने पर ज्ञान से निवार्यता की अनुपपत्ति होगी, असत् से अभिन्न होने पर प्रत्यक्ष अवभास की अनुपपत्ति होगी, समुच्चय से अभेद का-दो विरोधियों का समुच्चय सम्भव न होने से ही असम्भव है, यह अर्थ हुआ। 'तो फिर अव्याकृत से ही अभेद माना जाये।' इसके उत्तर में—**'अव्याकृत'** इत्यादि कहा गया है। दूसरे पक्ष की व्याख्या का अर्थ छुपा नहीं है। **'कुतश्चित्'** पद की निरर्थकता की आशङ्का करके—**'कुतश्चिदिति'** कहा है। (निर्गलित) अर्थ हुआ कि वह सत्-आदि किसी से भी न भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न ही।

आ. गि. वि.—सत्त्वादिना निर्वक्तुमशक्यत्वेपि मूलकारणत्वादव्याकृतं निरवयवत्वेन शक्यं [1]निर्वक्तुमित्याशंक्याह—**न निरवयव**मिति। न हि तस्यानात्मनो निरवयवत्वं तत्त[2]न्नानाविधप्रपञ्चाकारपरिणामित्वादित्यर्थः।

'सत्त्व' आदि के रूप में कहा जाना सम्भव न होने पर भी, मूलकारण होने से 'अव्याकृत' को निरवयव के रूप में कहा जा सकता है, ऐसी आशङ्का करके—**न निरवयवम्**—इत्यादि कहा है। आत्मा से भिन्न उस (अव्याकृत) की निरवयवता नहीं है, क्योंकि वह

१. 'निर्वचनीयं' इति पाठः। २. 'तत्तन्नाकारविधि—' इति पाठा०।

उन-उन अनेक प्रकार के प्रपञ्चों के आकार में परिणत हुआ करता है, यह आशय है।

रा. त.—ननु सदादिभिः प्रकारैर्निर्वक्तुमशक्यत्वेऽप्यव्याकृतस्य नानिर्वचनीयता सिद्ध्येत्, प्रकारान्तरेण शक्यनिर्वचनत्वादित्याशङ्कते—**सत्त्वादिनेति**। निरवयवत्वे हेतुः—**मूलकारणत्वा**दिति। सावयवस्यावयवपरतन्त्रत्वेनानित्यत्वान्न मूलकारणत्वम्। "मायां तु प्रकृतिम्" इति श्रुतेर्न मूलकारणत्वं हीयते इत्यर्थः। दूषयति—**न निरवयवमितीति**। तत्रोपपत्तिमाह—**न हीति**। निरवयवत्वाभावे हेतुमाह—**तत्तन्नानेति**। सावयवाकारेण प्रतीयमानकार्यस्य न कारणं न निरवयवत्वं भवितुमर्हतीत्यर्थः।

'सत् आदि प्रकारों से निर्वचन करने के योग्य न होने पर भी अव्याकृत की अनिर्वचनीयता नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि दूसरे प्रकार से उसका निर्वचन किया जा सकता है', इस प्रकार की आशङ्का—**सत्त्वादिना** इत्यादि से करते हैं। उसकी निरवयवता में हेतु—**मूलकारणत्वात्** इत्यादि से कहते हैं। अवयवों के पराधीन होने से सावयव अनित्य होने के कारण मूलकारण नहीं होता। "माया को ही प्रकृति समझो" इस श्रुति से मूलकारणता का परित्याग नहीं होता, यह अर्थ है। **'न निरवयवमिति'** के द्वारा दोष दिखा रहे हैं। **'न हि'** इसके द्वारा उसमें सङ्गति बतला रहे हैं। निरवयवत्व के न होने में कारण का निर्देश—**'तत्तन्नाना'** इत्यादि से कर रहे हैं। सावयव-रूप में प्रतीत हो रहे कार्य का कारण निरवयवता नहीं हो सकती है, यह कहने का आशय है।

आ. गि. वि.—तर्हि परिणामित्वादेव मृदादिवदेष्टव्यं सावयवत्वमित्याशंक्याह—**न सावयव**मिति। सावयवत्वे कार्यद्रव्यत्वेन मूलकारणत्वानुपपत्तेः, तत्तत्कार्याकारपरिणामस्य च मिथ्यात्वेन विवर्तत्वादित्यर्थः। अर्थप्राप्तमुभयरूपत्वं विरोधेन प्रत्यादिशति—**नोभय**मिति।

तब परिणामी होने के कारण ही मिट्टी-आदि की भाँति (उसकी) सावयवता स्वीकार की जानी चाहिये, ऐसी आशङ्का करके, (निराकरण के लिये)—**'न सावयवम्'**—यह कहा है। क्योंकि सावयव मानने पर उसके कार्य-द्रव्य होने के कारण उसका

मूल-कारण होना असङ्गत होने लगेगा और उन-उन कार्यों के आकार के परिणामों के मिथ्या होने से विवर्तता होने लगेगी, यह अर्थ है। अर्थतः प्राप्त उभय-रूपता का विरोध के कारण प्रत्यादेश कर रहे हैं—**'नोभयम्'** इत्यादि से।

रा. त.—अस्तु तर्हि कार्यानुसारेण सावयवमेवाव्याकृतमिति शङ्कते—**तर्हीति**। परिहरति—न **सावयवमितीति**। कार्यद्रव्यत्वेनेति हेतौ तृतीया। ननु कार्यस्य सावयवत्वे कथं कारणं निरवयवम्, परमाणुवदिति चेत्, न, अव्याकृतस्य भवद्भिर्निरवयवत्वानभ्युपगमादिति चेत्, तत्राह—**तत्तदिति**। कार्यस्यापि सावयवत्वेन स्वरूपे निर्णीते भवेदियमाशङ्का, तदेव न निर्णीयते। प्रतीतिस्तु स्वप्नवदुपपद्यते, स्वप्नस्यारोपरूपत्वात्। आरोप्यस्य वास्तवं सावयवत्वं क्वचिदेष्टव्यमिति चेत्, न, पूर्वपूर्वभ्रमकल्पितसावयवत्वस्योत्तरोत्तरोपपत्तेर्न वास्तवसावयवत्वाभ्युपगम इति भावः। पक्षान्तरं निगदव्याख्यातम्।

'तो कार्य के अनुसार अव्याकृत सावयव ही मान ली जाये' इस प्रकार की शङ्का **'तर्हि'** इत्यादि से करते हैं और उसका निराकरण करते हैं—**न सावयवमिति** आदि से। **'कार्यद्रव्यत्वेन'** में तृतीया हेतु अर्थ में है। 'कार्य के सावयय होने पर कारण कैसे निरवयव होगा, जैसे कि परमाणु' ऐसी आशङ्का का उत्तर है, 'नहीं'। और यदि कहें कि "आप भी अव्याकृत की निरवयवता ही स्वीकार करते हैं", तो उस विषय में—**तत्तत्** इत्यादि कहा है। कार्य के भी सावयव के रूप में निर्णीत होने पर यह आशङ्का होती, तो (कहेंगे कि) वही तो निर्णीत नहीं होता है। प्रतीति तो स्वप्न की भाँति सङ्गत होती है, क्योंकि स्वप्न आरोप के स्वभाव का है। 'कहीं आरोप्य की वास्तविक सावयवता अभीष्ट हो सकती है' यदि ऐसा कहें तो, 'नहीं', क्योंकि पूर्व-पूर्व के भ्रमों से कल्पित सावयवता की उत्तरोत्तर उपपत्ति होने से वास्तविक सावयवत्व की स्वीकृति नहीं हो सकती है, यह अर्थ है। दूसरा पक्ष तो कथन में ही स्पष्ट है।

आ. गि. वि.—ननु केनापि प्रकारेण निर्वचनासम्भवेऽपि किं तदनिर्वचनीयत्वम्। न हि लक्षणमन्तरेण लक्ष्याधिगतिरस्ति, तत्राह—**किन्त्विति**। अस्याज्ञानस्य सर्वथोक्तलक्षणशून्यत्वादत एव निर्वक्तुमशक्यत्वात् यत्किञ्चिच्छब्दवा-

च्यत्वेन तत्सिद्धेरात्मनि द्वैतोत्पत्तिः सिद्धा। तन्निवारणार्थं तद्धानोपायमाह—**केवलेति**। निरालम्बनज्ञानयोगाद्यत्किञ्चिदालम्बनज्ञानस्यच स निदानसंसारनिराससाधनत्वासम्भवात्तदुचितं विषयं दर्शयति—**ब्रह्मात्मैकत्वेति**।

किसी भी प्रकार से निर्वचन सम्भव न होने पर भी वह अनिर्वचनीय क्या है? लक्षण के विना लक्ष्य का अवबोधन नहीं होता है, इसी विषय में—**किन्त्विति**—आदि शब्द कहे गये हैं। इस अज्ञान के सर्वथा उक्त लक्षणों से शून्य होने से, अतः निर्वचन न किये जा सकने के कारण, जिस किसी भी शब्द के वाच्य के रूप में उसकी सिद्धि होने से, आत्मा में द्वैत की उत्पत्ति सिद्ध होती है। उसके निवारण के लिये उसके परित्याग का उपाय—**केवलेति**—के द्वारा कह रहे हैं। निरालम्बनज्ञान (निर्विकल्पज्ञान) के योग से जिस किसी भी का आलम्बन लेने वाले ज्ञान के लक्षण-सहित संसार की निवृत्ति के साधन के रूप में सम्भव न होने से उसके योग्य विषय को—**'ब्रह्मात्मैकत्व'**—आदि शब्दों से प्रदर्शित कर रहे हैं।

रा. त.—ननु लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः, तत्कथं केनापि प्रकारेण निर्वचनानर्हं वस्तु सिद्ध्येदिति शङ्कते—**नन्विति**। उक्तप्रकारेण निर्वचनासंभवेऽपि प्रकारान्तरेणास्ति निर्वचनमित्याह—**तत्राहेति**। ज्ञानापनोद्यमव्याकृतमिति लक्षणम्। तत्तु पूर्वोक्तरीत्या निर्वचनानर्हमित्यनिर्वचनीयमेव। न चातिव्याप्तिः, अनिर्वचनीयस्य आत्मनोऽनपोद्यत्वात्। नाप्यव्याप्तिः, भूभूधरादीनामविद्याकार्यत्वेनाविद्यात्मकत्वादिति। नाप्यसंभवः, ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधेनाज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वोपपत्तेरिति। तत्र ज्ञानशब्देनान्तःकरणवृत्तिरुच्यते। तच्च न *निर्विषयमित्याह—**निरालम्बनेति**। अस्तु तर्हि घटाद्यालम्बनमेव ज्ञानं, नेत्याह—**यत्किंचिदिति**। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "भिद्यते हृदयग्रंथिः" इत्यादिश्रुतिभ्यः संसारनिरसनसाधनत्वं ब्रह्मज्ञानस्यावगम्यत इत्याशयेनाह—**तदुचितमिति**।

'लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है, तो निर्वचन के अयोग्य वस्तु किसी भी प्रकार से कैसे सिद्ध होगी?' इस प्रकार की आशङ्का **'ननु'** इत्यादि से करते हैं। उक्त प्रकार से निर्वचन संभव

*'निर्वचनं' इति पाठान्तरं चिन्त्यं सुधीभिः।

न होने पर भी दूसरे प्रकार से निर्वचन संभव है, इसको **'तत्राह'** इत्यादि से कह रहे हैं। ज्ञान से निराकरणीय 'अव्याकृत' है, यह (उसका) लक्षण है। वह तो पूर्वोक्तरीति से निर्वचन योग्य न होने से अनिर्वचनीय ही है। इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि अनिर्वचनीय आत्मा का अपोहन नहीं होगा, क्योंकि पृथ्वी, पहाड़ आदि की, अविद्या का कार्य होने से, अविद्यात्मकता होगी। (असम्भव दोष) भी नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों के विरोध से अज्ञान की ज्ञान से निवृत्ति सङ्गत होगी। वहाँ ज्ञान शब्द से अन्तःकरण की वृत्ति कही जाती है। वह निर्विषय नहीं है, इसको—**निरालम्बन** इत्यादि से कहा है। 'तो फिर घट आदि का आलम्बन ही ज्ञान मान लिया जाये', 'नहीं', इसी को **'यत्किञ्चिद्'** आदि से कहा गया है। 'ब्रह्म को जानने वाला परम को प्राप्त करता है', 'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है', 'हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है।' इत्यादि श्रुतियों से संसार के निराकरण की साधनता ब्रह्मज्ञान ही समझ में आती है। इसी आशय से कहा है—**तदुचितमिति** आदि।

आ. गि. वि.—अथ यथोक्तं ज्ञानमग्निहोत्रादिसहितं फलसाधनं, साधनभूयस्त्वे फलभूयस्त्वसम्भवात्, मैवम्, मिथो विरुद्धयोः समुच्चयायोगात्, फलस्य च कैवल्यस्य निरतिशयत्वादित्याशयवानाह—**केवलेति।**

अब अग्निहोत्र-आदि के सहित यथोक्त ज्ञान को फल का साधन मानना चाहिये, क्योंकि साधनों के अधिक होने पर फल की भी अधिकता सम्भव होती है, यदि ऐसा कहें तो, ऐसा नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्धों का समुच्चय अयुक्त है, और कैवल्यरूप (मोक्षरूप) फल भी निरतिशय है (=उससे उत्कृष्ट और कुछ भी नहीं है), इस आशय के साथ—**केवल**—इत्यादि कहा है।

रा. त.—ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद्याशङ्कते-**अथेति**। ज्ञानमात्रादेव मोक्षोपपत्तौ किमिति कर्माद्यपेक्ष्यत इति तत्राह—**साधनभूयस्त्व इति**। मोक्षो नाम सुखविशेषः स च ज्ञानमात्राज्जातेऽपि कर्मसहितज्ञानाज्जातोऽधिको भवति। यथाऽग्निष्टोममात्रजन्यात्स्वर्गात् वाजपेयसहिताज्जन्योऽधिकस्तद्वदिति। भवेदेवं यदि ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो भवेत्, तदेव न सम्भवतीति परिहरति—**मैवमिति**। ज्ञानकर्मणोर्विरुद्धाधिकारिनिष्पाद्यतया समुच्चयासम्भवादित्यर्थः। किंच मोक्षलक्षणस्य फलस्य जन्यत्वे भवेत्सातिशयत्वम्, न तु तदस्तीत्याह—**फलस्येति**। **कैवल्यस्य** केवलात्मस्वरूपस्य नित्यात्मस्वरूपस्येत्यर्थः।

ज्ञान और कर्म का समुच्चय स्वीकार करने वाला आशङ्का करता है—**अथ** इत्यादि। 'ज्ञान मात्र से ही मोक्ष की उत्पत्ति होने पर क्यों कर्म आदि की अपेक्षा की जाती है' इसके उत्तर में **'साधनभूयस्त्व'** इत्यादि कहा गया है। मोक्ष एक सुख विशेष है, वह केवल ज्ञान से ही होने पर भी कर्म सहित ज्ञान से उत्पन्न होने पर अधिक होगा। जैसे कि केवल अग्निष्टोम से उत्पन्न स्वर्ग की तुलना में बाजपेय सहित से उत्पाद्य होने पर अधिक होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। ऐसा तभी होगा जब ज्ञान और कर्म का समुच्चय होगा, वही तो संभव नहीं है, इसी से उसका परिहार करते **है—मैवम्** आदि से। ज्ञान और कर्म के विरुद्ध अधिकारियों द्वारा निष्पाद्य होने से समुच्चय संभव नहीं है, यह अर्थ है। और मोक्ष-लक्षण फल के जन्य होने पर सातिशयता हो सकती थी, किन्तु वह है नहीं। इसी को लक्ष्य करके—**फलस्य** इत्यादि कहा गया है। कैवल्य का अर्थ है केवलात्मस्वरूप नित्य-आत्मस्वरूप।

शां. अ.—**तत् अज्ञानं सत् त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगि न, ज्ञाननिवर्त्यत्वात्। न असत् क्वचिदप्यधिकरणे सत्वेन प्रतीत्यनर्हं न, अहमज्ञ इति प्रतीतेः।** *नापि सदसत्* **उभयरूपस्य परस्परं विरोधात्। न भिन्नं भेदमापन्नमज्ञानं चेतनात् स्वकार्याद्वा भेदस्य सत्त्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिः 'नेह नानेति' श्रुतिविरोधश्च। नाभिन्नमज्ञानं अभेदप्रतियोगिनो भेदस्यानिरूपणात्। भेदस्य मिथ्यात्वेन तदभावस्य ब्रह्मरूपत्वं व्यावहारिकभेदस्येष्टत्वाच्च।** *नापि* **कुतश्चित् कस्मादपि भिन्नाभिन्नं विरोधादेवोभयोः।** *न निरवयवं* **परिणामिकारणत्वात्।** *न सावयवं* **कारणतानुपपत्तेः।** *नोभयं* **सावयवनिरवयवोभयरूपं विरोधादेव। ननु सदादिस्वरूपशून्यमज्ञानं ज्ञानाभावरूपमिति चेत्, न, अज्ञानस्य ज्ञानसामान्याभावत्वे अहमज्ञ इति ज्ञानं न स्यात्। विशेषज्ञानाभावत्वे च सामान्यज्ञानाभावनिरूपितस्य तस्य सामान्यज्ञानाभावसिद्धेः प्रागसिद्धेः। अत एव न ज्ञानाभावरूपत्वमज्ञानस्य,** *किन्तु केवलं* **केवलेन** *ब्रह्मात्मना ज्ञानेन* **साक्षात्कारेणापनोद्यं** *निवर्त्यम्।* **ब्रह्मसाक्षात्कारनिवर्त्यं भावरूपज्ञानं रविप्रभानिवर्त्यान्धकारच्छायावद्वेति भावः।**

तत् = वह अज्ञान, **सत्** = त्रैकालिक निषेध का अप्रतियोगी नहीं है, क्योंकि ज्ञान से निरसनीय है। **न असत्** = असत् नहीं है, किसी भी अधिष्ठान पर सत् के रूप में प्रतीति के अयोग्य नहीं है, क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ' यह प्रतीति होती है। **नापि सदसत्** = सदसत् भी नहीं है, क्योंकि दोनों रूप परस्पर विरोधी हैं। **न भिन्नम्** = भिन्न नहीं है। भेद को प्राप्त अज्ञान के चेतन से अथवा अपने कार्य से भेद होने पर ज्ञान से निवारणीयता सङ्गत नहीं होगी और **'नेहनाना०'** यहाँ विविध कुछ नहीं है—इस श्रुति का विरोध भी होगा। **नाभिन्नम्**—अज्ञान अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि अभेद के प्रतियोगी भेद का निरूपण नहीं होगा। और भेद के मिथ्या होने से उसके अभाव की ब्रह्मरूपता होगी और व्यावहारिकभेद इष्ट होगा। **नापि**—और न कहीं भी किसी से भी, **भिन्नाभिन्नं** = भिन्न और अभिन्न ही होगा, क्योंकि दोनों में विरोध होगा। **न निरवयवम्**—निरवयव भी नहीं है, क्योंकि परिणामी का कारण है। **न सावयवम्**—सावयव नहीं है, क्योंकि कारणता की उपपत्ति नहीं होगी। **नोभयम्**—दोनों भी नहीं है, सावयव और निरवयव दोनों रूपों वाला नहीं है, विरोध के ही कारण। सत् आदि के स्वरूप से शून्य अज्ञान ज्ञानाभाव रूप है, यदि ऐसा कहें, तो, नहीं, क्योंकि अज्ञान के ज्ञानसामान्य का अभाव होने पर 'मैं अज्ञ हूँ' यह ज्ञान नहीं होगा। और विशेष ज्ञान का अभाव होने पर सामान्यज्ञान के अभाव से निरूपित उसके सामान्य-ज्ञान के अभाव-सिद्धि के पहले असिद्धि होगी। इसी से अज्ञान का स्वरूप ज्ञान का अभाव-रूप नहीं है, किन्तु **केवलं** = केवल, **ब्रह्मात्मना ज्ञानेन** = ब्रह्मात्मक ज्ञान के द्वारा, साक्षात्कार के द्वारा, **'अपनोद्यं'**= निवारणीय है। ब्रह्म के साक्षात्कार से निवारण योग्य भावरूप अज्ञान सूर्य के प्रकाश से निवारणीय अन्धकार अथवा छाया की भाँति है, यह आशय है।

सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः।

सु. वा.—ज्ञानानामुपसंहारो बुद्धेः कारणतास्थितिः।
वटबीजे वटस्येव सुषुप्तिरभिधीयते ॥४२॥

ज्ञानों की उपरति, वटबीज में वट की भाँति बुद्धि को कारणता (= अज्ञान) के रूप में अवस्थिति सुषुप्ति कही जाती है ॥ ४२ ॥

वा. भ.—एवं कारणशरीरस्वरूपं निरूप्य अवस्थां निरूपयति—ज्ञानानामिति। अत्र ज्ञानानामिति बहुवचनत्वात्स्थूलसूक्ष्मार्थविषयकाणां जाग्रत्स्वप्नावस्थासम्बन्धिनां सर्वेषां ज्ञानानामभावो विवक्षितः। तर्हि वृत्तीनामभावे बुद्धेरप्यभावः स्यादित्याशङ्क्याह—बुद्धेरिति। कारणतास्थितिरिति, कारणात्मना अज्ञानात्मना स्थितिरवस्थानं, पुनर्बुद्ध्युत्पादनयोग्यवासनात्मनाऽवस्थानमित्यर्थः। उपरतवृत्तिका बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थितिः सुषुप्तिरभिधीयत इत्यर्थः। ज्ञानानामुपसंहारो मुक्तावपि, इति बुद्धेः कारणतास्थितिरित्युक्तम्। तावत्युक्ते जाग्रद्दशायामतिव्याप्तिः। कार्यदशायामपि कार्यस्य कारणरूपेणाप्यवस्थानात्, अत उक्तम्—ज्ञानानामुपसंहार इति। अत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह—वटेति ॥ ४२ ॥

इस प्रकार कारणशरीर के स्वरूप का निरूपण करके अवस्था का निरूपण कर रहे हैं, **'ज्ञानानाम्'** इत्यादि के द्वारा। यहाँ 'ज्ञानानाम्' इस पद के बहुवचन होने से स्थूल और सूक्ष्म (दोनों प्रकार के) अर्थों के बारे में होने वाले जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं से सम्बन्धित सभी ज्ञानों का अभाव विवक्षित है। तब वृत्तियों का अभाव होने पर बुद्धि का भी अभाव हो जायेगा, यह आशङ्का करके कहा है—**'बुद्धेरिति'**। **'कारणतास्थितिः'** (इस पद का अर्थ है) कारण के रूप में (अर्थात्) अज्ञान के रूप में स्थिति अर्थात् रहना, फिर से बुद्धि के उत्पादन में समर्थ वासना के रूप में स्थित होना। उपरत-वृत्ति वाली बुद्धि का कारण के रूप में स्थित होना सुषुप्ति कहा जाता है, यह अर्थ है। ज्ञानों का उपसंहार मुक्तिदशा में भी होता है, इसीलिये बुद्धि की **'कारणतास्थितिः'** बुद्धि का कारण रूप में स्थित होना—कहा गया है। उतना ही कहने पर जाग्रदवस्था में अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि कार्यदशा में भी कार्य कारण के रूप में अवस्थित रहता है, इसलिये कहा गया

है—'**ज्ञानानामुपसंहारः**' अर्थात् ज्ञानों की उपरति। यहाँ अनुकूल दृष्टान्त (भी) दिया गया है—'**वटेति**' वट आदि शब्दों द्वारा ॥४२॥

आ. गि. वि.—अव्याकृतस्य अनिर्वाच्यस्याधिदैविकीमवस्थामुक्त्वा सम्प्रत्याध्यात्मिकीमवस्थां तदेकत्वविवक्षया दर्शयति—**सर्वप्रकारेति**। इन्द्रियसंस्पृष्टस्थूलार्थाकारतया स्थूलत्वं वासनारूपसूक्ष्मार्थाकारतया सूक्ष्मत्वं च ज्ञानानां सर्वप्रकारत्वम्। तेषामशेषविशेषविज्ञानानामुपरमो मुक्तावपि सम्भवतीत्येतदुक्तम्। **बुद्धेरिति**। अन्तःकरणस्य कारणाकाररूपेणावस्थानमवस्थान्तरेऽपि जागरितादावस्तीत्याद्यं विशेषणम्। किमिदं कारणात्मना बुद्धेरवस्थानम्? किं कारणस्य बुद्धेश्चावस्थानम्? किं कारणस्यैव तद्वासनावासितस्यैव पुनर्बुद्ध्युत्पादनयोग्यस्य?। प्रथमे जागरितादेरविशेषः सुषुप्तेः स्यात्, द्वितीये बुद्धिग्रहणमनर्थकमिति चेत्, मैवम्, बुद्धेर्यत्कारणं तस्यैव तद्वासनावासितस्य पुनर्बुद्ध्युत्पादनयोग्यस्य स्थितेरिष्टत्वादिति द्रष्टव्यम्।

अनिर्वाच्य अव्याकृत की आधिदैविकी दशा को कह कर इस समय आध्यात्मिकी अवस्था से उसकी एकता बतलाने की इच्छा प्रदर्शित कर रहे हैं—**सर्वप्रकार**—इत्यादि से। इन्द्रियों से सम्बद्ध स्थूल विषयों के आकार का होने से स्थूलता और वासनारूपी सूक्ष्म-विषयों के आकार का होने के कारण सूक्ष्मता ज्ञानों की सर्वप्रकारता है। उन सभी विशेष विज्ञानों की उपशान्ति मुक्ति में भी सम्भव है, यह कहा गया। '**बुद्धेः**' इत्यादि से (आगे कह रहे हैं)—कि अन्तःकरण का कारण के आकार के रूप में रहना जागरित आदि अन्य अवस्थाओं में भी होता है, यह पहला विशेषण—भेद—**है**। कारण के रूप में बुद्धि की यह **अवस्थिति** क्या होती है? क्या यह कारण और बुद्धि की (साथ-साथ) अवस्थिति होती है? अथवा क्या उसकी वासना से वासित कारण की ही जो कि पुनः बुद्धि के उत्पादन के समय होता है, की अवस्थिति है? प्रथम दशा में सुषुप्ति की जागरित-आदि से अविशेषता होगी, दूसरे विकल्प में बुद्धि का

ग्रहण निरर्थक होगा यदि ऐसा कहा जाये तो, उत्तर है कि "नहीं," क्योंकि बुद्धि का जो कारण है उसकी वासना से वासित पुनर्बुद्धि के उत्पादन में सक्षम उसी की स्थिति अभीष्ट है, यह समझना चाहिये।

रा. त.—अव्याकृतस्याधिदैविक्यवस्था स्वरूपलक्षणा, आध्यात्मिक्यवस्था सुषुप्तिलक्षणा, अव्याकृतस्यावस्था सुषुप्तिरिति वक्तव्येऽव्याकृतं सुषुप्तिरित्युक्तं तदयुक्तमित्याशङ्क्याह—**तदेकत्वेति**। कार्यकारणयोरत्यन्तभेदाभावादित्यर्थः सर्वप्रकारकज्ञानोपसंहार इत्युक्तम्, किं तत्सर्वप्रकारत्वमित्यत आह—**इन्द्रियेति**। एतावता सविषयप्रत्ययनिरासेन जाग्रत्स्वप्नयोरतिव्याप्तिर्निरस्ता भवति। एवमपि मुक्त्यवस्थादौ व्यभिचारमाशंक्य परिहरति—**तेषामित्यादिना**। अस्तु तर्हि बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिरित्येतावदेव लक्षणम्, तत्राह—**अन्तःकरणस्येति**। किमिदमित्यादिपूर्वपक्षग्रन्थः स्पष्टार्थः। कारणात्मनाऽवस्थानमित्युक्तेऽविशेषेण सर्वकार्याणां कारणात्मनाऽवस्थानं प्रलयेऽस्ति ततो **बुद्धेरिति** विशेषणम्। तथाऽपि सर्वान्तःपतिन्या बुद्धेः प्रलयेऽपि कारणात्मनाऽवस्थानमस्तीति चेत्, सत्यम्, तत्र सर्वकार्यवासनावासितस्य कारणस्यावस्थानेऽपि न केवलं बुद्धिविशेषवासनावासितस्य कारणस्यावस्थानमस्ति, येन झटिति बुद्धिमेवोत्पादयेदिति मन्वानः परिहरति—**मैवमिति**। **पुनर्बुद्ध्युत्पादनयोग्यस्येति**। पुनर्झटिति बुद्ध्युत्पादनयोग्यस्येत्यर्थः। **अव्याकृताभिमानी ईश्वरः। "एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी" इति श्रुतेः। एकत्वं तु स्वरूपतः, नोपाधितः।**

'अव्याकृत' की आधिदैविकी अवस्था स्वरूप-लक्षण है, आध्यात्मिकी-अवस्था सुषुप्ति-लक्षण है। अव्याकृत की अवस्था सुषुप्ति है, ऐसा कहने पर अव्याकृत सुषुप्ति हो जायेगी, यह उचित नहीं है, ऐसी आशङ्का करके कहा गया है—**तदेकत्वे** इत्यादि, क्योंकि कार्य और कारण के अत्यन्त भेद का अभाव है, यह अर्थ है। 'सर्वप्रकारक-ज्ञानोपसंहार' ऐसा कहा गया है, वह 'सर्वप्रकारता' क्या है? इसके उत्तर में कहा है—**इन्द्रिय** इत्यादि। इस सविषय ज्ञान के निराकरण द्वारा जाग्रत् और स्वप्न में अतिव्याप्ति निरस्त हो जाती है। इस प्रकार की मुक्ति-अवस्था आदि में व्यभिचार की आशङ्का करके उसका परिहार—**तेषाम्** इत्यादि से करते हैं। 'तो फिर बुद्धि की कारण के रूप में अवस्थिति ही सुषुप्ति है' यही लक्षण होना चाहिये', इसके उत्तर में कहा है—**अन्तःकारणस्य** इति। '**किमिदम्**'

इत्यादि से उपस्थित किये गये पूर्वपक्ष के वाक्य का अर्थ स्पष्ट है। 'कारण के रूप में अवस्थिति' यह बिना विशेषण के कहने पर (दोष होगा, क्योंकि) सभी कार्यों की कारण के रूप में अवस्थिति प्रलय में हो जाती है, इसी से 'बुद्धेः' यह विशेषण लगाया गया है। "फिर भी सभी के भीतर समाविष्ट रहने वाली बुद्धि की प्रलय में भी कारण के रूप में अवस्थिति होती है", किन्तु, वहाँ सभी कार्यों की वासना से वासित कारण की अवस्थिति होने पर भी केवल बुद्धि-विशेष की वासना से वासित कारण की अवस्थिति नहीं होती है, जिससे कि वह एकाएक बुद्धि को ही उत्पन्न कर सके, यह मानते हुये, उसका परिहार कर रहे--**मैवम्** इत्यादि से। **'पुनर्बुद्ध्युत्पादन-योग्यस्य'** इस पद का अर्थ है 'पुनः' अर्थात् एकाएक शीघ्र बुद्धि के उत्पादन में योग्य। अव्याकृत का अभिमानी ईश्वर हैं, क्योंकि "यह सर्वेश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है।' इस प्रकार श्रुति में उक्त है। एकत्व तो स्वरूप के आधार पर है, उपाधि के नहीं।

शां. अ.—**सर्वप्रकारज्ञानानामुपसंहारे लये बुद्धेरन्तःकरणस्य** *कारणात्मना* **अज्ञानात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः।**

सब प्रकार के ज्ञानों के, **'उपसंहारे'**--लय होने पर, **बुद्धि** = अन्तःकरण का, **'कारणात्मना'**—अज्ञान के रूप में **'अवस्थान'** = स्थिति, सुषुप्ति है।

तदुभयाभिमान्यात्मा प्राज्ञः। एतत् त्रयं मकारः।

सु. वा.–अभिमानी तयोर्यस्तु प्राज्ञ इत्यभिधीयते ॥४२३॥

उन दोनों (सुषुप्ति तथा कारण देह) का जो अभिमानी है (वह) 'प्राज्ञ' कहा जाता है॥ ४२३॥

वा. भ.—अभिमानीति। तयोः कारणशरीरसुषुप्त्य-वस्थयोः ॥ ४२३ ॥

'अभिमानी' इससे (वार्तिकार्थ का प्रारम्भ होता है।) (यहाँ प्रयुक्त **'तयोः'** उन दोनों का अर्थ है) कारण शरीर और सुषुप्ति अवस्था का॥ ४२३॥

आ. गि. वि.—सम्प्रत्यव्याकृताभिमानिनाऽन्तर्यामिणा सहैकत्वं सुषुप्त्यभिमानिनः सिद्धवत्कृत्य तद्विषयसंज्ञाविशेषं व्यवहारलघुतायै निवेदयति—**तदुभयेति।**

अब 'अव्याकृत' के अभिमानी अन्तर्यामी के साथ सुषुप्ति के अभिमानी की एकता सिद्ध सी करके व्यवहार में आसानी के लिये उसके विषय में संज्ञा-विशेष को बतला रहे हैं--**तदुभय**-इत्यादि के द्वारा।

प्राज्ञ इति। प्रज्ञा चैतन्यम्, तत्प्रधानः पुरुषः प्राज्ञ-शब्दार्थः। तदुपाधिभूतकारणस्य तत्प्रकाश्यत्वेनोपसर्जनत्वात्। अव्याकृतं सुषुप्तिरुभयोरभिमानी चेति त्रितयं मकारान्तर्भूत-त्वान्मिथो न पृथगित्यद्वैतमनुस्मरन्नाह—**एतत्त्रयं मकार** इति। स्थूलप्रपञ्चात्मनो विराजो जागरितस्य तदुभयाभिमानिनो विश्वस्याकारत्वम्, सूक्ष्मप्रपञ्चात्मनो हिरण्यगर्भस्य स्वप्नस्य तदुभयाभिमानिनस्तैजसस्योकारत्वम्, प्रपञ्चद्वयकारणभूता-व्याकृतस्य सुषुप्तेस्तदुभयाभिमानिनश्च प्राज्ञस्य मकारत्वमि-त्युक्तमुपनिषत्प्रामाण्यात्प्रतिपत्तव्यम्।

'प्राज्ञ'-इस (शब्द का अर्थ कर रहे हैं।) प्रज्ञा चैतन्य है, उसकी प्रधानता वाला पुरुष 'प्राज्ञ'-शब्द का अर्थ है। उसके उपाधिभूत कारण की उसका प्रकाश्य होने से गौणता है। अव्याकृत, सुषुप्ति और दोनों का अभिमानी ये तीनों मकार में अन्तर्भूत होने के कारण एक हैं, न कि पृथक्, इस प्रकार के द्वैताभाव का स्मरण करते हुये—**एतत्त्रयं मकारः**–यह तीनों मकार हैं–ऐसा कहा गया है। स्थूल-प्रपञ्च के स्वरूप वाले विराट्, जागरित और उन दोनों के अभिमानी 'विश्व' की अकारता, सूक्ष्म-प्रपञ्च के स्वरूप वाले हिरण्यगर्भ, स्वप्न और उन दोनों के अभिमानी 'तैजस' की उकारता, दोनों प्रकार के प्रपञ्चों के कारण-स्वरूप अव्याकृत, सुषुप्ति और उन दोनों के अभिमानी प्राज्ञ की मकारता कही गयी हैं, जिसे उपनिषदों में प्रमाणित होने के कारण स्वीकार करना चाहिये।

रा. त.—तद्विषये सुषुप्त्यभिमानिनि प्राज्ञत्वं निर्वक्ति—प्रज्ञेति। कथं प्राज्ञस्य चैतन्यप्रधानत्वं तस्यौपाधिकत्वेनोपाधिप्रधानत्वादित्यत आह—तदुपाधीति। उपाधेरुपसर्जनत्वे हेतुः—तत्प्रकाश्यत्वेनेति। अव्याकृतमिति ग्रन्थः स्पष्टार्थः। विराडादीनामकाराद्यात्मनोपसंहारो न युक्तः, प्रमाणाभावादित्यत आह—उपनिषत्प्रामाण्यादिति। 'स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः। आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः" इति माण्डूक्योपनिषत्प्रामाण्यादित्यर्थः।

सुषुप्ति के अभिमानी में उसका विषय होने पर, प्राज्ञता का निर्वचन–प्रज्ञा इत्यादि से कर रहे हैं। "प्राज्ञ को चैतन्य की प्रधानता कैसे होगी, क्योंकि उसके औपाधिक होने से उपाधि की प्रधानता होनी चाहिये।" इसके लिये कहा है—तदुपाधि इत्यादि। उपाधि की गौणता में कारण है, तत्प्रकाश्यत्वेन क्योंकि वह प्रकाश्य है—प्रकाशित किये जाने योग्य विषय है, न कि प्रकाश। 'अव्याकृतम्' इत्यादि वाक्य का अर्थ स्पष्ट है। 'विराट्'–आदि का अकार-आदि के रूप में उपसंहार करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण का अभाव है' ऐसी शङ्का पर—'उपनिषत्प्रामाण्यात्' इत्यादि कहा है। जिसका अर्थ है—'स्थूल का भोक्ता वैश्वानर प्रथम पाद है, प्रविविक्त अर्थात् अपञ्चीकृत सूक्ष्मों का भोक्ता तैजस द्वितीय पाद है, आनन्द का भोक्ता चेतोमुख प्राज्ञ तृतीय पाद है' इस प्रकार का माण्डूक्योपनिषद् का प्रामाण्य है।

सु. वा.–जगत्कारणरूपेण प्राज्ञात्मानं विचिन्तयेत् ॥४३॥

विश्वतैजससौषुप्तविराट्सूत्राक्षरात्मभिः।
विभिन्नमिव सम्मोहादेकं तत्त्वं चिदात्मकम् ॥४४॥

जगत् के कारण के रूप में प्राज्ञ आत्मा का चिन्तन करना चाहिये। एक ही चित्स्वरूप तत्त्व भ्रम के कारण विश्व, तैजस, सौषुप्त, विराट्, सूत्र एवं अक्षररूपों में विभिन्न सा (प्रतीत होता है।) ॥ ४३–४४ ॥

वा. भ.—जगदिति। व्यष्टिकारणशरीराभिमानिनं प्राज्ञात्मानं समष्टिमायावच्छिन्नेश्वरात्मना चिन्तयेदित्यर्थः ॥ ४३ ॥

'जगत्' इत्यादि से (व्याख्येय वार्तिक का प्रारम्भ है।) व्यष्टि के कारण शरीर के अभिमानी प्राज्ञात्मा की समष्टि-माया से उपहित ईश्वर के रूप में भावना करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

ननु विश्वतैजसादीनां बहूनामङ्गीकारे 'चिदात्मकमेकं तत्त्वं' इत्यद्वैतहानिः स्यादित्याशङ्क्य तेषां भेदस्य तत्तदुपाधिकृतत्वात् स्वतः चिदात्मनो न भेद इत्याह—विश्वेति। अक्षरात्मभिरिति तृतीया इत्थंभावे। चिदात्मकमेकमेव तत्त्वं विश्वादिरूपेण विभिन्नमिव भासत इति शेषः। तत्र हेतुमाह—संमोहादिति। "चिदात्मकमेकं तत्त्वम्' इत्यज्ञानादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

विश्व, तैजस आदि बहुतों को स्वीकार करने पर 'चिदात्मक तत्त्व एक ही है' इस अद्वैत-सिद्धान्त की हानि होने लगेगी, ऐसी आशङ्का करके उनके भेद के उन-उन उपाधियों से किये जाने के कारण स्वयं चिदात्मा का भेद नहीं होता, इसके (प्रतिपादन में) कहा गया है—'विश्वेति'। 'अक्षरात्मभिः' (इस पद में) तृतीया विभक्ति इत्थंभाव अर्थ में है। 'चिदात्मक एक ही तत्त्व 'विश्व' आदि के रूप में विभिन्न सा भासित होता है' इतना शेष है। (वार्तिक में कहने से रह गया है, शब्दतः नहीं कहा जा सका है, अतः इसको लेकर अर्थ करना चाहिये।) इसके लिये कारण बतलाया है—'सम्मोहात्' इस पद से। 'चिदात्मक एक ही तत्त्व' को न जानने से (विभिन्नता का आभास होता है,) यह (सम्मोहात् पद का) अर्थ है ॥ ४४ ॥

सु. वा.–विश्वादिकत्रयं यस्माद्वैराजादित्रयात्मकम्।
एकत्वेनैव संपश्येदन्याभावप्रसिद्धये[1] ॥ ४५ ॥

क्योंकि—भेद के अभाव की सम्यक् सिद्धि के लिये विश्व आदि तीनों को वैराज आदि के रूप में एक ही देखना चाहिये ॥ ४५ ॥

वा. भ.—तादृशज्ञानं कथं भवतीत्याशङ्क्य तादृशज्ञानार्थं प्रपञ्चापलापप्रकारं दर्शयति—विश्वादिकेत्यादिना। तत्र प्रथमं विश्वादीनां त्रयाणां वैराजादीनां त्रयाणां च भेदाभावसिद्ध्यर्थं—

१. 'एकत्वेन समं पश्येत्' इत्यपि पाठः।

मैक्यचिन्तनं दर्शयति—**विश्वेति**। यस्मादेवमेव सम्पश्येत्तस्मादात्मानमद्वयं पश्येदित्युत्तरेण सम्बन्धः। अत्र प्रथमेनादिशब्देन तैजसप्राज्ञयोर्ग्रहणं, द्वितीयेनादिशब्देन सूत्राक्षरात्मनोर्ग्रहणम्। **एकत्वेनेति**। यथा व्यष्टिपत्रपुष्पफलशाखादिकं 'एको वृक्षः' इत्येकत्वेन पश्यति तथा व्यष्टिविश्वादीन्समष्टिवैराजाद्यात्मना पश्येदित्यर्थः। **अन्याभावेति**, अन्यत्वाभावसिद्धये इत्यर्थः। तथा अभेदचिन्तने अभेद एव भवतीत्यर्थः। तथा च त्रयः परिशिष्टा भवन्ति ॥ ४५ ॥

उस प्रकार का ज्ञान कैसे होता हैं, यह आशङ्का करके उस प्रकार के ज्ञान के लिये प्रपञ्च के निराकरण की विधि प्रदर्शित कर रहे हैं—**'विश्वादिक'** इत्यादि के द्वारा। उसमें सर्वप्रथम विश्वादि तीन तथा वैराज-आदि तीन की भिन्नता के अभाव की सिद्धि के लिये एकता की भावना प्रदर्शित कर रहे हैं—**'विश्व'** इस पद से। यतः इस प्रकार ही देखना चाहिये, अतः अद्वय आत्मा को देखे' इस बाद वाले से सम्बन्ध है। यहाँ (**विश्वादि** में) प्रथम 'आदि'-पद से तैजस और प्राज्ञ का ग्रहण होता है और (**वैराजादि** में आये) द्वितीय **'आदि'**-शब्द से सूत्रात्मा और अक्षरात्मा का ग्रहण होता है। **'एकत्वेनेति'** का अर्थ है—जिस प्रकार व्यष्टि पत्र, पुष्प, फल, शाखा आदि के समूह को 'एक वृक्ष' इस भाँति एकरूप में देखा जाता है उसी प्रकार व्यष्टि 'विश्व' आदि को समष्टि-वैराज-आदि के रूप में देखा जाना चाहिये। **'अन्याभाव'** का अर्थ है—भेद के अभाव की सिद्धि के लिए। उस प्रकार से अभेद-चिन्तन करने पर अभेद ही हो जाता है, (इसका) यह अभिप्राय है। इसी प्रकार अवशिष्ट तीन भी होते हैं ॥ ४५ ॥

सु. वा.—ॐकारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम्।
वाच्यवाचकताभेदाद्भेदेनानुपलब्धितः ॥ ४६ ॥

भिन्न रूप में प्राप्त न होने से, वाच्य और वाचक में अभेद होने के कारण विश्व, प्राज्ञ-आदि नामक सब-कुछ ओङ्कार की मात्रायें है ॥ ४६ ॥

वा. भ.—तेषां त्रयाणामपि चिदात्मनि विलापनं वक्तुं एकहेल्या शब्दस्याप्यपलापसिद्ध्यर्थं सर्वशब्दार्थयोरभेदं दर्शयति—**ॐकारेति**। विश्वप्राज्ञादिलक्षणमखिलमर्थजातं सर्वशब्दात्मकप्रणवमात्रं अकारोकारमकारमात्रं, तत्र च स्थूलप्रपञ्चवाचकसर्वशब्दात्मकत्वमकारस्य, सूक्ष्मप्रपञ्चवाचकसर्वशब्दात्मकत्वमुकारस्य, कारणवाचकसर्वशब्दात्मकत्वं मकारस्य द्रष्टव्यम्। एतत्सर्वं माण्डूक्यभाष्यादौ स्पष्टमुक्तम्। सर्वशब्दात्मकत्वं च प्रणवस्य "यथा शंकुना" इत्यादि छान्दोग्योपनिषदि स्पष्टमुक्तम्। तत्र हेतुमाह—**वाच्येति**। भावप्रधानो निर्देशः। वाच्यवाचकाभेदादित्यर्थः। वाच्यवाचकाभेदे हेतुमाह—**भेदेनेति**। वाच्याद्भेदेन वाचकस्य, वाचकाद्भेदेन वाच्यस्य वाऽनुपलब्धेरित्यर्थः। वाच्यवाचकाभेदश्च माण्डूक्योपनिषद्भाष्यादौ सम्यङ्निरूपित इति नेह प्रपञ्च्यते ॥ ४६ ॥

उन तीनों का भी चिदात्मा में विलय बतलाने के लिये एक ही झटके में अथवा एक साथ ही (=एकहेल्या ?) शब्द के ही अपलाप की सिद्धि के लिये सभी शब्दों तथा अर्थों में अभेद प्रदर्शित कर रहे हैं—**ओंकार** इस पद से प्रारम्भ होने वाले वार्तिक में। विश्व, प्राज्ञ आदि लक्षण वाला सारा अर्थ-समूह सर्वशब्द स्वरूप (=ओङ्कार) की मात्रायें अथवा केवल ओङ्कार है—जो अ, उ तथा म् की मात्राओं वाला है (अथवा केवल अकार, उकार और मकार है।) इनमें से स्थूल-प्रपञ्च का वाचक सर्वशब्दमय स्वरूप अकार है, सूक्ष्म प्रपञ्च का वाचक सर्वशब्दमय स्वरूप उकार का और कारणवाचक सर्वशब्दमय स्वरूप मकार का समझना चाहिये। यह सब 'माण्डूक्य' (उपनिषद्) के भाष्य आदि में स्पष्ट-रूप से कहा गया है। और प्रणव (=ओङ्कार) की सर्वशब्दमयता—'यथा शंकुना'—जैसे शंकु से—इत्यादि शब्दों में छान्दोग्य-उपनिषद् में साफ-साफ कहा गया है। उस विषय में कारण बतलाया है—**'वाच्येति'**—वाच्य इत्यादि शब्दों से। निर्देश भाव-प्रधान है, क्योंकि वाच्य और वाचक का अभेद है, यह अर्थ है। वाच्य और वाचक की अभिन्नता का कारण

बतलाया है—भेदेनेति—इत्यादि से। वाच्य से भिन्न वाचक की अथवा वाचक से भिन्न वाच्य की उपलब्धि नहीं होती है, इसका यह अभिप्राय है। वाच्य और वाचक की अभिन्नता माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य आदि में भलीभाँति निरूपित की गयी है, इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है ॥ ४६ ॥

सु. वा.—अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः।
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत्क्रमेण तु ॥४७॥

'विश्व' केवल अकार है, (अथवा अकार की मात्रा है,) तैजस उकार कहा गया है, प्राज्ञ मकार है, इस प्रकार क्रमशः परिपूर्णतः देखना चाहिये ॥ ४७ ॥

वा. भ.—एवं सामान्यतः प्रणवतदर्थयोरभेदमुक्त्वा इदानीं विशेषप्रणवावयवानां अकारादीनां तदर्थानां चाभेदं दर्शयति—अकारमात्रमिति ॥ ४७ ॥

इस प्रकार सामान्य रूप से प्रणव और उसके अर्थ की अभिन्नता बतला कर अब प्रणव के विशेष अवयव अकार-आदि और उनके अर्थों की अभिन्नता दिखलायी जा रही है—**अकारमात्रम्**-इत्यादि के द्वारा ॥ ४७ ॥

सु. वा.—समाधिकालात्प्रागेवं विचिन्त्यातिप्रयत्नतः।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेत्॥४८॥

समाधिकाल से पूर्व बड़ी सावधानी से इस प्रकार विचार करके स्थूल-सूक्ष्म-क्रम से सबका चिदात्मा में विलय करना चाहिये ॥४८॥

वा. भ.—एवं समाधिपूर्वकालकृत्यमुक्त्वा समाधेरव्यवहितपूर्वकालकर्त्तव्यं प्रविलापनप्रकारमाह—समाधीति। विश्ववैराजाद्यभेददृष्टीनां प्रणवावयवतदर्थाभेददृष्टीनां चासुलभत्वादतिप्रयत्न इत्युक्तम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार समाधि में पहले के समय के कृत्यों को बतला कर समाधि में ठीक पहले के समय करणीय विलय की विधि को कहा जा रहा है—**'समाधीति'**-समाधि इत्यादि शब्दो के द्वारा। **विश्व,** वैराज आदि में अभिन्नता की दृष्टियों और प्रणव के अवयव तथा उनके अर्थों में अभिन्नता की दृष्टियों के आसानी से प्राप्त न होने के कारण 'अतिप्रयत्न के साथ' इन शब्दों का कथन किया गया है ॥ ४८ ॥

अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ॐकारे, ॐकारोऽहम्येव।

सु. वा.—अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत् ॥४९॥

अकार, पुरुष, विश्व को उकार में विलीन करना चाहिये, उकार, तैजस, सूक्ष्म को मकार में विलीन करना चाहिये ॥ ४९ ॥

वा. भ.—"स्थूलादिक्रमात् सर्वं चिदात्मनि विलापयेत्" इति सङ्क्षेपेणोक्तं विलापनप्रकारं विशेषेण दर्शयति—अकारमिति। "उकारे प्रविलापयेत्" इति "अकार उकार एव" इत्येवंप्रकारेणेत्यर्थः। "मकारे प्रविलापयेत्" इति "उकारो मकार एव" इति प्रकारेणेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

'स्थूल-आदि के क्रम से सबको चिदात्मा में विलीन करे' इस प्रकार संक्षेप में कही गयी विलय करने की विधि को विशेष-रूप में प्रदर्शित कर रहे हैं—**'अकारम्'** इत्यादि द्वारा। 'उकार में विलीन करना चाहिये' इसे 'अकार उकार ही है' इस प्रकार से समझें, यह अर्थ है। 'मकार में विलीन करे' इसे 'उकार मकार ही है।' इस प्रकार से समझना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥ ४९ ॥

सु. वा.—मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत्॥४९३॥

मकार, कारण, प्राज्ञ को चिदात्मा में विलीन करना चाहिये ॥ ४९३ ॥

वा. भ.—मकारमिति। "चिदात्मनि विलापयेत्" इति "मकारोऽहमेव" इति प्रकारेणेत्यर्थः। एवं च मकार ओंकार

१. 'अहमेव' इति पाठान्तरं वार्तिकाभरणे द्रष्टव्यम्।

एव। 'ओंकारोऽहमेव' इति पाठान्तरं वार्त्तिकाननुगुणमिति वेदितव्यम्। तादृशपाठस्य सर्वोपनिषद्व्याख्यानाननुगुणत्वात्। प्रपञ्चस्तु पञ्चीकरणभावप्रकाशिकायां द्रष्टव्यः॥ ४९१/२॥

'मकारम्' इत्यादि (वार्तिक की व्याख्या की जा रही है।) 'चिदात्मा में विलीन करे' इसे 'मकार अहम् ही है' इस प्रकार से जाने, यह अर्थ है। इस भाँति मकार ओंकार ही है। 'ओङ्कारोऽहमेव'—ओङ्कार अहम् ही है—यह पाठान्तर वार्तिक के अनुरूप नहीं है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि उस प्रकार का पाठ सभी उपनिषदों की व्याख्याओं के अनुरूप नहीं है। विस्तार से निरूपण तो 'पञ्चीकरणभाव-प्रकाशिका' में देखना चाहिये॥ ४९१/२॥

आ. गि. वि.—तथापि त्रयाणामकारादीनां मिथो विभक्तानामवस्थानात् कुतोऽद्वैतं सिद्ध्यतीत्याशङ्क्यापवादप्रक्रियां प्रकटयति—**अकार** इति।

फिर भी एक साथ अकार-आदि तीनों के अलग-अलग अवस्थित होने से कैसे अद्वैत सिद्ध होगा, ऐसी आशङ्का करके अपवाद की प्रक्रिया को स्पष्ट कर रहे हैं 'अकार' इत्यादि से।

अस्यार्थः—स्थूलभूतकार्यं समष्टिव्यष्टचात्मकमाधिदैवतादिभेदभिन्नं दृश्यं सर्वं स्थूलभूतात्मना प्रलीयते। तानि च स्थूलानि भूतानि पञ्चीकृतान्यवस्थाभिमानिसहितान्यकारात्मकानि अपञ्चीकृतभूतेषु विलीयन्ते। तत्कार्यं च सप्तदशकं लिङ्गमारम्भणाधिकरणन्यायेन तन्मात्रतां प्रतिपद्यते। तानि च अपञ्चीकृतानि सूक्ष्मभूतान्यवस्थाभिमानिसहितान्युकारात्मकानि सम्भूतिवैपरीत्येन प्रलयं प्रतिपद्यन्ते। तत्र पृथिवी गन्धतन्मात्रात्मिका रसतन्मात्रात्मिकास्वप्सु, ताश्चापो रूपतन्मात्रे तेजसि, तत्तेजः स्पर्शतन्मात्रे वायौ, स च वायुः शब्दतन्मात्रे नभसि, तच्चाविद्यासहाये सच्छब्दिते ब्रह्मण्यव्यक्ते, तच्चाव्यक्तमवस्थाभिमानिभ्यां सहितं मकारात्मकं कार्यकारणविभागविकले[1] निष्कले परिशुद्धे ब्रह्मण्योङ्कारलक्षिते विलीयते। न तस्मात्परं किञ्चिदस्ति। उक्तं हि—

इसका अर्थ यह है कि—स्थूलभूतों के कार्य जो कि समष्टि और व्यष्टि के रूपों में हैं, अधिदैवत आदि भेदों में विभक्त है, दृश्य है, सारे के सारे स्थूलभूत के रूप में लीन हो जाते हैं। वे पञ्चीकृत स्थूलभूत अवस्था और अभिमानी के साथ अकार-स्वरूप अपञ्चीकृत भूतों में लीन हो जाते हैं। उनका कार्य सत्रह अवयवों वाला लिङ्ग शरीर 'आरम्भाधिकरण' के न्याय से तन्मात्रता को प्राप्त हो जाता है। अवस्था तथा अभिमानी के साथ वे अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत उकार स्वरूप हैं, और उत्पत्ति के विलोम क्रम से प्रलय को प्राप्त होते हैं। उनमें गन्धतन्मात्रस्वरूप पृथिवी रसतन्मात्रस्वरूप जल में, वह जल रूपतन्मात्र (स्वरूप) तेजस् में, वह तेजस् स्पर्शतन्मात्रा वाले वायु में, और वह वायु शब्दतन्मात्र आकाश में, और वह भी अविद्या सहित 'सत्' शब्द से कहे जाने वाले ब्रह्म-अव्यक्त में, और मकारस्वरूप, अवस्था और अभिमानी के सहित वह अव्यक्त भी कारण और कार्य रूप विभागों से रहित, निरवयव, विशुद्ध ओंङ्कार से लक्षित ब्रह्म में विलीन हो जाता है। उससे आगे कुछ भी नही है। कहा भी गया है (विष्णुपुराण में)

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
आपस्तेजसि[2] लीयन्ते तेजो वायौ विलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते॥
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः।

इति (विष्णुपुराणे।)

'हे देवर्षि (नारद), जगत् की आधारभूता पृथिवी जल में विलीन हो जाती है, जल अग्नि में लीन होता है, तेजस् वायु में

१. 'विभागशून्ये' इति वा पाठः।
२. 'तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते' इति शांत्यानंदसरस्वतीसम्मतः पाठः।

विलीन होता है, वायु भी आकाश में लीन हो जाता है और वह अव्यक्त में लीन हो जाता है। हे ब्रह्मन् ! अव्यक्त भी निष्कल पुरुष में सम्यक् लीन हो जाता है। पुरुष से परे कुछ नहीं है, वही चरम सीमा है, वह सर्वोत्कृष्ट गति है।'

रा. त.—तदेवमध्यारोपं सप्रपञ्चं निरूप्याद्वैतप्रतिपत्तिसिद्धयेऽपवादं प्रकटयितुं पूर्वपक्षमुत्थापयति—तथाऽपीति।

इस प्रकार उस अध्यारोप का प्रपञ्च के साथ निरूपण करके अद्वैत ज्ञान की सिद्धि के लिये अपवाद को प्रकट करने हेतु पूर्वपक्ष की उत्थापना—**तथाऽपि** इत्यादि से कर रहे हैं।

अपवादप्रकारमुत्पत्तिवैपरीत्येन स्पष्टीकरोति—अस्यार्थ इति। अक्षरार्थस्त्वतिरोहितार्थः। आरम्भणाधिकरणन्यायेनेति। शारीरके द्वितीयाध्याये चिन्तितं, भोक्तृभोग्यभेदप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वान्न मिथ्यात्वमिति प्राप्ते राद्धान्तः तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः छान्दोग्ये एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय श्रूयते "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति। अस्यार्थः—एकस्मिन्कारणे मृदादौ ज्ञाने सति घटशरावादि सर्वं मृण्मयं ज्ञातं भवति, यदि कार्यस्य कारणानन्यत्वं स्यात्। अन्यथा कार्याणामानन्त्येनाशक्यज्ञानत्वादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाऽनर्थिका स्यादिति।

अपवाद की रीति को उत्पत्ति के उलटे रूप से स्पष्ट कर रहे हैं—**अस्यार्थः**—इत्यादि द्वारा। अक्षरों का अर्थ छिपा हुआ नहीं है, (अर्थात् स्पष्ट है।) **'आरम्भणाधिकरणन्यायेन'** (का अर्थ इस प्रकार है)—(शङ्कराचार्य विरचित) शारीरक—(मीमांसाभाष्य) में द्वितीय अध्याय में इसका विचार किया गया है, भोक्ता तथा भोग्य के भेदों से विभाजित प्रपञ्च, प्रत्यक्ष-आदि प्रमाणों से सिद्ध होने के कारण मिथ्या नहीं है' ऐसा (पूर्वपक्ष) प्राप्त होने पर सिद्धान्त (यह स्थापित हुआ कि) उसकी अनन्यता है क्योंकि 'आरम्भण-शब्द' आदि से सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक के जान लेने से सब के ज्ञान की प्रतिज्ञा करके सुना जाता है 'हे सोम्य ! जैसे एक ही मिट्टी के पिण्ड से मिट्टी से बने सभी ज्ञात हो जाते हैं, विकार तो वाणी से प्रारब्ध नाम हैं, 'मिट्टी' यही सत्य है।' इसका अर्थ यह है कि एक कारण मिट्टी आदि के ज्ञात हो जाने

पर घड़ा, पुरवा आदि सभी मिट्टी से बने हुये ज्ञात हो जाते हैं, यदि कार्य की कारण से अभिन्नता होगी, (तभी)। नहीं तो कार्यों की अनन्तता के कारण उनका ज्ञान करना संभव न होने से एक के ही जानने से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा व्यर्थ हो जायेगी।

ननु तथाऽपि नाद्वैतसिद्धिः, "त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्" इति पुनः पुनरवधारणादिति चेत्, न, भौतिकानां भूतमात्रतावधारणपरत्वात्। अन्यथोपक्रमोपसंहारविरोधप्रसङ्गात्। "सदेव" इत्युपक्रम्य "तत्सत्यम्, स आत्मा" इत्युपसंहारः श्रूयते। अतः कारणमात्रं सत्यम्। कार्यभेदस्तु वाचारम्भणमात्रो मिथ्येति यावत्। आगमस्यानुपसंजातविरोधित्वादुपजीव्यांशाबाधकत्वादुत्तरत्वाच्च बलवत्त्वम्। तदुक्तं भट्टपादैः—

'उस पर भी अद्वैत की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि 'तीन रूप हैं, यही सत्य है', यह बार-बार निश्चय किया गया है' ऐसा कहें तो, "नहीं", क्योंकि भौतिक भूतमात्र की अवधारणा-परक होते हैं, अन्यथा उपक्रम और उपसंहार में विरोध की प्राप्ति होने लगेगी। 'सत् ही'—**सदेव**—से उपक्रम करके 'वह सत्य है, वह आत्मा है' इस प्रकार का उपसंहार सुना जाता है। इसलिये केवल कारण सत्य है। कार्यभेद तो केवल वाणी से प्रारम्भ किया गया है, अतः सारा ही मिथ्या है। विरोधी न उत्पन्न होने के कारण, उपजीव्य अंश के बाधक न होने से, तथा उत्तर होने से आगम की बलवत्ता है। वैसा (श्रीकुमारिल) भट्टाचार्य ने कहा है—

पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्॥ इति

'जहाँ पर परस्पर निरपेक्ष ज्ञानों का जन्म हो, वहाँ पूर्व की अपेक्षा पर की बलवत्ता होती है।'

तन्मात्रतामिति, अपञ्चीकृतपञ्चभूतमात्रतामित्यर्थः। अपञ्चीकृतभूतानां लयं दर्शयति—तानि चेति। सम्भूतिवैपरीत्येनेति, एतदेव विवृणोति—तत्र पृथिवीत्यादिना। तच्च नभोऽविद्यासहायेऽविद्याशबलिते सच्छब्दवाच्ये। न केनापि प्रमाणेन व्यज्यत इत्यव्यक्तं साभासमव्याकृतम्, तस्मिन् लीयते इति शेषः। ततः किमित्यत आह—तच्चेति। अवस्था प्रलयः, अभिमानी सर्वज्ञः मकारात्मकमव्यक्ते परिशुद्धे ब्रह्मणि लीयत इत्यन्वयः। ब्रह्मणः शुद्धतामाह—कार्यकारणविभागविकल इति। तदपि ब्रह्म क्व मीयत इति चेत्, न कुत्रापीत्याह—न

तस्मादिति । उक्तेऽर्थे श्रुतिं संवादयति—**उक्तं हीति । पुरुषे ब्रह्मन्** ब्रह्मणि, निष्कले शुद्धे, शेषः श्रुत्यर्थोऽतिरोहितः । तदेवमध्यारोपापवाद-न्यायमनुसृत्य प्रणवस्वरूपनिरूपणेन प्रत्यगात्मैकः पर्यवशेषितः **पुरुषान्न परं किञ्चिदिति** ।

'तन्मात्रताम्' इसका अर्थ है अपञ्चीकृत पञ्चभूतमात्र को। अपञ्चीकृतभूतों का लय—**'तानि च'** । **'सम्भूतिवैपरीत्येन'** इत्यादि से दिखलाते हैं। इसी का विवरण—**'तत्र पृथिवीत्यादि'** से दे रहे हैं। और वह आकाश **'अविद्यासहाये'** अर्थात् अविद्या से शबलित सत्शब्द के वाच्यभूत में, किसी भी प्रमाण से जो व्यक्त नहीं किया जा सकता वह अव्यक्त, आभास-सहित अव्याकृत है, उसी में लीन हो जाता है—**'तस्मिन् लीयते'** इतना शेष है (अर्थात् इतना वाक्य में और भी जुड़ना चाहिये।) उसके बाद क्या होता है, इसके बारे में—**तच्च**—इत्यादि से कहते हैं। अवस्था प्रलय होती है, अभिमानी सर्वज्ञ होता है, और मकार-स्वरूप अव्यक्त परिशुद्ध ब्रह्म में लीन हो जाती है, यह अन्वय है। ब्रह्म की शुद्धता को—**'कार्यकारण-विभागविकलः'** इस पद से कह रहे हैं। 'वह ब्रह्म भी कहाँ लीन होता है' ऐसी आशङ्का हो तो, कहीं भी नहीं (यह उत्तर है जो) **'न तस्मात्'** इत्यादि से दिया जा रहा है। कहे गये अर्थ में श्रुति की समानता दिखलाते हैं—**'उक्तं हि'**-आदि से। **'पुरुषे'** का अर्थ है ब्रह्म, उस ब्रह्म में, **निष्कले** का अर्थ है 'शुद्ध में', शेष श्रुति का अर्थ छिपा नहीं है। तो इस प्रकार अध्यारोप-अपवाद-न्याय के अनुसार प्रणव के स्वरूप के निरूपण से एक प्रत्यगात्मा शेष रहा, जिसे **'पुरुषान्न परं किञ्चित्'**-पुरुष से परे कुछ भी नहीं है—से कहा गया है।

शां. अ.—अकारः **प्रणवगताकाराभिधेयः स्थूलप्रपञ्चः स्ववाचकेन सह उकारे उकारवाच्ये सूक्ष्मप्रपञ्चे,** *उकारः* **स्ववाच्येन समं** *मकारे* **मकारवाच्ये साभासाज्ञाने प्रविलाप्य, पुनर्मकारोऽपि वाच्येन सार्कं** *ओङ्कारे* **अविद्याशबले ब्रह्मणि,** [1]*तच्चाहमिति* **अहंशब्दलक्ष्ये प्रविलाप्य समाधेः पूर्वं ध्यायेत् ।**

अकारः, प्रणव में स्थित अकार के अभिधेय स्थूल-प्रपञ्च को अपने वाचक के साथ, **उकारे**-उकारवाच्य सूक्ष्म-प्रपञ्च में, उकार को अपने वाच्य के साथ, **मकारे**-मकार के वाच्य आभाससहित ज्ञान में विलीन करके, फिर मकार को भी वाच्य के साथ **ओङ्कारे**-अविद्या से विशिष्ट ब्रह्म में, **तच्चाहमीति** और उसको भी 'अहम्' में, अहंपद के लक्ष्य में विलीन करके समाधि के पहले ध्यान करें।

१. तत् अविद्या-शबलं ब्रह्मेत्यर्थः। अत्र 'तत्' इत्यत्र 'स ओङ्कारः' इति व्याख्यानं सुवचमिति भाति 'ओङ्कारोऽहमि' इति मूलदर्शनात्। चिन्त्य-मेतत्सुधीभिः।

अनेन सुप्तदृष्ट्या सकलकार्यनाशरूपा सुप्तिर्नित्यप्रलयः, कार्य-ब्रह्मणि हिरण्यगर्भे स्वलोकवासिभिः सह मुच्यमाने सति अनुत्पन्न-ब्रह्मसाक्षात्काराणां तल्लोकवासिनां प्रकृतौ मायायां लयरूपः प्राकृत-प्रलयः, ब्रह्मणो रात्र्यागमरूपेण निमित्तेन त्रैलोक्यनाशरूपनिमित्तजो नैमित्तिकः प्रलयः, ब्रह्मज्ञानेन अविद्यासहितजगन्निवृत्तिरूपात्यन्तिक-प्रलयोऽपि व्याख्यातः। अत्र चतुर्विधप्रलयमध्ये आत्यन्तिकप्रलयं प्रति ब्रह्मज्ञानस्य, शेषाणां च प्राणिकर्मणोऽदृष्टस्य कारणतेति च ध्येयम्। प्रलयक्रमश्च "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। तेज-स्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥ वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले संप्रलीयते"[1] इति-स्मृत्या बोधितः।

इस प्रकार सुप्त की दृष्टि से समस्त कार्यों की नाशस्वरूपिणी सुप्ति नित्यप्रलय है, कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ के अपने लोक के निवा-सियों के साथ मुक्त कर दिये जाने पर जिनको ब्रह्म साक्षात्कार की उत्पत्ति नहीं हुई है उन उस लोक के वासियो का प्रकृति-माया में लयरूपी प्राकृत-प्रलय होता है, ब्रह्मा की रात्रि के आगमन-रूप निमित्त से तीनों लोकों के नाशरूप निमित्त से उत्पन्न होने वाला नैमित्तिक प्रलय होता है, ब्रह्मज्ञान से अविद्या के साथ जगत् के निवृत्ति के रूप के आत्यन्तिक प्रलय की भी व्याख्या हो गयी। यहाँ चार प्रकार के प्रलयों में से आत्यन्तिक प्रलय के प्रति ब्रह्मज्ञान की और अवशिष्टों के लिये प्राणि-कर्मों के अदृष्ट को कारणता है, यह भी ध्यान में रखना चाहिये। प्रलय का क्रम—'हे देवर्षि! जगत् की आधार भूता पृथिवी जल में विलीन हो जाती है, तेज में जल विलीन हो जाता है, तेज वायु में प्रलीन हो जाता है। वायु भी आकाश में लीन हो जता है और वह अव्यक्त में लीन हो जाता है।

१. 'संप्रलीयते' इत्यस्याग्रे 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा-गतिः—इति विष्णुपुराणे' इत्यधिकं आनंदगिरिपादाना विवरणे दृश्यते।

हे ब्रह्मन् ! अव्यक्त भी निष्कल पुरुष में सम्यक् लीन हो जाता है।" इस स्मृति से बतला दिया गया है।

अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः, नाज्ञानं, नापि तत्कार्यं, किन्तु नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं प्रत्यग्भूतचैतन्यं ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभेदेनावस्थानं समाधिः। "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) "ब्रह्माहमस्मि" (परमहं० ३) "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (ऐ. ब्र. ३।९) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृह. २।५।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

सु. वा.—चिदात्माऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ॥५०॥

और 'मैं चिदात्मा, सदा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हूँ, अद्वय हूँ ॥५०॥

वा. भ.—"सर्वं चिदात्मनि विलापयेत्" इति सर्वप्रपञ्चप्रविलापनप्रकारमुक्त्वा चिदात्मा कीदृश इत्याकाङ्क्षायां चिदात्मनः स्वरूपं कथयन् सम्प्रज्ञातसमाधिप्रकारमाह—**चिदात्मेति**। अत्र वाक्यद्वयाङ्गीकारात्पूर्वोत्तरार्द्धयोरहमित्यस्य न पौनरुक्त्यम्। नित्यपदं शुद्धेत्यादिषु सर्वत्रान्वेति—नित्यशुद्धो नित्यबुद्धो नित्यमुक्तो नित्यसद्रूपो नित्याद्वयरूप इति। तथाच शुद्धत्वादीनां कादाचित्कत्वं निरस्तम् ॥ ५० ॥

'सब को चिदात्मा में विलीन करे' इस प्रकार सारे प्रपञ्च को विलीन करने की रीति कहकर 'चिदात्मा कैसा है' ऐसी आकांक्षा होने पर चिदात्मा के स्वरूप को कहते हुये सम्प्रज्ञातसमाधि की विधि बतला रहे हैं—**चिदात्मा** इत्यादि शब्दों से। यहाँ दो वाक्य स्वीकार करने से पूर्वार्द्ध और उद्धरार्ध दोनों में 'अहम्' इस पद की पुनरुक्ति नहीं होगी। 'नित्य' पद शुद्ध इत्यादि सब (पदों) में अन्वित होता है, जो इस प्रकार होगा—नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त, नित्यसद्रूप, नित्य अद्वयरूप। इस प्रकार शुद्धत्व आदि का कभी-कभी आ पाना निरस्त हो जाता है ॥ ५० ॥

सु. वा.—परमानन्दसंदोहवासुदेवोऽहमोमिति।
ज्ञात्वा विवेचकं चित्तं तत्साक्षिणि विलापयेत् ॥५१॥

'परम आनन्द की राशि वासुदेव, ओङ्कार स्वरूप मैं हूँ' ऐसा जान कर विवेचना करने वाले चित्त को उसके साक्षी में विलीन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

वा. भ.—एतादृशचिदात्मस्वरूपस्येष्यमाणत्वे हेतुं दर्शयति—**परमेति**। तस्य पूर्णतां दर्शयति—**वासुदेव** इति। 'सर्वत्रासौ समस्तेन वसत्यत्रेति वै यतः। अतः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते' इति विष्णुपुराणवचनात्, तस्य पूर्णत्वार्थकत्वादित्यर्थः। परमानन्दसन्दोहश्चासौ वासुदेवश्चेति समानाधिकरणसमासः। आनन्दसन्दोहरूपत्वं च सर्वेषामानन्दानां ब्रह्मानन्देऽन्तर्भूतत्वादिति द्रष्टव्यम्। वासुदेवस्य प्रणवार्थत्वात् प्रणवाभिन्नत्वादोमित्यस्य तद्बोधकवासुदेवादिशब्दैः सामानाधिकरण्यं द्रष्टव्यम्। अथवा पूर्वार्द्धोक्तमहावाक्यार्थस्य स्वानुभवेनाङ्गीकारार्थो वा ओमिति। एवं शब्दानुविद्धसम्प्रज्ञातसमाधिमुक्त्वाऽसम्प्रज्ञातसमाधिं वक्तुं सम्प्रज्ञातसमाधिरूपवृत्तिविलापनप्रकारमाह—**ज्ञात्वेति**। बहुकालं सम्प्रज्ञातसमाधौ स्थित्वेत्यर्थः। **विवेचकमिति**। ध्यातृध्यानादिभेदसहितमित्यर्थः। तत्साक्षिणि विवेचकचित्तसाक्षिणीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार के चिदात्मस्वरूप के चाहे जाने में हेतु को दिखलाते हैं—**'परमेति'**-शब्द से। उसकी पूर्णता प्रदर्शित करते हैं—**'वासुदेव'**-इस शब्द से। 'क्योंकि यह यहाँ और सर्वत्र समानरूप से निश्चित ही निवास करता है, इसलिये वह 'वासुदेव' इस नाम से विद्वानों द्वारा पढ़ा जाता है।' विष्णुपुराण के इस वचन के अनुसार उसकी

पूर्णत्व की अर्थता है, यह अभिप्राय है। वह **परमानन्दसन्दोह**—परम आनन्द की राशि भी है और वासुदेव भी है, इस प्रकार यहाँ समानाधिकरण (कर्मधारय) समास है। आनन्द-सन्दोहरूपता सभी आनन्दों के ब्रह्मानन्द में अन्तर्भूत होने के कारण है, ऐसा समझना चाहिये। वासुदेव के प्रणवार्थक अर्थात् प्रणव से अभिन्न होने के कारण 'ओ३म्' का उसके बोधक वासुदेव आदि शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य समझना चाहिये। अथवा पूर्वार्ध में कहे गये महावाक्य के अर्थ को अपने अनुभव से अङ्गीकार करने के अर्थ में भी 'ओ३म्' है। इस प्रकार शब्दानुविद्ध–शब्द से व्याप्त–सम्प्रज्ञात समाधि को कह कर असम्प्रज्ञात समाधि को कहने के लिये सम्प्रज्ञात समाधिरूपी वृत्ति को विलीन करने की विधि बतला रहे हैं–**'ज्ञात्वा'** इत्यादि से। चिरकाल तक सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित रह कर, यह अर्थ है। **विवेचकम्**-का अर्थ है–ध्याता, ध्यान आदि के भेदों के साथ। **तत्साक्षिणि** का अर्थ है विवेचक चित्त के साक्षी में ॥ ५१ ॥

सु. वा.—चिदात्मनि विलीनं चेत्तच्चित्तं नैव चालयेत् ।
पूर्णबोधात्मनाऽऽसीत पूर्णाचलसमुद्रवत् ॥५२॥

यदि चिदात्मा में विलीन हो जाये तो उस चित्त को विचलित नहीं करना चाहिये तथा पूर्ण एवं स्थिर समुद्र की भाँति पूर्णबोध के रूप में अवस्थित रहना चाहिये ॥ ५२ ॥

वा. भ.—इदानीमसम्प्रज्ञातसमाधिमाह–चिदात्मनीति । 'तच्चित्तं नैव चालयेत्' इत्युक्तं, पुनः किं कुर्यादित्यत आह—पूर्णबोधेति । दृष्टान्तमाह—पूर्णाचलेति । न चलतीत्यचलः, पूर्णः अचलश्च योऽयं समुद्रः तद्वदासीतेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अब असम्प्रज्ञात-समाधि को बतला रहे हैं—**चिदात्मनि**–इत्यादि से। 'उस चित्त को विचलित न करे' यह कहा गया है, फिर क्या करना चाहिये ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—**पूर्णबोध**—इत्यादि। दृष्टान्त बतलाया है—'पूर्ण अचल'। जो नहीं चलता है वह अचल है, पूर्ण और अचल जो यह समुद्र उसके जैसा स्थिर रहे' यह अभिप्राय है ॥ ५२ ॥

सु. वा.–एवं समाहितो योगी श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
जितेन्द्रियो जितक्रोधः पश्येदात्मानमद्वयम् ॥५३॥

अतः—इस प्रकार से श्रद्धा और भक्ति से परिपूर्ण समाधिप्राप्त योगी इन्द्रियों को वश में करके, क्रोध को जीत कर आत्मा को अद्वय देखे ॥ ५३ ॥

वा. भ.—एवं समाधिप्रकारमुक्त्वा तत्परिपाकफलभूतं तत्त्वसाक्षात्कारप्रकारं दर्शयति—एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण समाहितः समाधियुक्तो योगी तत्परिपाकानन्तरं अद्वयमात्मानं पश्येत् । ज्ञाने विध्यसम्भवात्साक्षात्करोतीत्यर्थः । 'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम् । एतद्धि सर्ववेदेषु प्रसिद्धं विधिलक्षणम् ॥' ज्ञाने विध्यसम्भवात् तादृशसाक्षात्कारोत्पत्त्यर्थं समाधिकालेऽपि श्रद्धाभक्तीन्द्रियजयक्रोधजयादीनामावश्यकतां दर्शयति—श्रद्धेत्यादिना ॥ ५३ ॥

इस प्रकार समाधि के भेदों को कह कर उसके परिपाक के फल-स्वरूप तत्त्व-साक्षात्कार की विधि प्रदर्शित कर रहे हैं—**एवम्** इत्यादि द्वारा। इस प्रकार कही गयी रीति से समाहित = समाधि-युक्त योगी उसके परिपाक के पश्चात् आत्मा को अद्वय देखे। ज्ञान में विधि सम्भव न होने से उसका अर्थ हुआ—साक्षात् करता है। 'कुर्यात्, क्रियेत, कर्त्तव्यम्, भवेत् और स्यात्, निश्चित ही ये पाँचों सभी वेदों में विधिस्वरूप कहे गये हैं।' ज्ञान में विधिसम्भव न होने से उस प्रकार के साक्षात्कार की उत्पत्ति के लिये समाधि के समय में भी श्रद्धा, भक्ति, इन्द्रियजय, क्रोधजय आदि की आवश्यकता प्रदर्शित करते हैं—**'श्रद्धा'**—इत्यादि के द्वारा ॥ ५३ ॥

सु. वा.—आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत्सदा ॥५४॥

क्योंकि यह सारा (जगत्) आदि, मध्य और अन्त (सभी अवस्थाओं) में दुःखरूप है, अतः सब छोड़ कर सदा तत्त्व में अवस्थित होना चाहिये ॥ ५४ ॥

वा. भ.—ननु लौकिकव्यापारं विहाय सर्वदा तत्त्वनिष्ठा-रूपसमाधिः कर्तुं न शक्यते इत्याशंक्य अधिकारिविशेषणीभूत-वैराग्यस्यैव दार्ढ्याय समाधिदशायामपि वैराग्यं दर्शयति—आदीति। आदौ भोगसाधनीभूतद्रव्यस्यार्जने दुःखं, मध्ये तत्परिपालने दुःखम्, अवसाने तन्नाशे दुःखमित्येवंप्रकारेण सर्वमपि दुःखहेतुरेव। एवं ब्रह्मलोकान्तलोकसाधनकर्माद्यर्जन-मपि दुःखहेतुरेवेति निश्चित्य सातिशयानि लोकफलसाधनं सर्वं परित्यज्य नित्यनिरतिशयपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं सर्वदा तत्त्वनिष्ठारूप-समाधिमान्भवेदित्यर्थः ॥ ५४ ॥

लौकिक व्यापार को छोड़कर सर्वदा तत्त्वनिष्ठारूपी समाधि नहीं की जा सकती है, ऐसी आशङ्का करके अधिकारी के विशेषण बने वैराग्य की ही दृढता के लिये समाधि की अवस्था में भी वैराग्य को प्रदर्शित करते हैं—**आदि**—इत्यादि शब्दों से। आदि में अर्थात् भोग के साधनस्वरूप वस्तुओं के अर्जन में दुःख है, मध्य में अर्थात् उसकी सुरक्षा में दुःख है, अवसान अर्थात् उसके नष्ट होने पर भी दुःख है, इस प्रकार से सभी दुःख के हेतु ही हैं। इस तरह ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों को सिद्ध करने वाले कर्म आदि का सञ्चय भी दुःख का कारण ही है, ऐसा निश्चय करके ऊँच-नीच भाव से युक्त समस्त लोकों के फलों की सिद्धि को छोड़कर सर्वदा सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये हर समय तत्त्वनिष्ठारूपी समाधि से युक्त होना चाहिये, यह आशय है ॥ ५४ ॥

सु. वा.—यः पश्येत्सर्वगं शान्तमानन्दात्मानमद्वयम्।
न तेन किञ्चिदाप्तव्यं ज्ञातव्यं वाऽवशिष्यते ॥५५॥

जो (योगी) (आत्मस्वरूप) को सर्वव्यापी, अविचल, आनन्द-स्वभाव, द्वैत-हीन देखता है, उसको कुछ भी पाने अथवा जानने के लिये शेष नहीं रह जाता ॥ ५५ ॥

वा. भ.—एवं समाधिनिष्ठया तत्त्वसाक्षात्कारलाभे किं फलं भवतीत्याशङ्क्य कृतकृत्यता भवतीत्याह—यः पश्ये-दिति। सर्वत्र परिपूर्णपरमानन्दाद्वयं ब्रह्मरूपमात्मानं साक्षा-त्कुर्वतः सर्वानन्दानां ब्रह्मानन्द एवान्तर्भावादाप्तव्यान्तरं नास्ति। "यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यात्" इति ज्ञातव्यान्तरमपि नास्ति, अतः कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार समाधि-निष्ठा के द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार मिलने पर क्या फल होता है, यह आशङ्का करके 'कृतकृत्यता होती है' इस विषय को कह रहे हैं **'यः पश्येत्'** इत्यादि द्वारा। सभी स्थानों पर परिपूर्ण, परमानन्द, अद्वय ब्रह्मरूप में आत्मा का साक्षात्कार करने वाले को, सभी आनन्दों का ब्रह्मानन्द में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण, कुछ भी अन्य प्राप्त करना शेष नहीं रहता। 'जिसके जान लिये जाने पर यह सब विज्ञात हो जाता है' इस श्रुति के अनुसार कुछ भी अन्य जानने को नहीं रह जाता है, इस लिये कृत-कृत्य हो जाता है, यह अर्थ हुआ ॥ ५५ ॥

सु. वा.—कृतकृत्यो भवेद्विद्वाञ्जीवन्मुक्तो भवेत्सदा।
आत्मन्येवारूढभावो जगदेतन्न वीक्षते ॥५६॥

ज्ञानी पुरुष कृतकृत्य हो जाता है, सदा जीवन्मुक्त रहता है, आत्मा में ही आरूढभावों वाला वह इस जगत् को (अपने से भिन्न रूप में) नहीं देखता है ॥ ५६ ॥

वा. भ.—कृतकृत्य इति। कृतकृत्यो भवेदित्यस्य विवरणं जीवन्मुक्तो भवेदिति। सदेति, समाधिकाले तदितर-भिक्षाटनादिव्यवहारकाले चेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

'कृतकृत्य' इस (से प्रारम्भ श्लोक की व्याख्या की जा रही है।) 'कृतकृत्य हो जाये' इसका विवरण है 'जीवन्मुक्त हो जाये।' **'सदा'** का अर्थ है-समाधिकाल में तथा उससे भिन्न भिक्षाटन आदि के समय भी ॥ ५६ ॥

सु. वा.—कदाचिद्व्यवहारे तु द्वैतं यद्यपि पश्यति।
बोधात्मव्यतिरेकेण न पश्यति चिदन्वयात् ॥५७॥

यद्यपि योगी कभी-कभी व्यवहार में द्वैत देखता है, (तथापि)

१ 'व्यवहारेषु' इति पाठः सध्रीचीन इति भाति, व्यवहाराणामनेकत्वात्।

चिन्मय होने के कारण बोधस्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं देखता है ॥ ५७ ॥

वा. भ.—अन्यथा जीन्मुक्तत्वस्य ज्ञानात्पूर्वकाले विदेहकैवल्यकाले चाभावेन विरोधात्। अत एव समाधिकाले तदितरभिक्षाटनादिव्यवहारकाले द्वैतदर्शनेऽपि तस्य मिथ्यात्वेनैव दर्शनान्न जीवन्मुक्तताविरोध इति दर्शयति—**कदाचिदिति**। बद्धजनसाधारणं द्वैतदर्शनमंगीकरोति—**द्वैतं यद्यपि पश्यतीति**। तर्हि बद्धजनात्को विशेष इत्यत आह—**बोधात्मेति**। बद्धजनः सर्वदा द्वैतं पश्यति, विद्वांस्तु कदाचित्समाधिव्यतिरिक्तकाले एवेत्येको विशेषः। अपरस्तु बद्धजनः बोधात्मव्यतिरेकेण द्वैतं सत्यतया पश्यति, विद्वांस्तु सत्यतया न पश्यतीत्यत्र हेतुः—**चिदन्वयादिति**, सर्वत्र प्रपञ्चे चित एव सत्ताप्रदत्वेनानुस्यूतत्वज्ञानादित्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्यथा जीवन्मुक्तता का ज्ञान से पहले के समय तथा विदेहमुक्ति के समय अभाव होने से विरोध होगा। इसी से समाधि के समय और उससे भिन्न भिक्षाटन आदि व्यवहार के समय में द्वैत का दर्शन होने पर भी उसका मिथ्यारूप में ही दर्शन होने से, जीवन्मुक्तता से विरोध नही होता है, इसी को **'कदाचित्'** इत्यादि के द्वारा दिखलाया जा रहा है। मुक्त न हुये सभी लोगों में द्वैतदर्शन को स्वीकार किया जाता है **'द्वैतं यद्यपि पश्यति'** आदि शब्दों में। तब बद्धजन से (मुक्तजन का) की क्या विशेषता है? इसके लिये **'बोधात्म'** इस शब्द को कहा है। (इसका अर्थ है कि) बद्धजन सभी समय द्वैत देखता है, किन्तु विद्वान् तो कभी-कभी समाधि के अतिरिक्त समय में ही, यह पहली विशेषता हुयी। दूसरी यह है कि बद्धजन बोधात्मा से भिन्न रूप में द्वैत को सत्य समझता है, किन्तु विद्वान् तो सत्यरूप में नहीं देखता है। इसका कारण **चिदन्वयात्** इस शब्द से कहा गया है, जिसका अर्थ है—प्रपञ्च में सर्वत्र चित्त के ही सत्ताप्रद के रूप में अनुस्यूत होने का ज्ञान होने से ॥ ५७ ॥

सु. वा.—**किन्तु पश्यति मिथ्यैव[1] दिङ्मोहेन्दुविभागवत्।**
प्रतिभासः[2] शरीरस्य तदाऽऽप्रारब्धसंक्षयात् ॥५८॥

अपितु दिशाभ्रम, और द्विचन्द्र की भाँति सबको मिथ्या ही समझता है उस समय उसको शरीर का आभास (भी केवल) प्रारब्ध का क्षय होने तक रहता है, ॥ ५८ ॥

तस्य[3] तावदेव चिरमित्यादि श्रुतिरब्रवीत्।
प्रारब्धस्यानुवृत्तिस्तु मुक्तस्याभासमात्रतः ॥५९॥

(इसकी पुष्टि हेतु) श्रुति ने **'तस्य०'**—उस योगी को तब तक ही०—आदि कहा है। मुक्त पुरुष के प्रारब्ध—शरीर आदि—की अनुवृत्ति केवल आभास के रूप में होती है, (न कि वास्तविक।) ॥ ५९ ॥

वा. भ.—विद्वान्द्वैतं सत्यतया न पश्यतीत्युक्तम्, कथं पुनः पश्यतीत्यत आह—**किंत्विति**। शुद्धाद्वितीयब्रह्मणः प्रपञ्चाकारस्य मिथ्यात्वे दृष्टान्तमाह—**दिङ्मोहेति**। प्राच्यादीनां प्रतीच्याद्याकारवदित्यर्थः। एकस्यैव ब्रह्मणो देवतिर्यगादिरूपेण भेदस्य मिथ्यात्वे दृष्टान्तमाह—**इन्द्विति**। यथा एकस्यैव इन्दोर्भेदेन भानं नेत्रावष्टम्भाद्युपाधिवशात्तथा एकस्यैव ब्रह्मणस्तत्तदुपाधिवशाद्देवतिर्यगादिरूपेण भानमित्यर्थः। ननु तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरमज्ञाननाशेऽपि पुनः शरीरप्रतिभासाङ्गीकारे अनिर्मोक्ष एव स्यादित्याशङ्क्य तस्यावधिमाह—**प्रतिभास इति**। तदा ज्ञानकालेऽपि शरीरस्य प्रतिभासः **'आप्रारब्धसंक्षयात्'** इति मर्यादायामाङ्, प्रारब्धसङ्क्षयपर्यन्तम्, तन्नाशे तु शरीरादिप्रतिभासोऽपि नश्यतीत्यर्थः। तदुक्तमभियुक्तैः—

---

१. 'मिथ्येदं' इत्यपि पाठान्तरम्।
२. 'प्रतिभा स शरीरः स्यात्' इति पाठान्तरमनर्थकमिति भाति।
३. छान्दोग्योपनिषद् ६।१४।२

विद्वान् द्वैत को सत्यरूप में नहीं देखता है, यह कहा गया है, तो फिर कैसा देखता है, इसके उत्तर में **'किन्विति'** आदि कहा गया है। शुद्ध, अद्वितीय ब्रह्म के प्रपञ्च-आकार के मिथ्यात्व में दृष्टान्त कहा गया है—**'दिङ्मोह'** इत्यादि शब्दों में, जिसका अर्थ है कि (जिस प्रकार दिङ्मोह में प्राची आदि दिशाओं का आभास प्रतीची-आदि की भाँति होता है, (उसी प्रकार मिथ्यारूप में शरीरादि का भान जीवन्मुक्त को हुआ करता है।) एक ही ब्रह्म का देव, पशु आदि के रूप में होने वाली विभिन्नता के मिथ्यापन का दृष्टान्त बतलाया जा रहा है 'इन्दु०' इत्यादि शब्दों में। जैसे नेत्रों को दबाने आदि उपाधियों के कारण एक ही चन्द्रमा दो के रूप में (=भिन्न प्रकार) प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म का उन-उन उपाधियों के कारण देव, पशु आदि रूप में भान होता है, यह अभिप्राय है। 'तत्त्व-साक्षात्कार के पश्चात् अज्ञान नाश हो जाने पर भी फिर से शरीर का प्रतिभास स्वीकार करने पर मोक्ष नहीं ही हुआ' ऐसी आशङ्का करके उसकी अवधि का कथन **'प्रतिभास'** इत्यादि शब्दों से किया गया है। तब ज्ञान के समय मे भी शरीर का प्रतिभास होता है। **'आप्रारब्धसंक्षयात्'** में आङ् (=आ) का प्रयोग मर्यादा अर्थ में किया गया है जिसका अर्थ है प्रारब्ध का पूर्णतः क्षय होने तक वह रहता है, किन्तु उसका नाश होते ही शरीर-आदि का प्रतिभास भी नष्ट हो जाता है। इसे विद्वानों ने कहा भी है—

शास्त्रेण नश्येत्परमार्थरूपं कार्यक्षमं नश्यति चापरोक्ष्यात्।
प्रारब्धनाशात्प्रतिभासनाश एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया॥

'शास्त्र से (माया का) परमार्थतः समझा जाना नष्ट होता है, (ब्रह्म के) साक्षात्कार से उसका कार्यक्षम (=व्यावहारिक सामर्थ्य) नष्ट होता है, और प्रारब्ध का नाश होने से प्रतिभास का नाश होता है, इस प्रकार आत्मा की माया तीन प्रकार से नष्ट होती है।'

अस्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रमाणयति—तस्येति। तस्य ज्ञानिनस्तावदेव तावत्पर्यन्तमेव विलम्बः यावत्प्रारब्धकर्मणा न विमोक्षे न विमोक्ष्यते। अथ प्रारब्धकर्मविमोचनानन्तरं सम्पत्स्ये, सम्पत्स्ये सम्पद्यते लकारपुरुषव्यत्ययश्छान्दसः। ज्ञानेनाज्ञानस्यावरणशक्तिनाशेऽपि तत्कृतो विक्षेपः किञ्चित्कालं चक्रभ्रमणन्यायेन परमते तन्त्वादिनाशानन्तरमपि पटादिवच्चानुवर्त्तते इत्यर्थः। तर्हि विदुषो बद्धजनस्येव शरीरादिप्रतिभासाङ्गीकारे तत्कृतसुखदुःखादिहेतुत्वमित्याह—प्रारब्धस्येति। प्रारब्धस्य प्रारब्धकार्यस्य शरीरादेरित्यर्थः। मुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य आभासमात्रतः प्रतीतिमात्रात्, नतु वस्तुतोऽनुवृत्तिरस्तीत्यर्थः। तथा च सर्पभ्रमानन्तरं रज्जुतत्त्वज्ञानवतः अतिसादृश्याद्रज्ज्वाः सर्पाकारतया प्रतीतावपि न भयकम्पादिः, एवं जीवन्मुक्तस्य शरीरादिप्रतीतेरपि मिथ्यात्वेन ज्ञानान्न दुःखादिहेतुत्वमिति भावः॥ ५८-५९॥

इस अर्थ में **'तस्य'** इत्यादि श्रुति का प्रमाण देते हैं—उसे (अर्थात् ज्ञानी को) **तावदेव** (तब तक ही) विलम्ब होता है (=जब तक), प्रारब्ध कर्म से **'न विमोक्षे'** अर्थात् मुक्त नहीं हो जाता। इसके बाद-प्रारब्ध कर्म के विमोचन के पश्चात्-सम्पन्न हो जाता है। (यहाँ) 'सम्पत्स्ये' का अर्थ 'सम्पद्यते (=हो जाता है), उसमें लकार तथा पुरुष का व्यत्यय वैदिक-प्रयोग के कारण है। इसका अर्थ यह है कि 'सम्पत्स्ये' पद में लृट् लकार उत्तम पुरुष है, जिसके अनुसार अर्थ 'मैं सम्पन्न होऊँगा' होगा, किन्तु वस्तुतः इसको 'सम्पद्यते' (=वह सम्पन्न हो जाता है) अर्थ में लिया गया (जिसमें लट् लकार प्रथम पुरुष है। वैदिक साहित्य में यह प्रयोग क्षम्य होता है।) ज्ञान से अज्ञान की आवरण शक्ति का नाश हो जाने पर भी उसके द्वारा किया जाने वाला विक्षेप कुछ समय तक चाक के घूमते रहने की विधि से दूसरों के मत से तन्तु-आदि के बाद भी पट-आदि की भाँति बना रहता है, कथन का यह तात्पर्य है। तब तो बद्धजनों की भाँति विद्वान् को भी शरीर-आदि का प्रतिभास स्वीकार करने पर उसके द्वारा जिये जा रहे सुख, दुःख आदि की कारणता होने लगेगी, इसके उत्तर में **'प्रारब्धस्य'** इत्यादि कहा है। यहाँ 'प्रारब्ध' का अर्थ 'प्रारब्ध का कार्य शरीर-आदि' है। 'मुक्त' (अर्थात्) जीवन्मुक्त को **आभासमात्रतः** (=प्रतीतमात्र के रूप में) न कि वस्तुतः अनुवृत्ति होती है, यह अभिप्राय है। इस

प्रकार सर्पभ्रम के पश्चात् रज्जु के तत्त्वज्ञानवाले को अत्यधिक समानता के कारण रस्सी की सर्पाकार के रूप में प्रतीति होने पर भी, डर के कारण कम्प आदि (अथवा भय, कम्पन आदि) नहीं होता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्त को शरीरादि की प्रतीति होने पर भी उसको मिथ्यारूप में जानने से (उसमें) दुःख आदि की कारणता नहीं होती है, यह (उक्त कथन का) तात्पर्य है ॥ ५८-५९ ॥

सु. वा.—सर्वदा मुक्त एव स्याज्ज्ञाततत्त्वः पुमानसौ ।
प्रारब्धभोगशेषस्य सङ्क्षये तदनन्तरम् ॥६०॥

यह योगी पुरुष तत्त्व को जान कर सर्वदा मुक्त ही रहे। उसके पश्चात् अवशिष्ट प्रारब्ध का भोग नष्ट हो जाने पर ॥ ६० ॥

वा. भ.—तत्र हेतुमाह–सर्वदेति। ज्ञाततत्त्वः पुमान्सर्वदा समाधिकाले तदितरव्यवहारकाले च मुक्त एव । "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुत्या ज्ञानसमकालमेव मुक्तेः सिद्धत्वादतो विदुषः शरीरादि-प्रतिभासेऽपि न दुःखादिप्रसक्तिरिति भावः । प्रारब्धक्षयानन्तरं विदेहकैवल्यप्राप्तिप्रकारमाह—प्रारब्धेति ॥ ६० ॥

इसमें कारण बतलाया है—**'सर्वदा'** इत्यादि से। तत्त्व को जान लेने वाला पुरुष **'सर्वदा'** (अर्थात्) समाधिकाल और उसके अतिरिक्त व्यवहार काल में भी मुक्त ही होता है, क्योंकि 'ब्रह्म को जानने वाला ही ब्रह्म हो जाता है' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान के समकाल में ही मुक्ति की सिद्धि हो जाती है, अतः विद्वान् को शरीर-आदि का प्रतिभास होने पर भी दुःख आदि का प्रसङ्ग नहीं उपस्थित होता है, यह अभिप्राय है। प्रारब्ध के क्षय के पश्चात् विदेह कैवल्य की प्राप्ति की दशा को **'प्रारब्ध'** इत्यादि शब्दों से कहा है ॥ ६० ॥

सु. वा.—अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम् ।
चैतन्यममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम् ॥६१॥

वह अज्ञान के अन्धकार से परे, सभी आभासों से रहित, आनन्द स्वरूप, निरञ्जन, विशुद्ध, मन और वाणी से अगम्य ॥ ६१ ॥

वा. भ.—अविद्येति। "शास्त्रेण नश्येत्" इत्यादिश्लोकोक्ता त्रिविधाऽविद्या सैव तिमिरं वस्तुस्वरूपाच्छादकत्वात्तदतीतं निवृत्ताविद्यकमित्यर्थः । कारणाभावमुक्त्वा कार्याभावमप्याह—सर्वेति । आभास्यन्त इत्याभासाः शरीरादयः तद्वर्जितमित्यर्थः । अविद्यातिमिरातीतत्वादेवामलम् । सर्वाभासविवर्जितत्वादेव शुद्धम् । अत एव केवलानन्दरूपम् । तस्यापरिमिततां दर्शयति—मन इति । मनांसि च वाचश्च मनोवाचः तासामगोचरम्, अपरिमितत्वादित्यर्थः ॥ ६१ ॥

'अविद्या' इस (पद से वार्तिक का प्रारम्भ होता है।) 'शास्त्र से नष्ट होती है' इत्यादि श्लोक में कही गयी तीन प्रकार की माया है, वही वस्तु के स्वरूप की आच्छादिका होने से 'तिमिर' (= अन्धकार) है, **'तदतीत'** = 'उसमें मुक्त' का अर्थ है 'जिसकी अविद्या निवृत्त हो गयी है वह'। कारण का अभाव कहकर कार्य का अभाव कह रहे हैं—**'सर्व'** आदि शब्दों से। जो आभासित होते हैं वे आभास हैं शरीर-आदि, उनसे रहित होने वाला ('सर्वाभास विवर्जितम् का) अर्थ है। अविद्या रूपी अन्धकार से अतीत स्वरूप का होने के कारण ही वह **'अमल'** है। सभी आभासों से विवर्जित होने के कारण 'शुद्ध' है। इसी से केवल आनन्दमयं है। उसकी अपरिमितता को प्रदर्शित कर रहे हैं—**'मन'** इत्यादि से। मन भी और वाणी भी (दोनों मिलाकर) **'मनोवाचः'** पद बना है, उन सबका अग्राह्य है, क्योंकि अपरिमित है, यह पूर्ण कथन का अभिप्राय है ॥ ६१ ॥

सु. वा.—वाच्यवाचकनिर्मुक्तं हेयोपादेयवर्जितम् ।
प्रज्ञानघनमानन्दं वैष्णवं पदमश्नुते ॥ ६२ ॥

वाच्य-वाचक भाव से विमुक्त, हेयता और उपादेयता से रहित, घनीभूत प्रज्ञान स्वरूप वाले आनन्द-रूपी 'विष्णु-पद' को प्राप्त करता है ॥ ६२ ॥

वा. भ.—इदानीं तत्स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थं शब्दाद्यन्वेषणव्यावृत्त्यर्थमाह—वाच्येति । तद्दशायां इष्टानिष्टपरिहारार्थं प्रवृत्त्या-

दिकं वारयति—हेयेति। आनन्दस्याज्ञायमानस्य पुरुषार्थत्वाभावादाह–प्रज्ञानघनमानन्दमिति। स्वप्रकाशतया ज्ञायमानानन्दरूपमित्यर्थः। प्रज्ञानघनमित्यनेन भट्टादिमत इव चिदचिदात्मकं न भवति, किन्तु केवलज्ञानस्वरूपमेवेति दर्शितम्। आनन्दस्वरूपस्यात्यन्ताभिलषितत्वात् पुनर्वचनम्। "विष्लृ व्याप्तौ" इतिधातुनिष्पन्नत्वाद्विष्णुशब्देन त्रिविधपरिच्छेदरहितं ब्रह्मोच्यते। विष्णोरिदं वैष्णवं ब्रह्मस्वरूपं "राहोः शिरः" इत्यादिवदभेदेऽपि भेदोपचारः। पद्यत इति पदं अश्नुते प्राप्नोति, ब्रह्मस्वरूपो भवतीत्यर्थः। ननु विष्णोः पदं वैकुण्ठाख्यं लोकं प्राप्नोति, तस्योपासनाफलत्वेन तत्त्वसाक्षात्कारफलत्वासम्भवात्। ब्रह्मसाक्षात्कारस्य "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मैक्यप्राप्तिफलत्वादिति भावः॥ ६२॥

अब उसके स्वरूप की प्राप्ति के लिये शब्द आदि से किये जाने वाले अनुसन्धान के निवारणार्थ कहा गया है—**वाच्य**–इत्यादि। उस दशा में इष्ट और अनिष्ट का परिहार करने के लिये प्रवृत्ति आदि का निषेध किया जा रहा है—'**हेय**'-इत्यादि से। जाने न जा रहे आनन्द की पुरुषार्थता के अभाव के कारण कहा गया है—'**प्रज्ञानघनमानन्दम्**' इत्यादि, जिसका अर्थ है–स्वप्रकाश होने के कारण जाने जा रहे आनन्द के रूपवाला। 'प्रज्ञानघनम्' इस पद के द्वारा, भट्ट-आदि के मत की भाँति वह चित् और अचित् (उभय) स्वरूप नहीं होता है, अपितु केवल-ज्ञान-स्वरूप है, यह प्रदर्शित किया गया है। आनन्द-स्वरूपता को अत्यधिक अभीष्ट होने के कारण पुनः कहा गया है। 'विष्लृ व्याप्तौ' (= विष्लृ-धातु व्याप्ति के अर्थ में होती है) इस धातु से बना होने के कारण विष्णु शब्द से तीनों प्रकार की सीमाओ से रहित ब्रह्म का कथन होता है। जो विष्णु का है वह है वैष्णव है, वही ब्रह्म का स्वरूप है (इस प्रकार विष्णु और अर्थ एक होते हुये भी शब्दतः भिन्न-भिन्न व्यवहृत होते हैं।) 'राहु का शिर' इत्यादि की भाँति दोनों में अभेद होते हुये भी भेद का व्यवहार होता है। (पदमनुश्ते' प्रयोग में 'पद' और 'अश्नुते' को व्युत्पत्ति है) (जहाँ) जाया जाता है वह '**पद**' है, '**अश्नुते**' का (अर्थ है) प्राप्नोति अर्थात् प्राप्त करता है। (पूरे का निर्गलित अर्थ हुआ) ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, न कि विष्णु के पद वैकुण्ठ नामक लोक को प्राप्त करता है, क्योंकि उसके उपासना का फल होने के कारण तत्त्वसाक्षात्कार का फल होना संभव नहीं, यतः 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, इत्यादि श्रुति में ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्म से एकत्व प्राप्ति का फल है, यह आशय है॥ ६२॥

आ. गि. वि.—अकारादीनां पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरस्मिन्ननुप्रवेशेन प्रत्यगात्मनि पर्यवसितत्वेऽपि प्रत्यगात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्काराव्याकृतानां मध्ये कतमः स्यादित्याशङ्क्याह–**अहमात्मे**ति। देहस्तावदनात्मा दृश्यत्वात् जडत्वात् परिच्छिन्नत्वात् आद्यन्तत्त्वाच्च घटवत्। तथा इन्द्रियादीनामव्याकृतपर्यन्तानामनात्मत्वमवधेयम्। न च प्रतीचो देहादिसाक्षिणो जाड्यमुपपद्यते। जडत्वे घटादिवदनात्मत्वप्रसङ्गात्। तस्मादज्ञानं साभासमव्याकृतशब्दितं तत्कार्यं देहाद्यनात्मत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। तद्व्यतिरिक्तश्चात्मा तदुभयसाक्षी चिद्धातुरेव द्रष्टव्य इत्यर्थः। केवलशब्देन चितो विषयनिरपेक्षत्वं विवक्ष्यते। चिन्मात्रशब्देनात्मनो द्रव्यबोधरूपत्वं परेष्टं प्रत्याचष्टे—**चिन्मात्रे**ति।

अकार-आदि पूर्व-पूर्व का बाद-बाद में अनुप्रवेश के द्वारा प्रत्यगात्मा में पर्यवसान हो जाने पर भी प्रत्यगात्मा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण, अहङ्कार और अव्याकृत में से कौन सा है, ऐसी आशङ्का करके—**अहमात्मेति**–मैं आत्मा हूँ, इत्यादि कहा है। देह तो आत्मा नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है, जड़ है, परिच्छिन्न है और आदि तथा अन्त वाला है, जैसे कि घड़ा। उसी प्रकार इन्द्रियों से लेकर अव्याकृत तक की अनात्मता समझनी चाहिये। देह आदि के साक्षी प्रत्यगात्मा का जड़ होना उचित नहीं लगता, क्योंकि उसके भी जड़ होने पर उसमें भी घट आदि की भाँति अनात्मता का प्रसङ्ग होने लगेगा। इसलिये अज्ञान को आभासयुक्त, अव्याकृत-

शब्द से अभिहित और उसके कार्य देह आदि अनात्मों के रूप में ग्रहण करना चाहिये। उससे भिन्न आत्मा को उन दोनों का साक्षी चित् धातु ही समझना चाहिये, यह अभिप्राय है। 'केवल' शब्द के प्रयोग से 'चित्' विषय-सापेक्ष नहीं है, यह कहना अभीष्ट है। 'चिन्मात्र' शब्द से दूसरों (वैशेषिक आदि) को अभीष्ट आत्मा की द्रव्यरूपता और बोधरूपता भी निरस्त की जाती है। इसी से **'चिन्मात्रेति'** आदि का प्रयोग किया गया है।

रा. त.—भवत्येवं प्रत्यगात्मपर्यन्तमपवादः, प्रत्यगात्मनो नापवादश्चेत्तदेव प्रत्यगात्मस्वरूपं विशेषतो निर्धारणीयमिति शङ्कते—**अकारादीनामिति**। प्रश्नबीजं वादिविप्रतिपत्तिरूपं दर्शयति—**देहेन्द्रियेति**। तत्रोत्तरत्वेन मूलमवतारयति—**अहमात्मेतीति**। देहाद्यव्याकृतान्तातिरिक्त आत्मेति मूलार्थं प्रकटयितुं देहादेरनात्मत्वं साधयति—**'देहस्तावत्'** इत्यादिना। तत्र जडत्वहेतुः साध्याविशिष्ट इति चेत्, न, अनात्मत्वं नाम आत्मातिरिक्तत्वं जडत्वं स्वसंविद्रूपत्वमिति साध्यसाधनयोर्भेदात्। दृश्यत्वं तु स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तदर्शनापेक्षत्वम्।

'इस प्रकार से प्रत्यगात्मा तक अपवाद होता है, प्रत्यगात्मा का अपवाद यही नहीं होता है, तो वही प्रत्यगात्मा का विशेषरूप से निर्धारित किया जाना चाहिये' ऐसी आशङ्का **'अकारादीनाम्'** आदि से करते हैं। प्रश्न का बीज वादी की विप्रतिपत्ति के रूप में दिखलाते हैं—**देहेन्द्रिय**—इत्यादि से। उसके उत्तर के रूप में—**अहमात्मा**—इत्यादि मूल को उतार रहे हैं। देह से लेकर अव्याकृत तक के अतिरिक्त आत्मा है, इस मूल-अर्थ को प्रकट करने के लिये देह-आदि की अनात्मता को साध रहे हैं—**देहस्तावत्**—इत्यादि से। उनमें 'जड़ता का हेतु साध्य से विशिष्ट नहीं है', ऐसी आशङ्का हो तो, 'नहीं, क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त होना अनात्मता है, जड़ता तो संविद्-रूप में न होना है, इस प्रकार साध्य और साधन में भेद है। दृश्य होना तो अपने व्यवहार में अपने से भिन्न दर्शन की अपेक्षा वाला होना है।

अत्र कश्चिदाह—किमिदं दृश्यत्वं फलव्याप्यत्वं वृत्तिव्याप्यत्वं वेति वक्तव्यम्। आद्ये भागासिद्धिः, देहस्याभ्यन्तरभागे दृश्यत्वाभावात्। द्वितीये त्वात्मन्यनैकान्तिकता, आत्मनोऽपि वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारादिति।

इस विषय में किसी ने कहा था—'यह दृश्यता क्या है, फल व्याप्तता अथवा वृत्तिव्याप्तता, यह बतलाइये। प्रथम मानने पर आंशिक असिद्धि होगी, क्योंकि देह के भीतरी भागों में दृश्यता का अभाव हो जायेगा, द्वितीय विकल्प मानते पर तो आत्मा में ही अनैकान्तिकता होगी, क्योंकि आत्मा की भी वृत्ति-व्याप्यता स्वीकार करनी पड़ेगी।

अत्रोच्यते—न फलव्याप्यत्वे भागासिद्धिः, संमुग्धस्यावयविनः फलितत्वात्। अन्यथा घटादेरपि फलव्याप्यत्वाभावप्रसङ्गात्। नापि वृत्तिव्याप्यत्वे आत्मन्यनैकान्तिकत्वम्, तस्य स्वप्रकाशकत्वेन वृत्तिव्याप्यत्वाभावात्। वृत्त्यङ्गीकारस्तु तदावरणनाशाय, न तु स्वरूपप्रकाशायेत्यविरोधः। न चात्मनः स्वप्रकाशकत्वमसिद्धमिति वाच्यम् "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः," "आत्मैवास्य ज्योतिः" इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्। किञ्चानवधारितफलव्याप्यत्ववृत्तिव्याप्यत्वविशेषं दृश्यत्वमात्रं हेतुः। अन्यथा किमनेन तद्देशकालसंलग्नो धूमो हेतुरेतद्देशकालसंलग्नो वा? आद्ये स्वरूपसिद्धिः, द्वितीये साधनशून्यं निदर्शनमित्युक्ते धूमानुमानभङ्गप्रसङ्गात्। धूममात्रं हेतुरिति परिहारे अत्रापि दृश्यत्वमात्रं हेतुरिति समानम्। अलमतो विस्तरेण।

इसके बारे में कह रहे हैं—फलव्याप्यत्व मानने पर भाग-असिद्धि नहीं होगी, क्योंकि संमुग्ध अवयवी फलित होगा। अन्यथा, घट-आदि के भी फलव्याप्यत्व के अभाव का प्रसङ्ग होगा। वृत्ति-व्याप्यत्व में भी आत्मा में अनैकान्तिकता नहीं होगी, क्योंकि उसके स्वप्रकाशकप्व के कारण वृत्तिव्याप्यत्व नहीं होगा।

वृत्ति की मान्यता तो उसके आवरण के नाश के लिये है, न कि स्वरूप का प्रकाशन करने के लिये, इस प्रकार विरोध नहीं होगा। यह भी नहीं कहना चाहिये कि आत्मा की स्वप्रकाशकता सिद्ध नहीं है, क्योंकि वह 'यहाँ वह पुरुष स्वप्रकाश है', 'आत्मा ही इसकी ज्योति है', इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है। और फिर, अवधारित हुये विना फलव्याप्यत्व-विशेष और वृत्तिव्याप्यत्व-विशेष दृश्यत्व मात्र ही हेतु है, अन्यथा इससे क्या, (आप ही बतलाइये कि) उस देश और काल से संलग्न धूम हेतु है अथवा इस देश और काल से संलग्न? प्रथम मानने पर स्वरूपासिद्धि होगी, और दूसरे पक्ष में 'साधन से शून्य है यह उदाहरण' यह कहने पर धूम से किये

जाने वाले अनुमान का भङ्ग उपस्थित होने लगेगा। 'धूम मात्र हेतु है' ऐसा परिहार करने पर यहाँ भी (अर्थात् हम वेदान्तियों के पक्ष में भी) दृश्यत्वमात्र हेतु है, इस प्रकार (हम दोनों) समान हैं। इससे अधिक विस्तार नहीं कर रहे हैं।

ननु जडत्वहेतुरसिद्धः, प्रत्यक्षेण चेतनत्वेनोपलम्भादिति चेत्, न, चेतनत्वप्रतीतेरात्मव्याप्यदेहविषयत्वात्। अन्यथा मृतशरीरेऽपि चेतनत्वप्रतीत्यापत्तेः। कृशोऽहमित्यादिप्रत्ययस्तु भ्रान्त एव, न्यायसहितमम-प्रत्ययबाधितत्वात्, हेत्वन्तरं त्वतिराहितार्थम्। अथेन्द्रियादीनामित्युक्तरेव हेतुभिरनात्मत्वमवधेयमित्यर्थः। अतः परिशेषाद्देहादीनां दृश्यानामदृश्यो द्रष्टा आत्मा सिद्धः।

'जडत्व-हेतु असिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष से चेतन के रूप में उपलब्ध होता है' ऐसी शङ्का करें तो, उचित नहीं है, क्योंकि चेतनता की प्रतीति आत्मा से व्याप्य देह का विषय है। अन्यथा मृत-शरीर में भी चेतनता की प्रतीति की आपत्ति होने लगेगी। 'मैं दुबला हूँ' इत्यादि प्रत्यय तो भ्रान्त ही है, क्योंकि न्याय सहित 'मम'-प्रत्यय का बाध हो जाता है। दूसरे हेतु का अर्थ छिपा नहीं है (अर्थात् स्पष्ट ही है।) उसी प्रकार इन्द्रिय आदि की भी'— **'तथा इन्द्रियादीनाम्'** आदि (जो कहा गया है) उसकी भी कहे हेतुओं से अनात्मता समझी जानी चाहिये। इस प्रकार परिशेष न्यायेन देह आदि दृश्यों का अदृश्य द्रष्टा आत्मा सिद्ध हुआ।

भवतु देहादिविलक्षण आत्मा, सोऽपि जड एव किं न स्यादिति तत्राह—**न च** इति। प्रतीचः प्रत्यगात्मनः स्वप्रकाशस्येति यावत्। **'देहादिसाक्षिणः'** इति हेतुगर्भं विशेषणम्। विपक्षे दोषमाह— **जडत्व** इति। अनात्मत्वप्रसङ्गो जडत्वाविशेषादित्यर्थः।

'देह-आदि से विलक्षण आत्मा भले ही हो, किन्तु वह भी जड ही क्यों न हो', ऐसी शङ्का पर—**न च** इत्यादि कहते हैं। 'प्रतीचः' का अर्थ है प्रत्यगात्मा जो स्वप्रकाश है, उसका 'देहादिसाक्षिणः' यह ऐसा विशेषण है जिसके भीतर हेतु निहित है। विपक्ष में दोष बतलाया है, **जडत्व** इत्यादि से। जिसका अर्थ है कि अनात्मता का प्रसङ्ग जड़त्व से भिन्न नहीं है।

परिशेषितं सिद्धमर्थमादायोपसंहरति—**तस्मादिति**। **तदुभयेति**, अव्याकृततत्कार्यसाक्षीत्यर्थः। **चिद्धातुश्चिदेकरस** इत्यर्थः। अनेन "केव-

लश्चिन्मात्रस्वरूपः" इत्यत्र चित्स्वरूपपदं व्याख्यातम्। केवलपदकृत्यमाह—**केवलेति**। न च ज्ञानस्य विषयघटितत्वं स्वरूपम्, विषयाणां व्यभिचारेऽपि ज्ञानाव्यभिचारात्। तत्तद्विषयाणि ज्ञानानि भिन्नान्येवेति चेत्, न, स्वतो भेदानवगमात्। प्रतीयमानभेदस्य विषयभेदघटितत्वेनौपाधिकत्वादिति भावः। मात्रपदप्रयोजनमाह—**चिन्मात्रेति**। **द्रव्यबोधरूपत्वमिति** द्रव्यरूपत्वं बोधरूपत्वं च व्यद्रमिति वैशेषिकाः, बोध इति बुद्धा इत्यर्थः। न ह्यात्मनो द्रव्यरूपता, निर्गुणत्वात्। समवायिकारणत्वेन द्रव्यत्वं स्यादिति चेत्, न, समवायस्यैवाभावात्, भावे वाऽद्वितीयत्वासङ्गश्रुतिविरोधात्। बोधरूपत्वं त्वनुमानेन निराकृतमेवेह स्मारितमिति भावः।

परिशेषतः सिद्ध अर्थ को लेकर उपसंहार करते हैं—**'तस्मात'** इत्याादि से। **'तदुभय'** इसका अर्थ है अव्याकृत और उसके कार्यों का साक्षी। **'चिद्धातुः'** का अर्थ है चित् से एकरस होना। इससे 'केवल चिन्मात्र स्वरूप है' इसमें निहित **'चित्स्वरूप'**-पद की व्याख्या हो गयी। केवल पदकृत्य कहा गया है—**'केवल'**-इत्यादि से। विषय से घटित होना ज्ञान का स्वरूप नहीं है, क्योंकि विषयों का व्यभिचार होने पर भी ज्ञान का व्यभिचार नहीं होता है। 'उन-उन विषयों वाले ज्ञान भिन्न ही होते हैं' ऐसा कहें तो, उचित नहीं है, क्योंकि अपने आप भेद का अवगम नहीं होता, क्योंकि प्रतीयमान भेद के विषयभेद से घटित होने के कारण औपाधिकता होती है, यह भाव है। **'मात्र'**-पद को रखने का उद्देश्य—**चिन्मात्र**-इत्यादि से बतला रहे हैं। **'द्रव्यबोधरूपत्वम्'**-का अर्थ है—द्रव्यरूपता और बोधरूपता। द्रव्य (रूप) है, ऐसा वैशेषिक कहते है, और बोधरूप है ऐसा बौद्ध-लोग कहते हैं, जब कि आत्मा की द्रव्यरूपता नहीं है, क्योंकि वह निर्गुण है। 'समवायि-कारण होने से द्रव्यत्व हो सकता है', ऐसा कहें तो, 'ठीक नहीं', क्योंकि समवाय ही नहीं होता है, अथवा यदि हो भी तो, (ब्रह्म की) अद्वितीयता तथा असङ्गता बतलाने वाली श्रुति से विरोध होगा। बोधरूपता तो अनुमान के द्वारा निरस्त ही कर दी गयी है, उसी का यहाँ स्मरण करा दिया गया है, यह कहने का आशय है।

आ॰ गि॰ वि॰—एवमज्ञानतत्कार्यस्पर्शशून्यश्चिदात्मा परिशुद्धस्त्वम्पदार्थः तत्पदार्थाद् ब्रह्मणोऽर्थान्तरं किं न स्यादिति

मन्वानः सन्नाह—**किन्त्विति**। तत्पदार्थपरिशोधनपूर्वकं परिशोधितं त्वम्पदार्थमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं वाक्यार्थं कथयति—**नित्येत्यादिना**। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः।' 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः॥' इति श्रुतिस्मृती समाश्रित्य कार्यैक्यं ब्रह्मणो नित्यत्वविशेषणेन निरस्यति।

इस प्रकार अज्ञान और उसके कार्यों के संसर्ग से रहित चिदात्मा परिशोधित 'त्वम्'-पद का अर्थ है, (वह) 'तत्'-पद के अर्थ ब्रह्म का एक दूसरा ही अर्थ क्यों नहीं होगा, ऐसा मानते हुये कहा है—**किन्त्विति**। 'तत्'-पद के अर्थ का पहले परिशोधन करके परिशोधित 'त्वम्'-पद के अर्थ का अनुवाद करते हुये उसकी ब्रह्मता को वाक्यार्थ कहते हैं—**नित्येत्यादिना**-नित्य इत्यादि शब्दों से। '(आत्मा) आकाश की भाँति सर्वव्यापक है तथा नित्य है' 'वह अनुत्पन्न, नित्य, सनातन, पुराण है।' इस श्रुति और स्मृति के सहारे नित्यत्व-विशेषण के द्वारा ब्रह्म की कार्य से अभिन्नता का निराकरण किया जाता है।

रा. त. —"अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपो नाज्ञानं नापि तत्कार्यं च" इत्येतावता त्वम्पदार्थः परिशोधितः। **'किन्तु'** इति पदसूचितां शंकामाविष्करोति—**एवमज्ञानेति**। अर्थान्तरशङ्कां व्यावर्तयितुमुत्तरग्रन्थतात्पर्यमाह—**तत्पदार्थेति**। वाक्यार्थपरिशोधनाय तत्पदार्थशोधनमित्यर्थः। नित्येत्यादिसप्तविशेषणैस्तत्पदार्थशोधनमिति तात्पर्यार्थः। आकाशवत्सर्वगतः सर्वव्यापक इति योजना, न त्वाकाशवन्नित्य इति। तथा सति नित्यत्वस्य सापेक्षत्वप्रसङ्गात्। नित्यश्चेति श्रुतिपदं प्रकृतोदाहरणम्। "अजो नित्यः" इति श्रुतिः। नित्यविशेषणेन फलितार्थमाह—**कार्यैक्यमिति**। कार्यस्यानित्यत्वान्न ब्रह्मणः कार्यैक्यमित्यर्थः।

'मैं आत्मा, साक्षी, केवल, चिन्मात्र स्वरूप हूँ, न कि अज्ञान और न उसका कार्य' इतने से 'त्वम्'-पद का अर्थ शोधित किया गया। **'किन्तु'** इस पद से सूचित शङ्का का प्रकटन—**एवमज्ञानेन**-से हो रहा है। दूसरे अर्थ की शङ्का का निराकरण करने के लिये उत्तर-वाक्य का तात्पर्य—**तत्पदार्थ-से** कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वाक्यार्थ का परिशोधन करने के लिये 'तत्पदार्थ' का शोधन अपेक्षित होता है। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि 'नित्य' इत्यादि सात विशेषणों से 'तत्पद'-के अर्थ का शोधन होता है। 'आकाश की भाँति सर्वव्यापक है' ऐसी वाक्य में पद-योजना होनी चाहिये, न कि 'आकाश की भाँति नित्य' इत्यादि, क्योंकि वैसा मानने पर 'नित्यत्व' में सापेक्षत्व का प्रसङ्ग होने लगेगा। और 'नित्य'-यह श्रुति का पद प्रकृत प्राप्त प्रसङ्ग का उदाहरण है। '(वह आत्मा) अज है, नित्य है, यह श्रुति है। 'नित्य'-इस विशेषण से निर्गत अर्थ को कह रहे हैं—**कार्यैक्यम्**-इत्यादि से (जिसका) अर्थ यह है कि कार्य के अनित्य होने से ब्रह्म की कार्य से एकता नहीं है।

आ. गि. वि.—"शुद्धमपापविद्धम्" इत्यादिश्रुतिवाक्यावष्टम्भेन कार्यतादात्म्यवैधुर्यं ब्रह्मणः शुद्धविशेषणेनोच्यते। "प्रज्ञानघनेति" श्रुतिमाश्रित्य नित्यविज्ञप्तिरूपतां ब्रुवाणो बुद्धविशेषणेन कारणैक्यं ब्रह्मणो निषेधति। "विमुक्तश्च विमुच्यते" इति श्रुतिमनुसृत्याविद्याकामकर्मपारतन्त्र्यापाकरणेन कारणतादात्म्यं ब्रह्मणो मुक्तपदेन प्रत्याचष्टे। ऐक्यतादात्म्ययोश्च भेदासहत्वभेदसहत्वाभ्यां भेदः।

'शुद्ध और पाप से अस्पृष्ट' इत्यादि श्रुति वाक्यों के सहारे 'शुद्ध' विशेषण के द्वारा ब्रह्म का कार्य से अभिन्नता का अभाव कहा जा रहा है। 'प्रज्ञानघन' इस श्रुति के आधार पर 'बुद्ध'-विशेषण के द्वारा (उसकी) नित्य विज्ञान-स्वरूपता को कहते हुये ब्रह्म के कारण के साथ तादात्म्य का निषेध किया जा रहा है। 'विमुक्त ही विमुक्त होता है' इस श्रुति का अनुसरण करके अविद्या, काम और कर्म की अधीनता के निराकरण द्वारा **'मुक्त'**-पद से ब्रह्म की कारण से अभिन्नता का प्रत्याख्यान किया जा रहा है। **'ऐक्य'** और **'तादात्म्य'** इन दोनों पदों में 'भेद को सहन न कर पाने' तथा 'भेद के सहन कर पाने' का अन्तर है।

रा. त.—माऽस्तु कार्यैक्यं, कार्यतादात्म्यं तु भविष्यतीति तत्राह—**शुद्धमिति**। कार्यतादात्म्यकार्यैक्ययोरभावेऽप्यव्याकृताख्यकारणैक्यं तत्तादात्म्यं वा किं न स्यादिति तत्राह—**प्रज्ञानघन इति**। प्रज्ञानघनः

प्रज्ञानैकरस इत्यर्थः। प्रकृष्टं ज्ञानमस्येति विग्रहशङ्कां वारयति—**नित्यविज्ञप्तीति।** ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावव्युत्पत्तिरेवाविलम्बितप्रतीतेराश्रयणीयेत्यर्थः। अतो ज्ञानरूपस्य जडेन कारणेन नैक्यमित्यर्थः।

'कार्य से ऐक्य भले न हो, किन्तु कार्य से तादात्म्य तो होगा ही' इस विषय में कहा है—**शुद्धम्**-इत्यादि। 'कार्य से तादात्म्य और कार्य से ऐक्य न होने पर भी अव्याकृत नामक कारण से ऐक्य या उससे तादात्म्य क्यों नहीं होगा', इस विषय में कहा गया हैं—**प्रज्ञानघन**-इत्यादि। 'प्रज्ञानघन का अर्थ है प्रज्ञानैकरस अर्थात् प्रज्ञान मात्र है रससार जिसका। (प्रज्ञान पद का) 'प्रकृष्ट है ज्ञान जिसका (वह प्रज्ञान है) इस प्रकार के विग्रह की आशङ्का का निवारण किया जा रहा है—**नित्यविज्ञप्ति**-इत्यादि से। 'ज्ञप्ति' का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार की भाव व्युत्पत्ति ही अविलम्बित प्रतीति के कारण स्वीकार की जानी चाहिये। इसलिये ज्ञानरूप का जड़ कारण के साथ ऐक्य नहीं है, यह अर्थ है।

कारणैक्यं पराकृत्य कारणतादात्म्यं पराकरोति—**विमुक्तश्चेति।** अविद्या मिथ्याज्ञानम्। कामोऽभिलाषः। कर्म पुण्यापुण्यरूपम्। नित्यमुक्तत्वान्न कारणतादात्म्यशङ्काऽपीत्यर्थः। तादात्म्यैक्ययोरभेदमाशंक्य तद्भेदं स्फुटयति—**ऐक्यतादात्म्ययोरिति।** भेदसहत्वं तादात्म्यस्य, भेदासहत्वमैक्यस्येति विभागः।

कारण से ऐक्य का निराकरण करके कारण से तादात्म्य का अपाकरण कर रहे हैं—**'विमुक्तश्च'**-इत्यादि के द्वारा। अविद्या है मिथ्याज्ञान। काम है अभिलाषा। कर्म है पुण्य और पाप स्वरूप। नित्यमुक्त होने से कारण तादात्म्य की शङ्का भी नहीं होगी। 'तादात्म्य' और 'ऐक्य' दोनों में अभेद की आशङ्का करके उनके अन्तर को स्पष्ट करते हैं—**'ऐक्यतादात्म्ययोः'** इत्यादि से। भेद को सह पाना तादात्म्य का लक्षण है और भेद को न सह पाना ऐक्य का, यह पृथक्-पृथक् विभाजन हुआ।

आ. गि. वि.—ननु ब्रह्मणो यथोक्तस्य प्रपञ्चस्येव यथाकथञ्चिद्बाध्यत्वप्रसिद्धौ न प्रेप्सितत्वं परिकल्पते। न हि ब्रह्म प्रपञ्चाद्भिन्नम्, अब्रह्मत्वप्रसङ्गात्। अभेदे च तद्बाध्यत्वमभ्युपेयताम्। अतः कथं तदभिन्नं ब्रह्माबाध्यमभ्युपेयमि-

त्याशङ्क्य "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "सत्यस्य सत्यम्" इत्यादिश्रुतिमनुसंदधानः समाधत्ते—**सत्येति।**

'यथोक्त ब्रह्म की प्रपञ्च की भांति जैसे तैसे बाध्यता सिद्ध हो जाने पर उसको प्राप्त करने की इच्छा नहीं की जा सकेगी। ब्रह्म प्रपञ्च से भिन्न है भी नहीं, क्योंकि फिर वह नहीं रह जायेगा, और (प्रपञ्च के साथ) अभेद स्वीकार करने पर उसका बाध होना भी मानना पड़ेगा। अतः उससे अभिन्न ब्रह्म को बाध का विषय कैसे माना जायेगा' ऐसी आशङ्का करके 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है' 'सत्य का सत्य है' इत्यादि श्रुतियों का अनुसन्धान करते हुये समाधान करते हैं—**सत्येति**-'सत्य' इत्यादि पदों से

रा. त.—सत्यपदसमाधेयां शङ्कामुत्थापयति—**नन्विति।** न प्रेप्सितत्वं नेच्छागोचरत्वम्, न सत्यत्वमिति यावत्। ब्रह्मणोऽबाध्यत्वं साधयितुं ब्रह्म किं प्रपञ्चाद्भिन्नमभिन्नं वेति विकल्प्य नाद्य इत्याह—**न हीति।** कुत इत्यत आह—**अब्रह्मत्वप्रसङ्गादिति।** ब्रह्मत्वं नाम बृहत्त्वं बृंहणत्वं वा। तच्च न बृंह्यमाणप्रपञ्चात्तस्य परिच्छिन्नत्वे संभवतीत्यर्थः। द्वितीये दोषमाह—**अभेदे चेति।** परिहाराभिप्रायमाविष्करोति—**सत्यं ज्ञानमिति।** बाध्यमानस्य प्रपञ्चस्य बाधो न निरधिष्ठानः सम्भवति। बाधाधिष्ठानं च सत्यमबाध्यम्, अन्यथाऽधिष्ठानानवस्थाप्रसङ्गात्। अतो बाधाधिष्ठानमबाध्यं ब्रह्मेत्यर्थः।

'सत्य'-पद से समाधान की जा सकने वाली शङ्का को-**'ननु'**-इत्यादि से उठा रहे हैं। 'न तो प्रेप्सित होना, न इच्छा का विषय होना और न सत्य होना ही'। ब्रह्म की अबाध्यता को सिद्ध करने के लिये, यह विकल्प करके कि 'क्या ब्रह्म प्रपञ्च से भिन्न है अथवा अभिन्न', इनमें से पहला (विकल्प-रूप) नहीं है, इसको—**'न हि'** इत्यादि से कह रहे हैं। 'क्यों' इसके लिये कहते हैं—**अब्रह्मत्वप्रसङ्गात्।** इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म है बृहत् होना, अथवा बृंहण करना—विस्तार करना या होना। और वह बढ़ रहे प्रपञ्च से उसके परिच्छिन्न अर्थात् सीमित हो जाने पर संभव नहीं होगा, यह अर्थ है। द्वितीय विकल्प में दोष—**अभेदे च**-इत्यादि से बतला रहे हैं। परिहार का अभिप्राय प्रकट कर रहे हैं—**'सत्यं ज्ञानम्०'** इत्यादि से। बाधित किये जा रहे प्रपञ्च का बाध अधिष्ठान के विना नहीं

संभव होता है, और बाध का अधिष्ठान सत्य बाध्य नहीं है, अन्यथा अधिष्ठान में अनवस्था (-दोष) की उपस्थिति होने लगेगी। अतः बाध का अधिष्ठान ब्रह्म अबाध्य है, यह तात्पर्य हुआ।

आ. गि. वि.—तथापि न तस्मिन्प्रेप्सया प्रवर्तेत पुरुषार्थत्वाभावादित्याशङ्क्य "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादिश्रुतिमनुरुध्य ब्रूते—**परमानन्दे**ति। ब्रह्मानन्दस्य क्षयिष्णुत्वसातिशयत्वनिरासार्थं **परमे**ति विशेषणम्। किञ्च यथोक्तं ब्रह्म द्वैताभावोपलक्षितमिष्यते, अस्थूलादिश्रुतेः स्वतःप्रमाणत्वात्।

'फिर भी उस (ब्रह्म) को प्राप्त करने की इच्छा से प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उस प्रवृत्ति में पुरुषार्थता का अभाव होगा', ऐसी आशङ्का करके 'ब्रह्म विज्ञान है, आनन्द है' 'ब्रह्म आनन्द है ऐसा जाना' इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से—**परमानन्देति** परमानन्द है, इत्यादि कहते हैं। ब्रह्मानन्द की क्षय्यता, और अवरता का निराकरण करने के लिये **'परम'** यह विशेषण रखा गया है। और भी यथोक्त ब्रह्म द्वैत के अभाव से उपलक्षित अभीष्ट है, क्योंकि **'अस्थूल'**-आदि श्रुति से (उसकी) स्वतःप्रमाणता है।

रा. त.—आनन्दपदव्यावृत्त्या शङ्कामवतारयति—**तथाऽपी**ति। प्रेप्सा प्राप्तुमिच्छा। परमविशेषणकृत्यमाह—**ब्रह्मानन्दस्ये**ति। अद्वयपदं व्याचष्टे—**किञ्चे**ति। द्वैताभावोपलक्षितमेवाद्वितीयं न त्वद्वितीयत्वधर्मत्वम्। तथा सति धर्मधर्मिभावेनाद्वितीयता न सिद्ध्येत्। "स्वाङ्गमव्यवधायकम्" इति न्यायमाश्रित्य धर्माङ्गीकरणे निर्धर्मकत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोध इत्यभिसन्धिः। केयं निर्धर्मकत्वबोधिका श्रुतिरत आह—**अस्थूले**ति। **स्वतःप्रमाणत्वादि**ति। वेदस्यापौरुषेयत्वेन पुरुषाश्रयाणां दोषाणामसंभवात्स्वत एव प्रामाण्यमित्यर्थः। प्रामाण्यस्य परतस्त्वेऽनवस्थाऽनाश्वासयोर्दुष्परिहार्यत्वादिति भावः।

आनन्द पद के न होने की आशङ्का उतार रहे हैं—**तथाऽपि**-इत्यादि से। प्रेप्सा है प्राप्त करने की इच्छा। 'परम'-विशेषण का कार्य—**'ब्रह्मानन्दस्य'** इत्यादि से कह रहे हैं। **'अद्वय'**-पद की व्याख्या—**किञ्च** से कर रहे हैं। द्वैत के अभाव से उपलक्षित होने वाला ही 'अद्वितीय' है न कि 'अद्वितीयत्व'-धर्म से युक्त होना। वैसा होने पर धर्म और धर्मीभाव हो जाने के कारण अद्वितीयता सिद्ध नहीं होगी। 'अपना अवयव व्यवधान नहीं डालता' इस न्याय के सहारे धर्म को अङ्गीकार करने पर निर्धर्मकता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से विरोध होगा, यह अभिप्रेत अर्थ है। 'निर्धर्मकता का बोध कराने वाली श्रुति कौन सी है', इस आशङ्का पर कहते है, कि (वह है)—**'अस्थूल'** इत्यादि। **'स्वतःप्रमाणत्वात्'** इस पद का अर्थ है—वेद के अपौरुषेय होने से पुरुषों में होने वाले दोषों के न हो सकने से अपने आप ही प्रामाणिकता हो जायेगी। इसका आशय यह है कि प्रामाण्य को परतः मानने पर अनवस्था और अनाश्वस्तता के दोषों को दूर कर पाना बहुत कठिन होगा।

आ. गि. वि.—वस्तुतश्च प्रपञ्चाभावाद्भेदाभेदवाचो युक्तेरयुक्तत्वादित्यभिप्रायेणाह—**अद्वयमि**ति। परिशोधितं तत्पदार्थमनूद्य तस्य परिशोधितेन त्वम्पदार्थेन सहैक्यं वाक्यार्थं कथयति—**ब्रह्मैवे**ति। एवकारस्तादात्म्याङ्गीकारप्रयुक्तभेदनिरासार्थम्। तत्पदार्थमनूद्य तस्य त्वम्पदार्थत्वं विधाय त्वमर्थमनूद्य तस्य तत्पदत्वं[1] विदधाति—**अहं ब्रह्मास्मी**ति।

परमार्थतः प्रपञ्च का अभाव होने से भेद और अभेद की बाते भी युक्ति से सङ्गत नहीं है, इसी अभिप्राय से—**अद्वयमिति**-अद्वय इस पद को कहा है। परिशोधित **'तत्पद'**—के अर्थ का अनुवाद करके उसके परिशोधित 'त्वम्'-पद के अर्थ के साथ ऐक्य को वाक्यार्थ कहते हैं—**ब्रह्मैवेति** आदि शब्दों में। **'एव'** (का प्रयोग) 'तादात्म्य' को स्वीकार करते समय प्रयुक्त 'भेद' को निरस्त करने के लिये है। 'तत्'-पद के अर्थ का अनुवाद करके उसको 'त्वम्'-पद का अर्थ बनाकर, 'त्वम्' के अर्थ का अनुवाद करके उसको 'तत्'-पद के रूप में (या 'तद् के अर्थ के रूप में) बता रहे हैं—**अहं ब्रह्मास्मि**-इस श्रुति से।

---

१. 'तदर्थत्वं' इति पाठः क्वचित्।

रा. त.—किञ्च वस्तुतः संश्चेत्प्रपञ्चोऽस्ति, तदा ब्रह्म प्रपञ्चाद्भिन्नं न वेति विकल्पावकाशः। स एव नास्ति, वाचारम्भणश्रुत्या मिथ्यात्वस्यावसितत्वादित्याशयेनाह—**वस्तुतश्चेति**। उत्तरग्रन्थतात्पर्यमाह—**परिशोधितमिति**। **एवकार** इति, अभेदस्यौपचारिकत्वशङ्काव्यावृत्तये एवकार इत्यर्थः। पुनः "अहं ब्रह्म" इति वचनं वाक्यार्थदार्ढ्यायेत्याह—**त्वमर्थमिति**।

और भी, यदि प्रपञ्च वस्तुतः सत् होगा तो ब्रह्म प्रपञ्च से भिन्न हैं अथवा नहीं इस विकल्प के लिये अवकाश रह जायेगा। वही तो नहीं है, क्योंकि वाचारम्भण वाली श्रुति से उसका मिथ्या होना अन्तिमरूप से स्वीकार कर लिया गया है, इसी आशय से—**वस्तुतश्च** इत्यादि कहा गया है। अगले वाक्य का आशय—**परिशोधितम्** इत्यादि से कहा गया है। **'एवकार'** इसका अर्थ यह है कि अभेद की औपचारिकता की शङ्का को दूर करने के लिये 'एव' का प्रयोग हुआ है। पुनः 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वचन को, वाक्यार्थ को दृढ करने के लिये,—**त्वमर्थम्** इत्यादि से कहा गया है।

आ. गि. वि.—अथ जीवब्रह्मणोर्मिथो व्यतिहारेणैकरसस्वरूपवाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थं साधनभूतं समाधिं संगिरते—**इत्यभेदेनावस्थानं समाधिरिति**। पूर्वोक्तयुक्त्या प्रणवस्वरूपार्थानुसंधानपुरःसरं एकरसवस्तुमात्रत्वेन[1] चित्तस्य तदाकारवृत्त्यवशेषावस्थानं संप्रज्ञातसमाधिः (योगसूत्रं[2] १।१६) इत्युच्यते। उक्तं हि—

इसके बाद जीव और ब्रह्म के परस्पर ऐक्यसम्पादन के द्वारा एकरसात्मक वाक्यार्थ की प्राप्ति के लिये उसके साधनभूत समाधि को बतला रहे हैं—**"इत्यभे०"** 'इस प्रकार अभिन्नरूप में अवस्थिति समाधि है।' इन शब्दों के द्वारा। पहले कही गयी युक्ति के द्वारा ओङ्कार रूपी अर्थ का चिन्तन करते हुये एकरसवस्तुमात्र के रूप में चित्त का उसी के आकार वाली वृत्ति के अवशेष में स्थित रहना सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। कहा गया है कि—

१. 'एकरूप—' इत्यन्यत्र पाठान्तरम्। २. गुजराती-प्रि. प्रेसस्थम्।

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना।
संप्रज्ञातसमाधिः स्यात् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥ इति।

'विना अहङ्कार के ब्रह्म के आकार में मनोवृत्ति का प्रवाहित होना सम्प्रज्ञात समाधि है जो ध्यान के अभ्यास के आधिक्य से होती है।'

वृत्तिमपि तन्मात्रत्वेनोपसंहृत्य वृत्तिमतश्चित्तस्य प्रयत्नपूर्वकं वस्तुमात्रत्वेनावस्थानमसंप्रज्ञातसमाधिः (योगसूत्रं १। २०) इति गीयते। उक्तं च—

वृत्ति को भी केवल उसी के रूप में सन्निविष्ट करके वृत्तिमय चित्त का प्रयत्न के साथ वस्तुमात्र के रूप में अवस्थित रहना असंप्रज्ञात-समाधि है, ऐसा प्रचारित है। कहा भी है—

मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः।
याऽसंप्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते॥ इति।

'निर्वृत्तिक मन की जो ब्रह्म के आकार के रूप में अवस्थिति है, असम्प्रज्ञात-नाम की समाधि कही जाती है।'

अस्य च प्रयत्नपूर्वकत्वादेव सुषुप्तितो विशेषसिद्धिः। सुषुप्तौ तु कारणात्मना चित्तस्यावस्थानमास्थितम्। इदं तु कार्यकारणसंबन्धविधुरवस्तुमात्रत्वेन तस्य पर्यवस्थानमिष्यते। तद्वासनाविशेषाभ्युपगमाच्चास्य साधनपक्षपात इति भावः।

प्रयत्न के साथ किये जाने से ही सुषुप्ति से इसका अन्तरवैशिष्ट्य-सिद्ध होता है। सुषुप्ति में तो कारण के रूप में चित्त की अवस्थिति सिद्ध की गयी है। यह तो कार्य और कारण के सम्बन्ध से रहित वस्तुमात्र होने से उसके विपरीत अभीष्ट है। उसकी वासना का अन्तर सम्मत होने से इसका साधन के रूप में ग्रहण होता है, यह आशय है।

रा. त.—ननु वाक्यार्थसाक्षात्कारसाधनत्वान्नानवसरकथनमित्याह—**अथेति**[1]। मिथः अन्योन्यं व्यतिहारेण ऐक्यसंपादनेनेत्यर्थः। समाधि-

१. 'अस्ति' इति पाठान्तरम्।

द्विविधा संप्रज्ञातसमाधिरसंप्रज्ञातसमाधिश्चेति। तत्र प्रथमस्य स्वरूपं कथयति—**पूर्वोक्तेति**। अध्यारोपापवादन्यायेनेत्यर्थः। **तदाकारेति**। एकरसवस्त्वाकार इत्यर्थः। द्वितीयसमाधिस्वरूपमाह—**वृत्तिमपीति**। उक्तेऽर्थे वृद्धवचनं संवादयति—**उक्तं चेति**। सुषुप्त्यविशेषमाशङ्क्य परिहरति—**अस्य चेति**। अस्य द्वितीयस्य समाधेः, विशेषमेव दर्शयति—**सुषुप्तौ चेति**। कार्यकारणविधुरवस्तुमात्रावस्थानस्य फलत्वात् तत् कथं तस्य साधनतेत्यत आह—**तद्वासनेति**। चित्तस्य ब्रह्माकारवासनाभ्युपगमादित्यर्थः।

वाक्यार्थ के साक्षात्कार का साधन होने से यह कथन असामयिक नहीं है, इसी उद्देश्य से—**अथ** इत्यादि कहा है। **'मिथः'** का अर्थ है परस्पर और **'व्यतिहारेण'** का ऐक्य-सम्पादन के द्वारा। समाधि दो प्रकार की है, सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। इनमें से प्रथम के स्वरूप को—**पूर्वोक्त** इत्यादि से कह रहे हैं। (इस 'पूर्वोक्त०' आदि का) अर्थ है कि अध्यारोप-अपवाद-न्याय से। **तदाकार** इस पद का अर्थ है—एकरसवस्तु के आकार का। **'वृत्तिमपि'** इत्यादि से दूसरी समाधि के स्वरूप को कह रहे हैं। कहे हुये विषय से वृद्धों के वचन को मिला रहे हैं—**'उक्तं च'** इत्यादि से। सुषुप्ति से अभेद की आशङ्का करके उसका परिहार कर रहे हैं—**'अस्य च'** इत्यादि से। इनमें 'अस्य' का अर्थ है, दूसरी समाधि का। अन्तर को ही दिखला रहे हैं—**'सुषुप्तौ च'** इत्यादि से। कार्य और कारण से रहित वस्तुमात्र के रूप में अवस्थिति का फल होने के कारण वह उसका साधन कैसे होगा? इसीसे—**तद्वासना** इत्यादि से कहा गया है, जिसका अर्थ है कि 'चित्त की ब्रह्माकार-वासना को मानने से।"

आ. गि. वि.—जीवब्रह्मणोरैक्ये श्रुतिं प्रमाणयति—**अयमात्मा ब्रह्मेति**। अत्र च ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यत्वम्, ततो विरोधस्फूर्तौ पदार्थस्य निष्कृष्टस्य वस्तुमात्रेण लक्षणया संबन्धः, ततश्चाखण्डैकरस-वाक्यार्थप्रतिपत्तिः, न चैकार्थत्वे पदभेदानुपपत्तिः, व्यावर्त्य-भेदादर्थवत्त्वसिद्धेरिति द्रष्टव्यम्। आदिपदेन तत्त्वमस्यादि-

महावाक्यानि तत्त्वम्पदार्थविषयाणि च अवान्तरवाक्यानि ब्रह्मात्मैकरसत्वे पर्यवसितानि गृहीतव्यानि।

जीव और ब्रह्म की एकता में श्रुति का प्रमाण देते हैं—**'अयमात्मा०'**-यह आत्मा ब्रह्म है।' इत्यादि। यहाँ ब्रह्म और आत्मा दोनों पदों में सामानाधिकरण्य-अधिकरण की समानता-है, और पदार्थों में विशेषण-विशेष्यता, अतः विरोध के प्रकट होने पर निकाले गये पदार्थ का वस्तुमात्र के साथ लक्षणा से सम्बन्ध है, और उसके बाद तो अखण्ड, एकरस, वाक्यार्थ की प्राप्ति होती है। एकार्थता में पदों की भिन्नता अयुक्त नहीं है, क्योंकि व्यावर्त्य-जिसको हटाया जाना है, उसी में भिन्नता होने के कारण सार्थकता सिद्ध होती है, यह समझना चाहिये। **'आदि'** पद से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य और 'तत्-त्वम्' पदों के अर्थ वाले गौण वाक्यों को भी ब्रह्मरूप एकरसता में पर्यवसित ग्रहीत करना चाहिये।

रा. तं.—जीवब्रह्मस्वरूपपरिशोधनपूर्वकं कथिततदैक्यार्थे श्रुत्यन्तर-मुपोद्बलयतीत्याशयेनाह—**जीवब्रह्मणोरिति**। **"अयमात्मा"** इत्यादि-वाक्यस्याखण्डार्थत्वमुपपादयति—**अथ** इत्यादिना। **पदयोः सामानाधिकरण्यमिति,** भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। **विशेषणविशेष्यत्वमिति**। पदार्थयोरन्योन्य-भेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यत्वमित्यर्थः। नीलमुत्पलमितिवद्विशिष्ट एव वाक्यर्थोऽस्तु किं लक्षणयेति नेत्याह—**विरोधस्फूर्ताविति**। तत्र नीलगुणस्योत्पलद्रव्यस्य च गुणगुणिभावेन वैशिष्ट्यमुपपद्यते। इह तु पदार्थयोर्विरोधेन न विशिष्टवाक्यार्थसम्भव इत्यर्थः। तत्र लक्षणा त्रिविधा—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। तत्र जहल्लक्षणा न सम्भवति, गङ्गायां घोष इतिवत्, वाच्यार्थाशेषपरित्यागाभावात्। नाप्यजहल्लक्षणा, शोणो धावतीतिवत्, विरुद्धार्थत्वादेव। परिशेषाज्जहदजहल्लक्षणा सोऽयं देवदत्त इतिवदाश्रयणीया। विरुद्धांशपरित्यागेनानुगतचिदंशेनाखण्डैकरसवाक्यार्थप्रतीतिरित्याह—**ततश्चेति**। प्रमाणं च—"अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, अकार्य-कारणद्रव्यनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यवत् इति। पदयोरेकार्थपरत्वे [1]पर्यायता स्यात्। तथात्वे च सह-

१. 'पर्याप्ता' इत्यपि पाठान्तरम्।

प्रयोगायोग इति तत्राह—**नचेति**। तत्र हेतुमाह—**व्यावर्त्तेति**। 'अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिश्रुतिभ्यः" इत्यत्रादिपदसंगृहीतं दर्शयति—**आदीति**। **अवान्तरवाक्यानीति** "सत्यं ज्ञानमनन्तं" इत्यादीनीत्यर्थः।

जीव और ब्रह्म के स्वरूप का परिशोधन करके दोनों के ऐक्य के लिये दूसरी श्रुतियों का समर्थन दे रहे हैं। इसी आशय से—**'जीवब्रह्मणोः'** इत्यादि कहा है। **"अयमात्मा"** इत्यादि वाक्य की अखण्डार्थकता का उपपादन कर रहे हैं—**'अत्र'** इत्यादि से। **'पदयोः सामानाधिकरण्यम्'** इस वाक्यांश का अर्थ है—जिनकी प्रवृत्ति का प्रयोजन भिन्न है उन शब्दों की एक ही अर्थ में वृत्ति' सामानाधिकरण्य है। **'विशेषण-विशेष्यत्वम्'** इसका अर्थ है—पद और अर्थ दोनों के परस्पर भेदों का व्यावर्तक होने से विशेषण-विशेष्यता है। 'नीलम् उत्पलम्' इसकी भाँति वाक्यार्थ भी विशिष्ट ही मान लिया जाये, लक्षणा से क्या (लाभ) ?' ऐसा कहने पर, (उत्तर है कि) नहीं, उसी को—**विरोधस्फूर्तौ**-इत्यादि से कहा है। वहाँ नील-गुण और उत्पन्न-द्रव्य में गुण-गुणी भाव होने से वैशिष्ट्य सङ्गत होता है, किन्तु यहाँ तो पदों के अर्थों में विरोध होने से विशिष्ट वाक्यार्थ सम्भव नहीं है, यह कहने का आशय है। इस प्रसङ्ग में लक्षणा तीन प्रकार की है—जहत् लक्षणा, अजहत् लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। इनमें जहल्लक्षणा सम्भव नहीं होगी, क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' की भाँति वाच्यार्थ के पूर्णतः परित्याग का अभाव होगा। अजहल्लक्षणा भी नहीं होगी, क्योंकि 'शोणो धावति' की भाँति, विरुद्धार्थता होगी। परिशिष्ट रहने से 'सोऽयं देवदत्तः' की भाँति 'जहदजहल्लणा' का ही आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार विरुद्ध अंश के परित्याग के साथ चित्-अंश से अखण्ड-एकरस वाक्यार्थ की प्रतीति होगी। इसीलिये—**ततश्च** इत्यादि कहा गया है। प्रमाण भी है—'अयमात्मा ब्रह्म'-इत्यादि वाक्य अखण्डार्थ में निष्ठ हैं, क्यों कि ये कार्य-कारण-द्रव्य में न रहते हुये समानाधिकरण हैं, जैसा कि 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य हैं। दो पदों के एक अर्थ का वाचक होने पर उनमें पर्यायता होगी, और वैसा होने पर एक साथ प्रयोग अयुक्त होगा, इसी विषय में—**'न च'** इत्यादि कहा गया है। उस में—**व्यावर्त्ते**-इत्यादि से हेतु का कथन किया गया है। "यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियों से (सिद्ध होता है।)" इसमें **'आदि'** पद से

संगृहीत विषय को—**आदि**-इत्यादि पदों से कह रहें हैं। 'अवान्तर-वाक्य'—इसका अर्थ है—'सत्य, ज्ञान, अनन्त' इत्यादि वाक्य।

आ॰ गि॰ वि॰ —तदेवमधिकारिणो वाक्यात् ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारसमुत्पत्तौ अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ अनारब्धफलपूर्वोपार्जितकर्मदहनात्, उत्तरकालीनकर्मणश्चानाश्लेषात्, आरब्धफलकर्मणश्च भोगेनैव क्षयात्, तदवस्थितिप्रयुक्तदेहावभासजगदवभासनिवृत्तौ तदात्मना तत्कारणकर्मात्मनाऽवस्थिताविद्याभावात्, तत्कार्यनिवृत्तेश्च वस्तुस्वरूपेणैव परिशेषात्, प्रत्यगात्मा सच्चिदानन्दात्मकः सत्यज्ञानानन्दस्वरूपं ब्रह्मैवेति सिद्धम्।

तो इस प्रकार से अधिकारी को (महा) वाक्य से ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का साक्षात्कार उत्पन्न हो जाने पर अज्ञान और उसके कार्यों की निवृत्ति होकर जिनका फल आरम्भ नहीं हुआ है उन पहले से अर्जित कर्मों का दहन हो जाने, बाद के समय कर्म का सम्बन्ध न हो पाने, आरब्धफल वाले कर्मों का क्षय भोग से ही होने, उस दशा में प्रयुक्त देह की प्रतीति तथा जगत् की प्रतीति के निरस्त हो जाने पर उस रूप में और उसके कारण-भूत कर्म के रूप में अवस्थित अविद्या का अभाव हो जाने, उसके कार्य की निवृत्ति के कारण वस्तुस्वरूप में ही अवशिष्ट रह जाने के कारणों से प्रत्यगात्मा (जीव भी) सत्, चित् और आनन्द का स्वरूप वाला सत्य, ज्ञान, अनन्त, और आनन्द का स्वभाव वाला ब्रह्म ही है, यह सिद्ध हुआ।

रा॰ त॰—प्रकरणार्थमुपसंहरन्ननुक्रमेण जीवन्मुक्तिपरममुक्ती[1] दर्शयति—**तदेवमित्या**दिना। प्रथमं वाक्यार्थपरिशीलनफलमाह—**ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे**ति। आप्तवाक्यात् कण्ठगतचामीकरसाक्षात्कारवत् गुरूपदिष्ट—"**तत्त्वमसि**"—महावाक्याद्ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारो भवतीति भावः। साक्षात्कारे सति किं स्यात्तत्राह—**अज्ञाने**ति। यथा प्रदीपोऽन्धकारं निवर्तयन्नेवोदेति तद्वदात्मसाक्षात्कारोऽनेकसंसारमूलाज्ञानं निवर्तयन्नेवोदेति इति भावः।

१. 'जीवन्मुक्तिपरां मुक्तिं' इत्यन्यत्र पाठान्तरम्। चिन्त्यमेतत्।

प्रकरण के अर्थ का उपसंहार करते हुये क्रमशः जीवन्मुक्ति और परमुक्ति को दिखला रहे हैं—**तदेवम्**—इत्यादि द्वारा। पहले वाक्यार्थ के परिशीलन का फल—**ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार**-इत्यादि कह रहे हैं। जिसका अर्थ यह है कि आप्तवाक्य से गले पड़े हुये स्वर्ण (आभूषण) के साक्षात्कार की भाँति गुरु से बतलाये गये 'तत्त्वमसि' महावाक्य से ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार होने पर क्या होगा ? इसके बारे में—**अज्ञान**-आदि से कहा है। जैसे दीपक अन्धेरे को हटाता हुआ ही प्रकाशित होता है, उसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार अनेक संसारों की जड़ अज्ञान को हटाता हुआ ही उदित होता है, यह आशय है।

कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्तिं दर्शयति—**तत्कार्येति**। न च ज्ञानाज्ञानयोरेव विरोधे कथमविरोधि कर्म ज्ञानान्निवर्त्तेतेति वाच्यम्, सर्वस्यापि प्रपञ्चजातस्य अज्ञानात्मकत्वप्रतिपादनादिति। तर्हि देहारम्भककर्मणामविद्याकार्यत्वात् ज्ञानोत्पत्तिसमकालमेतद्देहपातः स्यादिति तत्राह—**आरब्धेति**।"प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः" इति शास्त्रादित्यर्थः।

कारण की निवृत्ति द्वारा कार्य की निवृत्ति को दिखलाते हैं—**तत्कार्य**-इत्यादि से। यह नहीं कहना चाहिये कि ज्ञान और अज्ञान में ही विरोध होने से अविरोधी कर्म कैसे ज्ञान से व्यावृत्त होगा, क्योंकि सारा ही प्रपञ्च-समूह अज्ञान-स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। 'तो फिर देह को प्रारम्भ करने वाले कर्मों के अविद्या का कार्य होने से ज्ञान की उत्पत्ति के समय में ही इस देह का पात हो जाना चाहिये' ऐसी आशङ्का होने पर **'आरब्ध'** इत्यादि कहते हैं। जिसका अर्थ यह है कि 'प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोग से ही होता है।' ऐसा शास्त्रों में कहा गया है।

एतावता जीवन्मुक्तिर्दर्शिता, परममुक्तिस्वरूपमवतारयति—**तदवस्थितीति**, तस्य देहारम्भककर्मणोऽवस्थितिरिति यावत्। देहावभासो देहरूपेणावभासः तत एव दग्धपटायमानजगदाभासश्च, तदुभयनिवृत्तेरित्यर्थः। ततः किमत आह—**तदात्मनेति**, तदात्मना देहात्मना तत्कारणकर्मात्मना प्रारब्धकर्मात्मना स्थित्यभावादित्यर्थः। **तत्कार्यनिवृत्तेरिति**, वासनामयसंसारनिवृत्तेश्चेत्यर्थः। अतः परिशेषात्सिद्धमर्थं प्रकरणप्रतिपादितमबाध्यं मोक्षस्वरूपमनेकैर्विशेषणैर्निर्द्धारयति—**वस्तुस्वरूपेणैवेति**।

इतने से जीवन्मुक्ति प्रदर्शित की गयी, अब परम-मुक्ति के स्वरूप का विवेचन प्रारम्भ कर रहे हैं—**तदवस्थितिः**-इत्यादि से, जिसका अर्थ है देहारम्भक कर्म की अवस्थिति। 'देहावभास' (का अर्थ) देह के रूप में अवभासित होना है, और उसके बाद जले हुये कपड़े की भाँति जगत् का आभास होता है, उन दोनों की निवृत्ति हो जाती है, यह अर्थ है। उसके बाद क्या होता है ? इसे—**तदात्मना**-इत्यादि से कह रहे है। यहाँ 'तदात्मना' का अर्थ है 'देह के रूप में' और **'तत्कारणकर्मात्मना'** का अर्थ है—'प्रारब्ध कर्म के रूप में स्थिति का अभाव होने से'। **'तत्कार्यनिवृत्तेः'** का अर्थ है—'वासनामय संसार की निवृत्ति होने से'। इसलिये परिशेष होने से 'प्रकरण-ग्रन्थ' के द्वारा प्रतिपादित सिद्ध वस्तु बाध न किये जा सकने वाले मोक्ष के स्वरूप को—**वस्तुस्वरूपेणैव**-इत्यादि वाक्यों में अनेक विशेषणों से निर्धारित करते हैं।

शां. अ.—**अधुना शुद्धचित्स्वरूपमाह**—*अहमात्मेति*। **आ समन्ताद्व्याप्नोतीत्यात्मा सर्वाधिष्ठानः** *साक्षी* **अविद्योपाधिः। न चात्राविद्यातत्कार्यप्रतिबिम्बलक्षणः साक्षी अन्तःकरणतद्धर्मावभासकः,** *केवलचिन्मात्रस्वरूपविशेषणत्वात्*। **अनेन चिदविषयत्वरूपस्वप्रकाशत्वमपि व्याख्यातम्।** *ननु* **केवलचिन्मात्रत्वेऽविद्याश्रयविषयत्वं तस्य कथमिति चेत्तत्राह**—*नाज्ञानमिति*। **अज्ञानं** *तत्कार्यं* **देहादि नाहं मिथ्याभूताज्ञानादेराश्रयत्वादि च मिथ्येति नाश्रयत्वविषयत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। ननु चेतनरूपं ब्रह्म कथं ज्ञेयमिति चेत् तत्राह**—*किन्त्विति*। **अस्ति वस्तुसाक्षात्कारे वृत्तिव्याप्तिः फलव्याप्तिश्चेति द्वयं कारणं, तत्र वृत्तेर्विषयाकारता वृत्तिव्याप्तिः। भग्नावरकचित्तादात्म्यं स्वाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचित्तादात्म्यं वा फलव्याप्तिः। एवं च ब्रह्मणि नित्योऽहं शुद्धोऽविद्यारहितोऽहं,** *बुद्धः* **ज्ञानरूपोऽहं** *मुक्तोऽविद्यासंबंध*-**रहितोऽहं,** *सत्यस्वभावोऽहं, परमानन्दः* **निरतिशयानन्दरूपोऽहं,** *अद्वयं* **द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षितस्वरूपोऽहं,** *प्रत्यग्भूतचैतन्यं* **अधिष्ठातृत्वेन सर्वान्तरचेतनं** *ब्रह्म एवाहं* **इत्याकारान्तःकरणवृत्तेः सत्त्वाद्वृत्तिव्याप्त्या, घटाद्यावरणरूपाविद्याभङ्गजनकचेतनस्य घटाद्यवच्छिन्नस्य घटादिविषयतादात्म्यवद्ब्रह्मणश्चेतनत्वेन तादृशचेतनतादात्म्याभावात्।**

अब शुद्ध चित् के स्वरूप को कहा जा रहा है—**अहमात्मेति** 'मैं आत्मा हूँ' इन शब्दों में। आ=सभी ओर, व्याप्त होता है वह

आत्मा है जो सबका अधिष्ठान **'साक्षी'** = साक्षी है जिसकी अविद्या उपाधि होती है। यह नहीं है कि यहाँ अविद्या और उसके कार्यों का प्रतिबिम्बस्वरूप साक्षी अन्तःकरण और उसके धर्मों का अविभासक है, क्योंकि उसका विशेषण केवल चिन्मात्र है। इससे चित् की अविषयत्व रूपिणी स्वप्रकाशता भी स्पष्ट हो गयी। केवल चिन्मात्र होने पर उसकी अविद्या के आश्रय की विषयता कैसे होगी, यदि यह शङ्का हो तो, इस विषय में कहा गया है—**नाज्ञानमिति**-अज्ञान और उसके कार्य देह आदि मैं नहीं हूँ, मिथ्याभूत अज्ञान आदि का आदि आश्रयत्व आदि मिथ्या है, इस प्रकार आश्रयता की विषयता की अनुपपत्ति नहीं होती, यह अर्थ है। चेतनरूप ब्रह्म ज्ञेय कैसे होगा, यदि यह प्रश्न हो तो, इस विषय में कहा गया है—**किन्त्विति** किन्तु इत्यादि। वस्तु के साक्षात्कार में वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति ये दो कारण हैं। इनके से वृत्ति की विषयाकारता वृत्ति व्याप्ति है। भग्न हो गया है आवरण जिसका उस चित् का तादात्म्य अथवा अपने आकार की वृत्ति में प्रतिबिम्बित चित् का तादात्म्य फलव्याप्ति है। इस प्रकार ब्रह्म से 'मैं **नित्य** हूँ,' मैं **शुद्ध** = अविद्या से रहित हूँ' **'बुद्धः**-अर्थात् मैं ज्ञानरूप हूँ' **'मुक्तः** = मैं अविद्या के सम्बन्ध से रहित हूँ' 'मैं सत्य-स्वभाव हूँ', **'परमानन्दः'** = मैं निरतिशय आनन्दरूप हूँ', **'अद्वयम्'** = मैं द्वैत के अत्यन्ताभाव से उपलक्षित स्वरूप वाला हूँ', **'प्रत्यग्भूतचैतन्यम्'** = अधिष्ठाता के रूप में सभी के भीतर चेतन, **'ब्रह्म एवाहं'** = 'ब्रह्म ही मैं हूँ', इस आकार वाली अन्तःकरण की वृत्ति के होने से वृत्ति की व्याप्ति के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, न कि घट-आदि के साक्षात्कार की भाँति फलव्याप्ति से, क्योंकि घट-आदि के आवरण के रूप में विद्यमान अविद्याभङ्ग के उत्पादक चेतन का, घटादि से अवच्छिन्न घट-आदि विषयों के साथ तादात्म्ययुक्त ब्रह्म के चेतन होने से उस प्रकार के चेतन-तादात्म्य का अभाव होगा।

अत्रेदं बोध्यम्[1]—साक्षात्कारस्थले एको जीव आवृत इतिपक्षे आवरणनिवर्तकत्वेन अनावृत इति पक्षे चिदुपरागार्थत्वेन परिच्छिन्नो

१. अनेन विषयप्रत्यक्षे प्राथमिके अन्तःकरणवृत्त्या अज्ञाननाशेऽपि पुनः प्रत्यक्षकालेऽपि तूलाविद्यापरपर्यायस्यावस्थाऽज्ञानस्य निवर्त्तकत्वेन वृत्तेः सार्थकता, संवेष्टितपटवत् विद्युदादिवद्वा तदुपपत्तेरित्यपि बोध्यम्।

जीवो नानेति पक्षे विषयचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वेनान्तःकरणवृत्तेरुपयोग इति। इत्थं चाहं ब्रह्मास्मीति शुद्धचैतन्याकारान्तःकरणवृत्त्योपलक्षणीभूतया अभेदेन जीवेश्वरत्वादिभेदाभावोपलक्षितस्वरूपेणावस्थानं स्थितिः समाधिः, असंप्रज्ञातसमाधिः वस्तुमात्रत्वेनावस्थानात्। तत्र प्रमाणमाह[1]—*तत्त्वमसीत्यादि*। **तत्पदार्थोऽविद्याप्रतिबिम्बितं चेतनं मायाप्रतिबिम्बितं चेतनं वा अविद्याप्रतिबिम्बित-जीवचेतनं प्रति बिम्बभूतो वा ईशः। त्वंपदार्थोऽविद्याप्रतिबिम्बितचेतनं अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचेतनं वा जीवाख्यम्। तयोस्तत्त्वम्पदार्थयोः असिपदार्थो भावबोधकः अभेदबोधक इति यावत्। अभेदश्च विशेषणांशस्य परित्यागेन विशेष्यांशस्य च ग्रहणेन इत्युक्तमधस्तात्। एवं** *अहं ब्रह्मेत्यत्र* **अहंशब्दार्थो जीवः,** *ब्रह्म*-**शब्दार्थ ईशः,** *अस्मि*-**पदार्थः सत्ता।** *प्रज्ञानमानन्दं* **ब्रह्मेत्यत्रापि प्रज्ञानपदं जीववाचकं ब्रह्मेति चेशवाचकम्, तयोरभेदः सामानाधिकरण्येन।** *अयमात्मा* **ब्रह्मेत्यत्रापि जीवग्रहणमिदमा ब्रह्मेतीशग्रहणं च। तथा च सर्वत्र महावाक्ये वाच्यार्थपरित्यागेन लक्ष्यांशस्याखण्डार्थस्य ग्रहणेन भागत्यागलक्षणया निर्विशेषत्वनिर्गुणत्वनिष्प्रपञ्चत्वाद्युपलक्षणीभूतचेतनस्वरूपेणावस्थानं समाधिरिति श्रुति-सिद्धोऽर्थः।**

यहाँ यह समझना चाहिये—'साक्षात्कार के स्थान में एक जीव आवृत होता है' इस पक्ष में, 'आवरण के निवर्तक के रूप में अनावृत होता है' इस पक्ष में, 'चित् के उपराग के निमित्त-वश परिच्छिन्न जीव अनेक हैं' इस पक्ष में, विषय-चैतन्य के अभेद की अभिव्यक्ति के लिये अन्तःकरण की वृत्ति का उपयोग होता है। इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस उपलक्षणीभूत शुद्ध चैतन्य के आकारवाली अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा अभिन्नरूप में जीवत्व ईश्वरत्व आदि भेदों के अभाव से उपलक्षित स्वरूप में **'अवस्थानं** = स्थिति समाधि है, असंप्रज्ञात-समाधि वस्तुमात्र के रूप में अवस्थिति होने नें कारण कही जाती है। इस विषय में प्रमाण कहा गया है—**तत्त्वमस्यादि**।

१. सर्ववाक्ये क्रियान्वितानि पदान्यर्थमभिदधते इत्यन्विताभिधानवादिनः प्राभाकराः। पदार्थाद्वाक्यार्थोऽन्यो यतः गामानयेत्यत्र गोवृत्तिकर्मताबोधके गामिति पदे न वृत्तिता विभक्तेः प्रकृतेर्वार्थस्ततो वाक्यार्थभेदः स्यादेव पदार्थात् इति नूनमभिहितान्वयवाद आश्रयणीयः इति भाट्टाः। तदेतद्द्वैदान्तिनामिष्टत्वात्तत्त्वमस्यादौ वाक्ये पदार्थाद् भेदेन युक्ता वाक्यानामखण्डार्थता।

तत्पद का अर्थ है अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन, अथवा माया में प्रतिबिम्बित चेतन, अथवा अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव-चेतन के प्रति बिम्बभूत ईश्वर। 'त्वम्'-पद का अर्थ है अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन, अथवा अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चेतन जिसे जीव कहा जाता है। उन दोनों 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों के अर्थों का 'असि'-पद का अर्थ भाव-बोधक अर्थात् अभेद का बोधक है। अभेद होता है विशेषण अंश के परित्याग के साथ विशेष्य-अंश का ग्रहण करने से, यह नीचे कहा गया है। इस प्रकार 'अहं ब्रह्म' इस वाक्य में 'अहं' शब्द का अर्थ जीव है, ब्रह्मशब्द का अर्थ 'ईश' है और 'अस्मि' पद का अर्थ है 'सत्ता'। 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इसमें भी 'प्रज्ञान'-पद जीव का वाचक है, 'ब्रह्म' यह पद 'ईश' का वाचक है। उन दोनों का अभेद सामानाधिकरण्य से द्योतित है। 'अयमात्मा ब्रह्म' इसमें भी जीव का ग्रहण 'इदम्' (अयम्) के द्वारा और 'ब्रह्म' इस पद से ईश्वर का ग्रहण है। उसी प्रकार से सभी महावाक्यों में वाच्य-अर्थ का परित्याग करके लक्ष्य-अंश अखण्डार्थ के ग्रहण से भागत्यागलक्षणा के द्वारा निर्विशेषत्व, निर्गुणत्व, निष्प्रपञ्चत्व आदि उपलक्षण हैं जिसका उस चेतन के रूप में अवस्थित होना समाधि है, यह श्रुति-सिद्ध अर्थ है।

इति पञ्चीकरणं भवति ॥ ॐ ॥

सु. वा.—इदं प्रकरणं यत्नाज्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः ।
अमानित्वादिनियमैर्गुरुभक्तिप्रसादतः ॥६३॥

अभिमान-रहितत्व आदि नियमों के साथ, महती भक्ति की कृपा से (अथवा गुरु के प्रति की गयी भक्ति के अनुग्रह से) भगवत्तमों (=परमहंसों) से यह प्रकरण समाहित होकर समझाजाना चाहिये ॥ ६३ ॥

वा. भ.—एवं मुमुक्ष्वनुग्रहार्थं कृतस्य प्रकरणस्यार्थग्रहणप्रकारमाह—इदमिति । इदं पञ्चीकरणवार्त्तिकरूपं प्रकरणं यत्नात् गुरुशुश्रूषादियत्नपूर्वकं ज्ञातव्यम् । अथवा ज्ञातव्यं मुमुक्षुभिरिति शेषः । कीदृशैर्गुरुभिर्ज्ञातव्यमित्यत आह—भगवत्तमैरिति । वेदान्तजन्यज्ञानवन्तो भगवन्तस्तेषां भगवद्रूपत्वात्, तत्त्वसाक्षात्कारवन्तस्तु भगवत्तमास्तैर्निमित्तैस्तान् गुरून्कृत्वेत्यर्थः । "गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां रूपम्" इत्यादिदर्शनात् । पुनः कीदृशैरित्यत आह—अमानित्वादीदि । अमानित्वादयः "अमानित्वमदम्भित्वम्" इत्यादिभगवतोक्ता नियमाः येषां तैरित्यर्थः । "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इत्यादिश्रुतेः । एवं विधान् गुरून्प्राप्य इत्यर्थः । न च तादृशाः कृतकृत्यतया किमर्थं उपदिशन्तीति वाच्यम्, 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥' इति गीतावचनात्तादृशा अपि केवलं कृपया उपदिशन्तीति भावः । गुरुभक्तिरिति, गुर्वी चासौ भक्तिश्च गुरुभक्तिः तया यः प्रसादः गुरूणामनुग्रहः तस्मात् ज्ञातव्यमित्यर्थः । गुरुषु भक्तिरिति वा ॥ ६३ ॥

इस प्रकार मुमुक्षुओं पर कृपा के लिये रचित प्रकरण के अर्थ को ग्रहण करने की रीति बतलायी जा रही है—**'इदम्'** इस वार्तिक से। यह (इदं) 'पञ्चीकरण-वार्तिक' नामक ग्रन्थ को प्रयत्न से (यत्नात्) गुरू सेवा आदि यत्न पूर्वक जानना चाहिये (= ज्ञातव्यम् ।) अथवा 'जानने योग्य है मुमुक्षुओं के द्वारा' यह (पद) शेष रहा है (इसे लेकर अर्थ करना चाहिये ।) 'किस प्रकार के गुरुओं से जानना चाहिये' इसके लिये कहा—भगवत्तमों से। वेदान्त से जन्य ज्ञान से युक्त भगवान्, क्योंकि वे भगवान् रूप में हैं, तत्त्व-साक्षात्कार वाले तो भगवत्तम हुये, इन्हीं लक्षणों से युक्त उनको गुरु करके, यह अभिप्राय है। 'गुरुओं से गुरुओं के रूप को जान कर' इत्यादि कथन देखे जाते हैं। 'और भी किस प्रकार के द्वारा' इसके लिये कहा है—**'अमानित्वाद'** इत्यादि। अमानित्व आदि, 'अमानित्व, दम्भ से रहित होता है' इत्यादि भगवान् के द्वारा कहे गये नियम जिनके हैं उनके द्वारा' यह कहने का अभिप्राय है। 'उसे जानने के लिये वह हाथ में समिधा लिये हुये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही के पास जाये' इत्यादि श्रुति है। जिसका अर्थ है कि इस प्रकार के गुरुओं को प्राप्त करके (ब्रह्म को जाने।) यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि कृतकृत्य

होने के कारण उस प्रकार के (तत्त्वद्रष्टा) क्यों उपदेश देंगे, क्योंकि 'प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से उसे जानो। तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी तुमको ज्ञान का उपदेश देंगे।' इस गीता के वचन से उस प्रकार के लोग भी केवल कृपा के कारण उपदेश देते हैं, यह आशय है। **'गुरुभक्ति'** इसकी व्याख्या है—वह भक्ति जो बहुत अधिक है, गुरुभक्ति है, उससे जो कृपा अर्थात् गुरुओं का अनुग्रह, उससे जानना चाहिये, यह इस पद का अर्थ है। अथवा (**गुरुभक्ति** का अर्थ) गुरुओं में भक्ति भी हो सकता है ॥ ६३ ॥

सु. वा.—इमां विद्यां प्रयत्नेन योगी सन्ध्यासु सर्वदा ।
समभ्यसेदिहामुत्रभोगानासक्तधीः सुधीः॥६४॥

लौकिक तथा पारलौकिक भोगों में विराग-बुद्धि रखने वाला विमलमति योगी सदा (तीनों) सन्ध्याओं में प्रयत्नपूर्वक इस विद्या का भलीभाँति अभ्यास करता रहे ॥ ६४ ॥

[रागद्वेषादिरहितं स्वात्मानं चिन्तयेत् सदा ।
स एव जीवन्मुक्तो वा न पुनर्भवसम्भवः॥६५॥]

इति श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितं पञ्चीकरणवार्तिकं सम्पूर्णम्

(जो) राग, द्वेष आदि से रहित होकर सदा अपने आत्मा का चिन्तन करता है, वही जीवन्मुक्त है अथवा (उसी को) पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ६५ ॥

श्रीमत्सुरेश्वराचार्य के द्वारा विरचित पञ्चीकरणवार्तिक समाप्त ।

वा. भ.—एवं विशिष्टगुर्वनुग्रहादिदं प्रकरणमर्थतो ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यमित्यत आह—**इमामिति** । विद्याहेतुभूतमिदं प्रकरणमित्यर्थः । उपनिषच्छब्दवाच्यविद्याहेतुवेदान्तवाक्येषूपनिषच्छब्दवद्रष्टव्यम् । **प्रयत्नेनेति** । लोकवार्त्तादिविघ्ना यथा न स्युः तथा प्रयत्नं कृत्वेत्यर्थः । सन्ध्यासु सायम्प्रातःसन्ध्यासु समभ्यसेत् अर्थानुसन्धानपूर्वकं जपेदित्यर्थः । तत्राधिकारिणं दर्शयति—**इहेति** । वैराग्यं साधनचतुष्टयसम्पत्त्युपलक्षणार्थम् । **सुधोरिति**, श्रवणमननजन्यज्ञानवानित्यर्थः । कृतश्रवणमननस्यैव निदिध्यासने अधिकारादिति ॥ ६४ ॥

इस प्रकार विशिष्ट गुरु की कृपा से इस प्रकरण को अर्थतः जान कर क्या करे, इसलिये कहा है—**'इमाम्'** इत्यादि। यहाँ **'विद्या'** का अर्थ है—विद्या का कारण=स्वरूप यह प्रकरण। (यह अर्थ) उपनिषद्-शब्द से वाच्य विद्या के हेतुभूत वेदान्त वाक्यों के लिये उपनिषद्-शब्द के प्रयोग की भाँति समझना चाहिये। **'प्रयत्नेन'** का अर्थ है—दुनियादारी की बातों आदि के विघ्न जिस प्रकार न हों उस प्रकार प्रयत्न करके, संध्याओं में (= सन्ध्यासु) का अर्थ है—सायं, प्रातः की सन्ध्याओं में **'समभ्यसेत'** अर्थात् अर्थ का अनुसन्धान करते हुये जप करें। उसमें अधिकारी को बतलाते हैं—**इहेति से** । **'वैराग्य'** पद 'साधनचतुष्टयसम्पत्' का द्योतक है। **'सुधी'** का अर्थ है—श्रवण और मनन से उत्पन्न ज्ञान वाला, क्योंकि श्रवण और मनन किये का ही निदिध्यासन में अधिकार है ॥ ६४ ॥

अनया पञ्चीकरणवार्त्तिकाभरणरूपया कृत्या ।
कृष्णः प्रीतो भवति बुधाश्च तां समीक्ष्य मोदन्ताम् ॥१॥

इति श्रीपञ्चीकरणवार्त्तिकाभरणं सम्पूर्णम्

इस 'पञ्चीकरणवार्तिकाभरण' रूपी कृति से कृष्ण प्रसन्न हों और विद्वान् भी उसकी समीक्षा करके आनन्द करे ॥ १ ॥

श्रीपञ्चीकरणवार्तिकाभरण समाप्त ।

आ. गि. वि.—षड्विधं लिङ्गमाश्रित्य वेदान्ता यत्र निष्ठिताः ।
विधानप्रतिषेधाभ्यां तं वन्दे पुरुषोत्तमम् ॥१॥

इत्यानन्दगिरिविरचितं पञ्चीकरणविवरणं सम्पूर्णम्

छह प्रकार के लिङ्गों का आश्रय लेकर वेदान्त (उपनिषद्) जिसमें पूर्णतः स्थित हैं, उस पुरुषोत्तम की विधि और निषेध (=आरोप और अपवाद) के द्वारा वन्दना करता हूँ ।।

आनन्दगिरि-रचित पञ्चीकरण-विवरण समाप्त ।

रा. त.—ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते मङ्गलमाचरणीयमिति शिष्टाचारमनुरुन्धान इष्टदेवतां प्रणमति—**षड्विधमिति** । "उपक्रमोपसंहाराव-भ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।" इति लिङ्गानि । विधानं "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि । प्रतिषेधो "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादि ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में, ग्रन्थ के मध्य में और ग्रन्थ के अन्त में मङ्गलाचरण करना चाहिये, इस शिष्टाचार का पालन करते हुये इष्ट-देव को प्रणाम करते हैं—**'षड्विधम्'**-इत्यादि से । 'उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति तात्पर्य-निर्णय में हेतु (लिङ्ग) होते हैं ।" ये लिङ्ग हैं । विधान है 'हे सोम्य ! यह सत् ही पहले था' इत्यादि, और प्रतिषेध है 'यहाँ कुछ भी अनेक नहीं है' इत्यादि ।

पञ्चीकृतेर्विवरणमर्थतः प्रकटीकृतम् ।
यथाश्रुतं यथाबुद्धि तेन तुष्येद्रमापतिः ।।

जैसा सुना था, अपनी समझ भर पञ्चीकरण का विवरण अर्थतः प्रकट किया । इससे लक्ष्मीपति विष्णु सन्तुष्ट हों ।

सीतासुवर्णलतिकापरिवीतगात्रं
प्रेमामृतार्द्रचरणं सुखसत्फलाढ्यम् ।।
कीर्तिप्रसूनपरिवासितसर्वलोकं
रामाभिधं जगति कल्पतरुं नमामि ।।

इति श्रीरामतीर्थविरचिता पञ्चीकरणविवरणटीका
तत्त्वचन्द्रिका समाप्ता

संसार में सीतारूपी स्वर्ण अथवा सद्वर्ण की लता से आवेष्टित शरीरवाले, प्रेम के अमृत से भींगे चरणों वाले, सुखरूपी सत्फल से

भरपूर, यश के पुष्पों से सारे संसार को सुगन्धित किये हुये राम-नाम के कल्पतरु को प्रणाम करता हूँ ।। २ ।।

श्रीरामतीर्थ के द्वारा रचित पञ्चीकरण-विवरण की
टीका 'तत्त्वचन्द्रिका' समाप्त

शां. अ.—इति **पञ्चीकरणं पञ्चानां भूतानामेकीकरणं ब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगित्वेन यत्र ग्रन्थे प्रतिपादितं स ग्रन्थः पञ्चीकरणाख्यः पञ्चीकरणमितिपदेन गृहीतो भवति ।**

इस प्रकार से पञ्चीकरण–पाँचों भूतों का एकीकरण ब्रह्म-साक्षात्कार में उपयोगी होने के कारण जिस ग्रन्थ में निरूपित किया गया वह 'पञ्चीकरण' नाम का ग्रन्थ **'पञ्चीकरणम्'** इस पद से गृहीत है ।

पृथ्व्यब्धिग्रहरात्रिनायकमिते (१९४१) वर्षे क्षयाख्ये सिते
पञ्चम्यां शशिवासरेऽत्र रचिता टीकाऽऽदिमे माधवे ।
श्रीपञ्चीकरणस्य शङ्करकृतेस्त्रय्यन्ततत्त्वाचिता
शान्त्यानन्दसरस्वतीभिरनया सन्तुष्यतामोंशिवः ।। २ ।।

पृथिवी (१), समुद्र (४), ग्रह (९), रात्रिनायक = चन्द्रमा (१) से मापे गये १९४१ वें क्षय नामक वर्ष में शुक्ल-पक्ष की पञ्चमी तिथि सोमवार को वसन्त के प्रारम्भ में शङ्कराचार्य की कृति 'श्रीपञ्चीकरण' की वेदान्त के तत्त्वों से परिपूर्ण यह टीका शान्त्यानन्द सरस्वती के द्वारा लिखी गयी । इससे ओ३म्-स्वरूप शिव सन्तुष्ट हों–प्रसन्न हो ।। २ ।।

लोके वेदव्यवहृतिरियं जन्मनाशौ तु भूयो
नाकं लोकं प्रति स्तुतिरसौ दक्षिणा योत्तरा च ।
ब्राह्मं लोकं प्रति इति वचः सर्वमज्ञानसिद्धं
ब्रह्माहं चेत्ययमनुभवस्तत्पराकर्तुमीशः ।। ३ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-स्वामी-शान्त्यानन्दसरस्वतीविरचितमद्वैतागमहृदयाख्यं
पञ्चीकरणव्याख्यानं समाप्तम्

लोक में वेदों का यह कथन (व्याप्त है) कि 'जन्म और मरण बारम्बार होते हैं, स्वर्ग-लोक के लिये यह दक्षिण-यान है और जो उत्तर-यान है वह ब्रह्मलोक के लिये है।' ये सारी बातें अज्ञान-कल्पित हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव उसे निवृत्त करने में समर्थ है ॥ ३ ॥

शान्त्यानन्द सरस्वती विरचित अद्वैतागम-टीका समाप्त

परिशिष्ट—१

श्रीमच्छङ्कराचार्यवर्यविरचितं

पञ्चीकरणम्

गङ्गाधरकविकृतया पञ्चीकरणचन्द्रिकाख्यया टीकया समलङ्कृतम्

ॐ नमो वासुदेवाय सत्यज्ञानसुखात्मने ।
अखण्डायाप्यमूलाय मायिने सर्वसाक्षिणे ॥ १ ॥
रामकृष्णादियतिभिराश्रितेभ्यो महात्मभिः ।
अद्वैतानन्दपादेभ्यो गुरुभ्यो हि नमो नमः ॥ २ ॥
वागंशुभिर्द्वैतमहान्धकारं प्रोत्सार्य तत्त्वं समदर्शयद्यः ।
मार्तण्डतुल्योऽपि शशीव कान्तस्तं शङ्करं देवनुतं नमामि ॥ ३ ॥
संव्याप्य लोकान्विभुरेक एव विश्वादिरूपेण समस्तभोक्ता ।
निरस्य मायां स्वसुखे य आस्ते स एव चाहं सततं विमुक्तः ॥ ४ ॥
गङ्गाधरः कविः कोऽपि काशिकायां द्विजोत्तमः ।
अधीत्य वेदाञ्छास्त्राणि विचार्य श्रद्धयान्वितः ॥ ५ ॥
यथाशक्ति स्वधर्मांश्च ग्रन्थान्कृत्वाऽऽत्मशुद्धये ।
देवद्विजगुरुभ्यस्तान्समर्प्य शिवतुष्टये ॥ ६ ॥
निर्विण्णः शान्तिमापन्न आत्मानात्मविवेकतः ।
आत्मनोऽन्यज्जडं तुच्छमात्मानं तु महेश्वरम् ॥ ७ ॥
केवलं साक्षिणं पूर्णं निश्चित्य गुरुभक्तितः ।
संन्यस्य बन्धकं कर्म सूक्ष्मनिष्ठाविघातकम् ॥ ८ ॥

गुरुप्रसादात्सम्प्राप्य पञ्चीकरणमात्मगम् ।
यतीनां परमं गुह्यं तद्विचारपरोऽभवत् ॥ ९ ॥
सोऽहमात्मविदां शिष्यो यतीनां सेवकः प्रियः ।
ॐकारादीन्नमस्कृत्य ध्यात्वाऽऽत्मानं विभुं परम् ॥ १० ॥
आत्मप्रबोधदार्ढ्यार्थं प्रणवार्थप्रकाशिनीम् ।
कुर्वे यतिहितां रम्यां **पञ्चीकरणचन्द्रिकाम्** ॥ ११ ॥

इह खलु परमेश्वराराधनार्थमनुष्ठितनित्यादिकर्मभिः परिशुद्धान्तःकरणानां साधनचतुष्टयसम्पन्नानां ब्रह्मजिज्ञासूनां श्रवणादिपराणां आरुण्युपनिषदा 'सन्धिं समाधावात्मन्याचरेत्' इति समाधिर्विहितः। आत्मविषयकसमाधौ सन्धिं छिद्ररूपं ब्रह्मात्मनोर्भेदं आचरेत् भक्षयेत् प्रविलापयेदिति यावत् । स च 'ॐमित्यात्मानं युञ्जीत' इति तैत्तिरीयश्रुतावोङ्कारेण विहितः, युज समाधाविति स्मृतेः। स कथं कर्तव्य इत्याकाङ्क्षायां दययाऽतिलघुनोपायेन तं वक्तुकामः सर्वज्ञो भगवान् भाष्यकारोऽतिसङ्क्षिप्तमप्यनेकार्थसङ्ग्रहगभीरं मोक्षोपायभूतब्रह्मात्मैक्यसम्यग्बोधसमुत्पत्तिनिदानं सर्वनिबन्धसारभूतं निर्मलं च पञ्चीकरणाख्यं प्रकरणं विरचितवान् । तत्र 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा' इति । 'ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव' इति । 'ॐमिति ब्रह्म' 'ॐकार एवेदं सर्वम्' । 'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्मविदः प्रणव एवायं' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः सर्ववेदसारभूते सर्वात्मके च प्रणव एव स्वरूपतोऽर्थतश्च निरूपिते सर्वेऽपि वेदान्ताः स्वरूपतोऽर्थतश्च निरूपिता भवेयुरित्यभिप्रेत्य प्रणवस्यावयवभूतम् अकारमवतारयन् अध्यारोपापवादन्यायमनुसरन् प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं प्रथमं स्थूलप्रपञ्चमुपन्यस्यति—**पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानीति** ।

ॐ[1] पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते ।

अत्र केचिन्मङ्गलार्थमथशब्दमादौ पठन्ति । 'ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥' इति स्मृतेः । अकारादीनां पदत्वात्तत्समुदायात्मकस्य प्रणवस्य महावाक्यत्वम् । वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः । वस्तु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । अवस्तु वक्ष्यमाणाज्ञानादि । आरोपितस्याधिष्ठानमात्रपर्यवशेषणमपवादः । तस्य नेति नेतीतिप्रतिषेधरूपत्वात्तस्य च प्राप्तिपूर्वकत्वात्तदर्थमध्यारोपस्य प्राथम्यम् । स्थूलप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेऽपि न तस्याविद्यात्मकता प्रसिद्धेति ज्ञानमात्रेण तस्यापवादो न सम्भवतीति तन्निरूपणार्थमेव परमात्मनः सकाशात्सूक्ष्मभूतसृष्ट्यादिकं सिद्धवत्कृत्वा तस्योपयासः ॐकारन्प्रकाश्यं जीवब्रह्मैक्यलक्षणं शुद्धं चैतन्यं विषयः । मोक्षःकाम्यमानत्वान्मुख्यं प्रयोजनम् । तदुपायभूतः साक्षात्कारः समाधिश्च गौणे प्रयोजने । मुमुक्षुरधिकारी । तस्य स्वकीयप्रयोजनकत्वं प्रकरणेन सम्बन्धः । प्रकरणस्य फलस्य च जन्यजनकभावसम्बन्ध इत्यनुबन्धचतुष्टयं प्रवृत्त्यङ्गमर्थादुक्तमिति चानुसन्धेयम् ।

सृष्टेः पूर्वं सच्चिदानन्दरूपं नित्यमुक्तमविक्रियमखण्डमेकं ब्रह्मैवासीत् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'निर्मलं निष्क्रियं

---

१ अत्र 'ॐ' इत्यत्र 'अथ' इत्येतट्टीकाकारसम्मतः पाठस्तथा तद्व्याख्यानात् ।

शान्तम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। यद्यपि अद्वितीयस्य परमात्मन आसीदिति पूर्वकालसम्बन्धो न युक्तः जडस्य मायिकस्य कदाचिदपि स्वतः सत्त्वायोगात्कालत्रयेऽपि आत्मव्यतिरेकेणाभाव एव तथापि तथाबोधने शिष्यस्य प्रत्यक्षादिविरोधशङ्कयोक्तमप्यात्मतत्त्वं बुद्धौ नारोहेदतो बोध्यस्य चित्तमनुसृत्य जगतो नामरूपाभिव्यक्त्यभावमात्रमपेक्ष्य प्रागुत्पत्तेरात्मैवासीदित्युच्यते, न त्विदानीमात्ममात्रत्वाभावाभिप्रायेण। न च जगदुत्पादनाय मायाशक्तेरङ्गीकार्यत्वादन्यसद्भावः शङ्कनीयः, आत्मशक्तित्वेन मायायाः पृथग्गणनानर्हत्वात्। न हि भृत्येभ्यो धनं प्रयच्छतः स्वामिनस्तवैतावद्धनं त्वदीयशक्तेश्चैतावदिति विभज्य गणयन्ति, नाप्यवस्तुभूतं चन्द्रप्रतिबिम्बादिकमभिलक्ष्य द्वौ चन्द्रमसौ वस्तुभूतावित्येवं यत् (?) बुद्धिमन्तो व्यवहरन्ति, तस्मादङ्गीकृतायामपि मायायां तत्कार्ये च दृश्यमानेऽपि जगत्यात्मनोऽखण्डैकरसतायां न कोऽपि दोष इति द्रष्टव्यम्।

तथा च यस्त्वदीयश्चोरः स स्थाणुरेव, न तु चोर इत्यादिवदत्रापि यज्जगत्वेनेदमिदानीं प्रतिभासते स आत्मैव, न तु जगत् 'आत्मैवेदं सर्वं' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेरितिबाधायां समानाधिकरण्यं युक्तमेव। न च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति 'स तपोऽतप्यत' 'स तपस्तप्त्वेदᳬ सर्वमसृजत' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिश्रुतिभिः परमात्मन एव सङ्कल्पादिपूर्वकं जगत उपादानत्वं निमित्तत्वं चोक्तं तत्कथं निर्विकारस्येति वाच्यम्, तत्त्वतोऽन्यथाभावित्वलक्षणपरिणाम्युपादानत्वासम्भवेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतिसिद्धस्वशक्तिभूतया मायया अतत्त्वतोऽन्यथात्वलक्षणविवर्तो-

पादानत्वसम्भवात्। शुक्त्यादेर्विक्रियां विनाऽपि रजताद्युपादानत्वदर्शनादविक्रियस्यापि जगद्विवर्तोपादानत्वमविरुद्धमेवेति यथोर्णनाभिस्तन्तुजालं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं शरीरप्रधानतयोपादानं च भवति निरपेक्षः, एवं मायोपहितः परमात्मा जगत्प्रति, इति द्रष्टव्यम्।

एतेन यत्र यत्कार्यं सूक्ष्मरूपेण वर्तते तदेव तस्य कार्यस्य बीजम्। अन्यथा तन्तूनामपि घटं प्रति बीजत्वं स्यात्। तथा च नित्यमुक्ते परमात्मनि प्रागुत्पत्तेर्जगत्सूक्ष्मरूपासम्भवात्कथं तद्बीजत्वमित्यादिशङ्काकुलं परास्तम्। स्वतो नित्यमुक्तस्य सूक्ष्मकार्याश्रयत्वाद्यसम्भवेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपमायायां तत्सम्भवात्तदाध्यासिकतादात्म्यसम्बन्धेन परमात्मनोऽपि सर्वसंभवाच्च। तथा च श्रुतिः—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इति अव्याकृतं अनभिव्यक्तनामरूपात्मकजगदाश्रयः।

तथा चेत्थं श्रौता सृष्टिप्रक्रिया—त्रिगुणात्मकावरणविक्षेपशक्तिमदनिर्वाच्याविद्यासहायात् सदादिशब्दवाच्यात् परमात्मनः सकाशात्तावच्छब्दतन्मात्ररूप आकाश उत्पन्नः, तत आकाशभावमापन्नात्परमेश्वरात्स्पर्शात्मको वायुः, तद्भावापन्नाद्रूपात्मकं तेजः, तद्भावापन्नाद्रसात्मिका आपः, तद्भावापन्नाद्गन्धात्मिका पृथिवी चोत्पन्ना। तत्राकाशः शब्दैकगुणः, शब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसगंधगुणा पृथिवीति ज्ञेयम्। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं युक्तम्। अतस्तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादेव भूतसृष्टिं वर्णयन्ति। विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदित्युक्तेश्च। तदानीं तत्कारणस्य सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेणाकाशादिषूत्पद्यन्ते।

एतान्येव सूक्ष्मभूतानि व्यवहाराक्षमाणि तन्मात्राणि अपञ्चीकृतानि महान्ति चेत्युच्यन्ते। एतेभ्यः सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि अनाद्यविद्यावासनापरिकल्पितव्यावहारिकजीवसमूहभोगनिर्वाहकतदीयधर्माधर्मात्मककर्मापेक्षाणि स्थूलभूतानि व्यवहारक्षमाणि च भवन्ति। सूक्ष्मभूतान्येव जीवकर्मापेक्षपरमेश्वरकृतपञ्चीकरणेन प्रत्येकं भूतानि पञ्चतामापन्नानि पञ्चीकृतानि स्थूलभूतानीत्युच्यन्ते। पञ्चीकरणं तु आकाशादिपञ्चकं प्रत्येकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा सम्विभज्य तेषु विभक्तेषु चतुर्णां भागानां स्वं स्वं अर्धं परित्यज्यार्धान्तरेषु संयोजनम्।

न चेदमप्रामाणिकमिति शङ्कनीयम्, भूतत्रयसर्गश्रुतौ भूतपञ्चकसर्गाङ्गीकारवत् त्रिवृत्करणश्रुतौ पञ्चीकरणाङ्गीकारात्। किञ्च नभोनभस्वतोरपि पृथिव्यादिषु स्थूलौ भागौ शब्दस्पर्शौ श्रोत्रेण त्वचा चोपलभ्येते। न च शब्दस्पर्शयोः स्थौल्यं भूतान्तरानुप्रवेशादृते सिद्ध्यति, नापि स्थौल्यं विना सूक्ष्मयोस्तयोरिन्द्रियगोचरता युक्ता, अतः कार्यकारणयोरभेदाभिप्रायेण 'पञ्च चेन्द्रियगोचराः' इत्यत्र स्थूलभूतानीन्द्रियगोचरशब्देन व्याख्यातानि भाष्यकृद्भिः। तस्मात्प्रामाणिकमेवेदम्।

पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि स्वस्वभागाधिक्यादाकाशः पृथिवीत्यादिव्यपदेशः सम्भवति। एवं पञ्चीकरणे आकाशे स्फुटतया शब्दोऽभिव्यज्यते, वायौ शब्दस्पर्शौ, तेजसि शब्दस्पर्शरूपाणि, अप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च। अत्राकाशादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वेन स्वस्वकार्यापेक्षया व्यापकत्वात्कार्यांशमिश्रितत्वेऽपि न कार्यगतगुणाश्रयतयाभिव्यक्तिः। किन्तु स्वस्वगुणाश्रयतयैव। कारणभागसंमिश्रितानां कार्याणां तु स्वकारणापेक्षयाऽल्पत्वात् कारणगुणाश्रयतयापि भवत्यभिव्यक्तिरिति बोध्यम्। तथा च लोकेऽनुभवः—प्रचण्डशब्दो वायुः, प्रजल्पति ज्वाला, नदी घुष्यति, स्फुट्यमानः पाषाणः क्रोशतीत्यादिः। स्पर्शादीनां तेजःप्रभृतिषु सद्भावेऽविवाद एव। एवं पञ्चीकृतानि स्फुटव्यवहारक्षमाणि पञ्चभूतानि वक्ष्यमाणस्वकार्यव्यापित्वान्महान्ति व्यपदिश्यन्ते। तेषां कार्यं तु अन्तःकरणप्राणेन्द्रियसमूहानां स्थानादिभेदभिन्नमाधिदैविकमाध्यात्मिकमाधिभौतिकं च तत्तदुत्कृष्टनिकृष्टपरिच्छिन्नचतुर्विधस्थूलशरीरान्नपानादिसहितं चतुर्दशभुवनात्मकम्। तदिदं भूतभौतिकरूपं सकलं स्थूलं जगदध्यात्मविद्भिरेकीकृत्य पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युक्तम्।

एतत् स्थूलशरीरमात्मनः।

न पुनरत्र वास्तवविभागोऽस्ति। मृद्विकारस्य घटादेर्मृद्व्यतिरेकेणाभाववद् भूतपञ्चककार्यस्य तद्व्यतिरेकेणाभावात्। नेदं वैराजमेव रूपं प्रत्यगात्मतया ज्ञेयं लोकायतिकवत्किंतु एतत्स्थूलशरीरमात्मनः।

अस्थूलमित्यादिश्रुतेर्वस्तुतश्चिन्मात्ररूपस्याशरीरस्यैवात्मनोऽनाद्यविद्यया कल्पितकर्मफलभोगार्थं भोगानिष्पादनस्थानत्वेन भोगसाधनत्वेन चैतत्प्रत्यक्षं व्यष्टिसमष्ट्यात्मकं शीर्यमाणशरीरं कल्पितं, न तु वास्तवमित्यर्थः। 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' इत्यादिश्रुतेर्जागरितं स्वप्नः सुषुप्तिश्चेत्यवस्थात्रयं प्रसिद्धम्। तत्र जागरितावस्थायामेवाविद्यकशरीराद्यभिमानप्रयुक्तोऽसङ्गस्यापि स्थूलविषयभोगः सम्भवतीत्यभिप्रेत्य जागरितं लक्षयति—इन्द्रियैरिति।

इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम् ।

सुषुप्तिव्यावृत्त्यर्थं शब्दादिविषयवाचकमर्थपदम् । स्वप्नं निरसितुं इन्द्रियैरिति विशेषणम् । तत्र हि विद्यमानमपि मनो विविधविषयाकारपरिणतं साक्षिणो दृश्यतयाऽवतिष्ठमानं नोपलब्धौ करणीभवतीति भाव इति टीकाकृतः । मनो नेन्द्रियमित्यन्यदेव । वयं तु इन्द्रियैर्देवताधिष्ठितैः करणैरर्थानां तत्तत्करणस्थूलविषयाणां उपलब्धिरात्मनो ग्रहणयोग्यतेति ब्रूमः । तथा च श्रीमद्वार्तिकम्, 'बाह्यान्तःकरणैरेवं देवतानुग्रहान्वितैः । स्वं स्वं च विषयं ज्ञानं तज्जागरितमुच्यते' इति । अत्र ज्ञानमिति कर्मेन्द्रियादिव्यापाराणामप्युपलक्षणम् । अन्यथा तत्सङ्ग्रहो व्यर्थः स्यादिति ।

तथा चायं निष्कर्षः—स्वप्नावस्थायामात्मा बुद्ध्युपाधिः स्वप्नदर्शनहेतुकर्मक्षये जागरितमागच्छन् पूर्वगृहीतेषु करणेषु पुनः स्वस्वगोलकस्थानेषु तथैव बुद्ध्या प्रसारितेषु सत्सु स्वयं तद्बुद्ध्यनुगतस्तत्तद्गोलकादिदेशं गच्छन् स्वोपाध्यन्तःकरणेन्द्रियसचिवस्तत्तदिन्द्रियविषयान् अनुमेयांश्च स्थूलान्व्यावहारिकान् पदार्थाननुभवति सेयमस्य जागरितावस्था स्थूलभोग इति ।

एवं मायारचितं त्रिगुणात्मकं स्थूलभोगायतनं विविधराजमानं वैराजं रूपं तत्सम्बद्धं जागरितं च निरूप्य तत्राविद्यकाभिमानवतो व्यष्टिसमष्ट्याध्यात्माधिदैवादिविभागाभावसूचकसंज्ञां श्रुतिसिद्धां दर्शयति—तदुभयेति ।

तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः ।

तत्प्रसिद्धं पूर्वोक्तमुभयं स्थूलशरीरं जागरितं च अहम्मम

१. इन्द्रियैरर्थविज्ञानं देवतानुग्रहान्वितैः । 'शब्दादिविषयं ज्ञानं तज्जागरितमुच्यते' ।। इति वार्तिकाभरणकारसम्मतः पाठः ।

चेत्यभिमन्यते यः स तदुभयाभिमानी, परमार्थतस्तु असङ्गो व्यापक आत्मेत्यर्थः । 'स एव तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादिश्रुतेः कारणसूक्ष्मस्थूलशरीरत्रयप्रविष्टो विश्व इति व्यपदिश्यते ।

अत्र यद्यपि व्यष्ट्यभिमानी विश्वः समष्ट्यभिमानी वैश्वानरस्तथाप्येकस्यैव चैतन्यस्य मायाकल्पितोपाधिभेदेन भेदाद्व्यष्टिसमष्ट्योः स्थूलत्वान्नविकारत्वादिसामान्येनाभेदे चिन्तिते परिच्छिन्नाभिमाननिवृत्त्या परिच्छेदभ्रमनिवृत्तौ तदभिमानिनोरपि तयोऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमित्यभेददर्शनं स्यात् । तथा च विश्वः सर्वात्मकश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः, स एव वैश्वानरः, विश्वेषां नराणामेकधानयनाद्वा, विश्वे सर्वे नरा व्यष्ट्यभिमानिनो जीवा एनं स्वेनैक्यं नयन्तीति वा वैश्वानरः । स एव विविधं राजत इति विराट् स्थूलभुक् पुरुषश्चेति द्रष्टव्यम् । एतदेवाभिप्रेत्य जागरितनिरूपणावसरे भगवद्वार्तिककृद्भिः 'अधिदैवतमध्यात्ममधिभूतमिति त्रिधा । एकं ब्रह्म विभागेन भ्रमाद्भाति न तत्त्वतः ॥' इत्युपक्रम्य 'श्रोत्रमध्यात्ममित्युक्तम्' इत्यादिनाऽध्यात्मादिविभागं सुखप्रतिपत्त्यर्थं विविच्य 'तमोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं विकारस्तत्र यो भवेत् । अधिभूतं तदित्युक्तमीशस्तत्राधिदैवतम्' इति तमःशब्दितं कारणशरीरमपि संगृह्य 'येयं जागरितावस्था शरीरं करणाश्रयम् । यस्तयोरभिमानी स्याद्विश्व इत्यभिधीयते ॥ विश्वं वैराजरूपेण पश्येद्भेदनिवृत्तये' इत्युपसंहृतम् । तस्मात्तदुभयाभिमानविशिष्ट आत्मा विश्व इति सुष्ठूक्तम् । अशरीरे स्थूलोऽहं कृशोऽहं ममेदमित्यहन्ता ममता च । जागरिते तु ममायं निश्चय इति ममतैवेत्यनुसंधेयम् ।

१. ईश्वरोऽत्राधिदैवतम्' इति वार्तिकाभरणकारसंमतः पाठः ।

अथोङ्कारो द्विविधः, ब्रह्मरूपाभिधेयप्रधानो वर्णरूपाभिधानप्रधानश्चेति। तत्र प्रथमो विश्वतैजसप्राज्ञशुद्धाख्यचतुष्पात्। द्वितीयस्तु अकारोकारमकारतन्मिलितपूर्णाख्यचतुर्मात्रः। तत्र जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओंकारस्यकारः प्रथमा मात्रेत्यादिवाक्येभ्योऽभिधानाभिधेयफलवदैक्यप्रतिपादकेभ्यो व्याप्त्यादिसामान्यैर्विश्वस्याकारमात्रत्वं, तैजसस्योकारमात्रत्वं, शुद्धस्य तु परमात्मनः पूर्णोंकारमात्रत्वं च निश्चित्य अकारस्योकारमात्रत्वमुकारस्य मकारमात्रत्वं मकारस्यामात्रानन्तमात्रब्रह्ममात्रत्वं च सम्यङ् निश्चित्य अखण्डसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मैवाहमस्मीति समाधिकालात्प्रागतिप्रयत्नतो विचिन्त्य विवेचकमतिशुद्धं पूर्णं चित्तं तत्साक्षिण्येव प्रविलापयेत्ततो न किञ्चिच्चिन्तयेन्नैव तच्चालयेत्।

एवमोङ्कारार्थानुसन्धानसमाहितो योगी सर्वभूतस्थं पूर्णमात्मानं साक्षात्कृत्य अभयं प्राप्तः कृतकृत्यो मुक्तो भवतीत्यभिप्रेत्याह—एतदिति।

एतत् त्रयमकारः।

'अकारो वै सर्वा वाक्' इति श्रुतेर्यथा अकारेण सर्वं वाङ्मयं व्याप्तं तथा विश्वेन जगत्। यथा वाऽऽदिमदकाराख्यमक्षरं तथैव विश्वाख्यं ब्रह्म एवं व्याप्त्यादिसामान्याभ्याम् अकारवाच्यो विश्वोऽकार एवेत्यर्थः।

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि तत्कार्यं च पञ्च प्राणाः, दशेन्द्रियाणि, मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते।

तदेवमाद्यमोङ्कारावयवमकारं निरूप्य मध्यममुकारं निरूपयितुं सूक्ष्मप्रपञ्चमुपन्यस्यति—अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते एतत्सूक्ष्मशरीमात्मन इति।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि तन्मात्राणि सूक्ष्मभूतानि परस्परानुप्रवेशशून्यान्यपञ्चीकृतानि पञ्चसंख्याकानि स्वकार्यव्यापीनि महान्ति भवन्ति। तेषां कार्यं तु श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्। तच्चाकाशादीनां सात्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्क्रमेणोत्पद्यते। तथा—वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यकर्मेन्द्रियपञ्चकम्। तच्चाकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्क्रमेणोत्पद्यते। तथा च—आकाशाच्छ्रोत्रवाचौ, वायोस्त्वक्पाणी, तेजसश्चक्षुःपादौ, अद्भ्यो रसनपायू, पृथिव्या घ्राणोपस्थौ। अत्र 'तेजोमयी वाक्' इति श्रुतेस्तैजसी वाक्पादस्तु नाभस इत्यपि केचित्। एवमेतेषामधिष्ठातारो देवा अपि ज्ञानक्रियाशक्तिप्रधाना उत्पद्यन्ते दिगग्निवातेन्द्रादित्यविष्णुवरुणमित्राश्विप्रजापत्याख्या दश। तत्र ज्ञानशक्तिसमष्टिर्वक्ष्यमाणमन्तःकरणम्। क्रियाशक्तिसमष्टिर्वक्ष्यमाणः प्राणः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकं श्रोत्रादि। वचनादानगतिविसर्गानन्दजनकं तु वागादि इति द्रष्टव्यम्।

एवं प्राणापानव्यानोदानसमानाख्यं वायुपञ्चकम्। तत्र प्राणो नाम प्रागग्रतः प्रकर्षेण अनिति चेष्टते निस्सरतीति प्रागनवान्। स च 'हृदि प्राणः, प्राणो हृदये' इत्यादिवाक्येभ्यो हृदयस्थानोऽपि नासाग्रे प्रत्यक्षमुपलभ्यमानत्वान्नासादिस्थानवर्ती। अपानस्तु अप नाभेरधस्तान्मलमूत्राद्यपनयनव्यापारेण अनितीत्यवागनवान्। स च गुदादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वक् परितः समन्तात् आनः अननं सञ्चारो यस्य स

प्राणापानयोर्नियमनकर्मा अरण्यग्न्युत्पादनदृढधन्वायमनादिवीर्यवत्कर्महेतुत्वादखिलशरीरवर्ती । उदानो नाम उत् ऊर्ध्वं आनः अननं निस्सरणं यस्य स उत्क्रमणवायुः प्रायेण कण्ठस्थानीयः । सामानो नाम अशितपीतान्नादेः समं नयनाच्छरीरमध्यगः । केचित्तु–नाग उद्गीर्णकरः, कूर्म उन्मीलननिमीलनकरः, कृकरः क्षुधाकरः, देवदत्तो जृम्भणकरः, धनञ्जयः पुष्टिकर इति पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति । तन्न, श्रुतौ पञ्चानामेव श्रवणान्नागादीनां प्राणाद्यन्तर्भावौचित्यात् । प्राणादयोऽपि मुख्यस्यैकस्य प्राणस्य वृत्तिविशेषा एव, न तत्त्वान्तरभूताः । 'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽनः' इति बृहदारण्यके वृत्तिमतः प्राणस्य निरुपसर्गानशब्दवाच्यस्य पृथङ्निर्देशात् । तथा च न्यायः–'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदेशाद्' इति । सोऽपि सूत्रात्मकरूपस्य बाह्यवायोर्विकारः, न शरीरमध्ये नभोवदवस्थितो बाह्यवायुरेव । नापि वागादीनां सामान्यवृत्तिरूपा वा क्रिया । एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुरग्निः' इति श्रुतौ वायोरिन्द्रियाणां च प्राणात्पृथगेव निर्देशात् । तथा च न्यायः–'न वायुक्रिये पृथगुपदेशाद्' इति । अणुश्चेत्यादिन्यायवशादिन्द्रियवत्सूक्ष्मत्वादिकमपि प्राणस्यानुसन्धेयमिति दिक् ।

एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यते । आकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यः पञ्चभ्यो मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्यवृत्तिचतुष्टयात्मकमन्तःकरणं जायते । तत्र सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः, निश्चयात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिर्बुद्धिः, अभिमानात्मकोऽहङ्कारः, पूर्वोत्तरानुसन्धानात्मिका वृत्तिश्चित्तम् । एतेषामधिष्ठातारस्तु चन्द्रबृहस्पतिरुद्राच्युताख्याश्चत्वारो ज्ञेयाः । तत्र चित्ताहङ्कारयोर्मनोबुद्ध्योरन्तर्भावेनान्तःकरणस्य द्वैविध्ये सति ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिवायुपञ्चकं मनो

बुद्धिश्चेति सप्तदशकम् । तथा च श्रुतिः–'सप्तदशो वै प्रजापतिः' इति । तदिदं जडमपि स्वप्रवृत्त्या स्वप्रेरकमेकमेव चिदात्मानमनुमापयति । तथा च लीनं गूढमर्थं गमयतीति प्रत्यगात्मनो गमकत्वात् लिङ्गं, भूतकार्यत्वाद्भौतिकं चेत्युच्यते । इदं समष्टिव्यष्टिरूपेण द्विविधम् । तत्र समष्टिलिङ्गं हिरण्यगर्भोपाधिभूतं गोव्यक्तिषु गोत्वमिव तैजसोपाधिभूतेषु व्यष्टिलिङ्गेषु अनुस्यूतमेव कृत्स्नब्रह्माण्डे कारणतया अनुस्यूतेभ्यः आकाशादिसात्त्विकाद्यंशेभ्यो जायते । समष्टिलिङ्गारम्भकतया तदनुस्यूतेभ्यः सात्त्विकादिभूतांशेभ्यस्तु व्यष्टिलिङ्गानि जायन्ते । अत एव सगुणब्रह्मोपासकस्य समष्ट्यपरिच्छिन्नसगुणब्रह्मभावनया व्यष्टिपरिच्छेदाभिलानो निवर्तते, व्यष्टिलिङ्गं व्यष्टिलिङ्गतां प्रतिपद्यते, ततश्च हिरण्यगर्भोपाधिलिङ्गाभिमानेन हिरण्यगर्भताप्राप्तिरित्यादि तत्र तत्र भाष्यकारादिभिरुच्यमानं सङ्गच्छते, अंशकार्यस्यांशिकार्यान्तर्भावात् । एवमेवांशिभ्यो भूतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः स्थूलसमष्टिः, तदंशेभ्यः स्थूलव्यष्टिरित्युपास्य वैश्वानरात्मत्वप्राप्तिर्यथोक्तरीत्या द्रष्टव्या । तदेतदपञ्चीकृतसूक्ष्मभूतपञ्चकं तत्कार्यं च समष्टिव्यष्टिलिङ्गं सर्वमेकीकृत्य हिरण्यगर्भशब्देनोच्यते ।

नायं हिरण्यगर्भः प्रत्यगात्मत्वेन ज्ञेयः, किन्तु विराडिवात्मोपाधित्वेनेत्यभिप्रेत्याह–एतत्सूक्ष्मेति ।

एतत्सूक्ष्मशरीरमात्मनः ।

ननु 'ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।' 'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ।' 'प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानाख्यस्तथैव च । समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राण-

वृत्तयः ॥ खवाय्वग्न्यम्बुक्षितयो भूतसूक्ष्माणि पञ्च च । अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥ इति पञ्चीकरणवार्तिके सुरेश्वराचार्यैः सूक्ष्मशरीरं प्रतिपादितम्, तत्र ज्ञानेन्द्रियादिपञ्चकचतुष्टयं चतस्रः पुर्यः। मनआदिचतुष्टयमेका पुरी । अविद्यादित्रितयं तिस्रः । पुर्यष्टकं जीवस्य भोगसाधनत्वाद्राज्ञः पुरीवेति द्रष्टव्यम् । 'ज्ञानेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथाऽपराणि कर्मेन्द्रियाणि मनआदि चतुष्टयं च । प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः ॥' इत्यभियुक्तोक्तेः । अत्राविद्यातमःशब्दौ पूर्वपूर्वभ्रमजन्यवासनारूपाविद्यापरौ, मूलाविद्यायाः कारणशरीरत्वेन सूक्ष्मशरीरान्तर्भावासंभवात् । तथा च सप्तदशावयवं सूक्ष्मशरीरं इति कथं निर्धारितमित्यत्रोच्यते । इहोक्तानां हि सप्तदशावयवानां भूतसूक्ष्माण्युपादानानि अतश्चोपादानोपादेययोरभेदान्नाभूतसूक्ष्माणि लिङ्गशरीरेभ्यः पृथग्विवक्ष्यन्ते । एवमविद्याकामकर्मणामपि अंतःकरणाश्रितत्वेन तज्जन्यत्वेन च तदभेदान्न ततः पृथक्त्वम् । एतेनात्र शरीरत्रयमेव स्थूलशरीरं सूक्ष्मशरीरं कारणमात्रशरीरमिति प्रतिपादितम् । तथा च कामादीनां शरीरत्रयेऽप्यन्तर्भावाभावेन शरीरत्रयापलापेऽपि तदपलापाभावप्रसङ्ग इति निरस्तम्, सूक्ष्मशरीरेऽन्तर्भावाङ्गीकारात् । तथा च 'सप्तदशो वै प्रजापतिः' इति श्रुतेः पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितं हि लिङ्गमित्यादिपूर्वाचार्यवाक्येभ्यश्च प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य सप्तदशत्वावगमात्सप्तदशावयवमेव लिङ्गं सूक्ष्मं चात्मनो मायिकं शरीरमिति सर्वं शिवम् ।

एवं सूक्ष्मशरीरमुक्त्वा तस्य यस्यामवस्थायां भोगसाधनत्वं तामवस्थां लक्षयति—करणेष्विति ।

करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्न इत्युच्यते ।

प्रत्ययः स्वप्न इत्युक्ते सुषुप्तेऽतिप्रसङ्गः स्यादित्यत आह—**सविषय** इति । जाग्रद्वासनामयविषयसहित इत्यर्थः । जागरितव्यावृत्त्यर्थं करणेषूपसंहृतेष्वित्युक्तम् । न च करणाभावात्कथमयं प्रत्यय इति शङ्कनीयं, संस्कारस्य करणत्वाङ्गीकारादित्यभिप्रेत्याह—**जागरितसंस्कारज** इति । संस्कारग्रहणं न कारणान्तरनिरासार्थं, कारणान्तराणामदृष्टनिद्रादिदोषाणामिष्टत्वात् । तथा च चक्षुरादीनां करणानामुपरमे सति अदृष्टादिसमुद्बोधितजाग्रदनुभवजन्यसंस्कारजः निद्रादिदोषदूषितान्तःकरणसंसृष्टचैतन्यस्थाविद्याशक्तिविजृम्भितसूक्ष्मविषयाकारः अन्तःकरणवृत्तिरूपः प्रत्ययः स्वप्न इत्यर्थः । 'करणोपरमे जाग्रत्संस्कारोत्थप्रबोधवत् । ग्राह्यग्राहकरूपेण स्फुरणं स्वप्न उच्यते' इति वार्तिकम् । जाग्रत्संस्कारोत्थमन्तःकरणवृत्तिरूपप्रबोधयुक्तं यद्ग्राह्यग्राहकरूपेण स्फुरणं ज्ञानं स स्वप्न इति तदर्थः । नायं स्वप्नः स्मरणात्मकः, अपरोक्षावभासत्वात् । नापि प्रत्यक्षः, प्रमाणसन्निकर्षयोगाद्यभावात् । न च सुषुप्तिः, स्पष्टविषयानुभवात् । किं तर्हि "यथा केशः सहस्रधा भिन्नः" इत्यादिना "केशसहस्रांशैर्नाडीरुपमीय एताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति इति" स्वप्नाय तादृशनाडीप्रवेशश्रवणात् "तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं" इत्यादि "सकृद्विद्युतं" इत्यन्तेन स्वप्नस्य वासनामयत्वश्रवणात् अस्य लोकस्य सर्वावतामात्रामवादाय स्वयं विहायेत्यादिना स्वप्नेन शरीरमभिप्रहत्येत्यादिना च स्थूलशरीरस्य स्वप्ने लयश्रवणात् "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथ-

योगान् पथः सृजते" इत्यादिना जागरितवस्तूनां स्वप्ने अभावस्य नूतनानां वासनात्मकानां निर्माणस्य च श्रवणात्, कुरुष्वहमद्य शयानो निद्राभिप्लुतः स्वप्ने पाञ्चालानधिगतश्चास्मि न्प्रतिबुद्धश्चेति स्वप्नप्राप्तदेशान्तरात्, पुनरागमनरहितस्यापि स्वप्नदेशस्थशरीरे जागरणश्रवणात्, घटिकामात्रेणापि संवत्सरशतानामनुभवात्, उचितसामग्र्यभावेऽपि अकस्मादेव प्रासादादेर्निष्पत्तिदर्शनाच्च मायामय एव स्वप्न इति बोध्यम्। तथा च न्यायः—"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति।

अथ पूर्वोक्तसप्तदशावयवके प्राणमयमनोमयविज्ञानमयाख्यकोशत्रयात्मके हैरण्यगर्भे सूक्ष्मशरीरे स्वप्ने चाहम्ममाभिमानवत आत्मनो व्यवहारासाङ्कर्याय संज्ञां कथयति—तदुभयेति।

तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः।

तैजसि वासनामयेऽन्तःकरणे "स्वयं निर्माय स्वेन भासा" इति श्रुतौ भाश्शब्देनान्तःकरणस्य वासनात्मनो व्याख्यातत्वात्, तत्राभिमानित्वेन निर्वृत्तस्तत्प्रो भवतीति तैजसः। यद्यपि हिरण्यगर्भशब्देन समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी सूत्रात्मा प्राण उच्यते, व्यष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी तु तैजसः, तथापि तदुपहितयोश्चैतन्ययोरेकत्वात् "वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः" इति बृहदारण्यके व्यष्टिसमष्ट्योरप्येकत्वश्रवणाद्यथा व्यष्टिभूतपत्रपुष्पशाखादिकं समष्टिभूतवृक्षरूपेण एको वृक्ष इति पश्यति तथा व्यष्टिभूतसूक्ष्मशरीराभिमानिनं परिच्छिन्नमिवात्मानं व्यष्ट्यभिमानत्यागेन समष्टिभूतसूक्ष्मशरीराभिमानिनं व्यापकमेव पश्येत्। ततश्च तदात्मना क्रमेण मुक्तो भवतीत्यभिप्रेत्य कृपया लाघवात्तदुभयाभिमान्यात्मा तैजस इत्युक्तम्। तथा च वार्तिकम्—'अभिमानी तयोर्यस्तु तैजसः परिकीर्तितः। हिरण्यगर्भरूपेण तैजसं चिन्तयेद् बुधः' इति। अयमेव तैजसः स्वप्नावस्थायां जाग्रदनुभवजन्यसंस्कारानुरूपाभिरविद्याकामकर्मप्रेर्यमाणमनोवृत्तिभिर्निद्रादिदोषदूषितान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाविद्याशक्तिविजृम्भितान् जाग्रद्वासनामयान् ईषदस्फुटान् सूक्ष्मविषयाननुभवति "स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः प्रविविक्तभुक्तैजसः" इत्यादि श्रुतेः। प्रविविक्तान् सूक्ष्मान्।

कोशत्रयात्मकं हैरण्यगर्भं शरीरमित्युक्तम्, तत्र पूर्वोक्तज्ञानेन्द्रियैः सहिता इदमित्थमेवेति विषयपरिच्छेदात्मकनिश्चयात्मिका बुद्धिर्विज्ञानमयः कोशः, खड्गस्य कोशवच्चैतन्यस्यावरकत्वात्। अयमेव ज्ञानशक्तिमान् कर्ता। एतदवच्छिन्नश्चिदात्माविद्यककर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानित्वेनेहलोकगामी व्यावहारिको जीवः। इदं नीलमिदं पीतं नेदं तथेति विषयविवेचनं सङ्कल्पः, इदमित्थं वा न वेति विपर्ययो विकल्पः, एतदात्मकं मनस्तु कर्मेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयः कोशो भवति। स चेच्छाशक्तिमान्करणरूपः। उक्तप्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयः कोशो भवति। स च क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। एवं कोशत्रयात्मकं सूक्ष्मशरीरं पिण्डीभूतं सद्यावद्ब्रह्मज्ञानं नानाविधस्थूलशरीरानुसारेण सङ्कुचति विकसति सुषुप्त्यादौ लीयते सर्गादौ चोत्पद्यते च। विश्रामार्थं यदासौ व्यावहारिको जीवः सुषुप्तिमिच्छति तदेदं वृत्तिचतुष्टयात्मकान्तःकरणमात्रं भवति। तदिदमन्तःकरणमेव सर्वविषयकं ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकं समष्टिभूतं वह्निज्वालावद्वृत्तिसन्तानरूपेण परिणममानमेकमतिस्वच्छं द्रव्यं ज्ञानशक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भः क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राणः सर्वत्रानुस्यूतत्वेन सूत्रात्मेति च व्यपदि-

श्यते । तदेव च पुनर्जाग्रद्भोगकर्मक्षये स्वाप्नभोगजनकं कर्मोदये च निद्राख्यया तामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने निवृत्ते अकिञ्चित्करत्वेन शरीरसंरक्षणमात्रार्थके प्राणे स्थितेऽपि सर्वेन्द्रियेषु देवतानुग्रहाभावान्निर्व्यापारतया मनस्येकीभूततया स्थितेषु विश्वेऽपि लीने जाग्रदनुभवजन्यसंस्कारविशेषात्मकवासनावासितं नानाविधवर्णरञ्जितचित्रितदुकूलमिव नाडीविशेषगतमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं सर्वेन्द्रियतद्विषयीभूतरथगजाकारेण परिणमते । एवं जाग्रद्दवभासमानं मनः स्वप्रकाशात्मकतत्साक्षिणा स्वप्नाध्यासानुकूलाभिर्व्यावहारिकसङ्घातभानविरोधिभिरविद्यावृत्तिभिरेवानुभूयते । तथा च तेजोमयान्तःकरणस्वामी पित्ताख्यतेजःप्रधान आदित्यादिज्योतिरन्तरेणापि भासको वा **तैजस** इत्यपि सूक्ष्मदृशाऽनुसन्धेयम् ।

एवं सूक्ष्मशरीरं स्वप्नावस्थां तदभिमानिनं च निरूप्य तेषां मायिकत्वेन मिथ्यात्वं सूचयितुमोङ्कारावयवोकारार्थतामाह—**एतदिति** ।

एतत् त्रयमुकारः ।

यथा अकारादुत्कृष्ट इवोकारस्तथा तैजसो विश्वात् यथा वा अकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसः, अतः श्रुत्युक्तोत्कर्षोभयभाक्त्वसामान्यात्तैजस उकार एवेत्यनुसन्धेय इत्यर्थः ।

एवमुकारार्थं निरूप्य मकारार्थं निरूपयितुं स्थूलसूक्ष्मशरीरात्मकप्रपञ्चकारणीभूतं शरीरमुपन्यस्यति—**शरीरद्वयेति** ।

शरीरद्वयकारणमात्माज्ञानं साभासमव्याकृतमित्युच्यते । [1]एतत्कारणशरीरमात्मनः ।

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति परमार्थतोऽविक्रियस्य परमात्मनः करणत्वप्रतिषेधादात्मविषयकमात्माश्रयं चाज्ञानं प्रपञ्चकारणमित्यर्थः । ननु अचेतनं तत्कथं कार्याय पर्याप्तमित्यत आह—**साभासमिति** । आ समन्ताद्भासत इत्याभासश्चैतन्यं तेन सह वर्तमानं साभासं, चैतन्याधिष्ठितमित्यर्थः । कुलालाद्यधिष्ठितं मृदादिकं कुर्वदुपलभ्यत एवेत्यभिप्रायः । ननु "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इत्यादिश्रुतावव्याकृतस्य करणत्वं श्रूयते, न त्वात्माज्ञानस्येत्यत आह—**अव्याकृतमित्युच्यत** इति । इदं उपलक्षणम् । तथा च अव्याकृतमव्यक्तं सुषुप्तिर्निद्रा माया अविद्याशक्तिरित्याद्यनेकशब्दवाच्यं आत्माज्ञानमित्यर्थः ।

यद्यपि शरीरद्वयहेतोस्तस्यार्थक्रियाकारित्वरूपं व्यावहारिकं सत्त्वं सम्भवति तथापि अबाध्यत्वरूपं नैव तत्त्वज्ञानबाध्यत्वश्रवणादित्यभिप्रेत्याह—**तच्च न सदिति** ।

तच्च न सत्, नासत्, नापि सदसत् ।

तर्हि शशशृङ्गादिवदसत्स्यादित्याशङ्क्याह—**नासदिति** । अज्ञोऽहमित्यपरोक्षतया प्रतीयमानत्वान्नात्यन्तमसदित्यर्थः । एतेन सत्त्वनिषेधे असत्त्वं असत्त्वनिषेधे सत्त्वं वा वक्तव्यं परस्परविरुद्धयोरन्यतरनिषेधे अन्यतरावश्यम्भावादिति निरस्तम् । परमते घटात्यन्ताभावे घटतदत्यन्ताभावयोरभाववत्सत्त्वासत्त्वयोरप्येकस्मिन्नभावोपपत्तेरिति भावः ।

प्रत्येकं सत्त्वासत्त्वयोः प्रतिषेधात् केवलसदसद्रूपत्वासम्भ-

१. 'एतत्' इत्यस्य व्याख्यानं तु पूर्वमेव । (स्थूल–सूक्ष्म–शरीरव्याख्यानावसरे) कृतमासीदतोऽत्राम्रेडितभयादेवैतत्सूत्रं निष्टीकमिति भाति ।

वेऽपि समुच्चयात्मकतदुभयरूपत्वं स्यादित्यत आह—नापीति । न ह्यत्र त्रिदोषसमुच्चयस्य सन्निपातत्ववत् त्रिगुणसमुच्चयस्य वा प्रकृतित्ववत्सदसत्समुच्चयस्याव्याकृतत्वमिति वक्तुं शक्यम्, सत्त्वासत्त्वयोः प्रकाशान्धकारयोरिव परस्परविरोधादेकत्र युगपदवस्थानासम्भवात् । तस्मान्न सदसदात्मकमपि तदित्यर्थः ।

न भिन्नं, नाभिन्नं, नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित् ।

सदादिभ्यो भिन्नमेवास्त्विति चेत्, नेत्याह—नभिन्नमिति । नहि सत आत्मनः सकाशाद्भिन्नमिति वक्तुं शक्यते, सर्ववेदान्ततात्पर्यसिद्धाद्वैतहानिप्रसङ्गात्, नाप्यसतः समुच्चयाद्वा असम्भवाद् । ननु स भेदः किं वस्तुधर्मः स्वरूपं वा ? । नाद्यः, सोऽपि किं वस्तुनः सकाशाद्भिन्न उताभिन्न इति विकल्पप्रवेशप्रसङ्गात्, न चायमिष्टः । स यदि धर्मः स्वत एव भिन्नः तर्हि स्वस्यैव भेद्यभेदकत्वेन कर्मकर्तृत्वविरोधप्रसङ्गः । यदि भेदान्तरेण तर्हि सोऽपि भेदो भेदान्तरेणेत्यनवस्थाप्रसङ्गः । अभिन्न एव स धर्मोऽस्त्विति चेत्तर्हि धर्मत्वव्याघातप्रसङ्गः । एवं विकल्पानिष्टत्वान्न भेदो वस्तुधर्मः । [न द्वितीयः] यदि वस्तुस्वरूपमेव सः तर्हि घटपटयोर्भेदो घट एव भवेत्पटो वेत्यन्तरपरिशेषापातप्रसङ्गः । एवं भेदनिरूपणानुपपत्तेरपि कुतश्चिदपि न तद्भिन्नमित्यर्थः ।

भेदनिषेधे प्रसक्तमभेदमपि निषेधति—नाभिन्नमिति । सतोऽभिन्नत्वे ज्ञानापनोद्यत्वानुपपत्तिः बाध्याज्ञानाभिन्नत्वेनात्मनोऽपि बाध्यत्वापत्तिश्च । असतो भिन्नत्वे अपरोक्षप्रतिभासानुपपत्तिः । समुच्चयाभिन्नत्वं त्वसम्भवग्रस्तं, विरोधिनोः सदसतोः समुच्चयासम्भवात् । लक्षणमन्तरेणाव्याकृतस्यासिद्धत्वात्तदभेदोऽपि नोपपद्यते । तस्मान्न कुतश्चिदभिन्नम-

पीत्यर्थः भेदाभेदयोः प्रत्येकं निषेधात्प्राप्तं यद्भिन्नाभिन्नरूपत्वं तदपि स्फुटतरविरोधान्निषेधयति—नापि भिन्नाभिन्नमित्यर्थः ।

सत्त्वादिना निर्वक्तुमशक्यत्वेऽपि तन्नानिर्वचनीयं निरवयत्वादिना निर्वक्तुं शक्यत्वादित्यत आह—न निरवयवमिति ।

न निरवयवं, न सावयवं, नोभयम् ।

तदवयवभूतानां पृथिव्यादीनां विद्यमानत्वान्न तत्तथेत्यर्थः । अस्तु तर्हि कार्यानुसारेण मृदादिवत्सावयवमव्याकृतमित्याशंक्याह—न सावयवमिति । सावयवत्वं नामावयवरूपकारणसमवेतत्वं तच्चाज्ञानस्यानादित्वान्न सम्भवति । सावयवत्वाभावेऽपि परमाणूनां कार्यं सावयवं दृश्यत एव । न ह्यस्माकं परमार्थतः कार्यं सावयवमेवेत्याग्रहः येन तदनिर्वचनीयं न भवेत् । तस्य मिथ्यात्वेन विवर्तत्वं त्विष्टमेव । प्रतीतिरपि स्वाप्नवदुपपद्यते । तस्मान्न मूलकारणं सावयवमित्यर्थः । अर्थप्राप्तमुभयरूपत्वमपि विरोधान्निराकरोति—नोभयमिति ।

ननु लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुनिर्णयः, ततः केनापि प्रकारेण निर्वक्तुमशक्यस्य लक्षणाभावात्सिद्धिरेव न स्यादित्याशङ्कायां सत्त्वादिनाऽनिर्वचनासम्भवेऽपि ज्ञानापनोद्यत्वादिना निर्वचनं सम्भवतीत्यभिप्रायेणाह—किन्त्विति ।

किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम् ।

ज्ञानमात्रापनोद्यमव्याकृतमिति लक्षणं तत्तु पूर्वोक्तरीत्या निर्वचनानर्हत्वादनिर्वचनीयमेव । न चातिव्याप्तिः, सर्ववेदान्ततात्पर्यविषयस्य निर्वचनीयस्यात्मनोऽपनोद्यत्वात् । नाप्य-

व्याप्तिः, अनिर्वचनीयानां भूभूधरघटादीनामप्यविद्याकार्यत्वेन तदात्मकत्वात्। नाप्यसम्भवः, ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधेनाज्ञानस्य ज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्त्यत्वोपपत्तेः। अत्र ज्ञानशब्देनान्तःकरण-वृत्तिरेवोचिता नित्यज्ञानस्याज्ञानविरोधित्वात्। न तु सा निरालम्बना युक्ता, असम्भवात्। नापि घटाद्याकारा, तस्याः प्रपञ्चकारणीभूताज्ञाननाशकत्वासम्भवात्। किन्तु 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादिवाक्येभ्यः समूलसंसारनिराससाधनत्वं ब्रह्मज्ञानस्यैव युक्तम्।

ननु कर्मानुष्ठानस्य तत्समुचितज्ञानस्य वा ज्ञातकर्मणो-विरुद्धाधिकारनिष्पाद्यत्वेन तदसम्भवादित्याशयवानाह—ब्रह्मात्मैकत्वमिति। ब्रह्म चात्मा च ब्रह्मात्मानौ तयोरेकत्वमभेद-स्तद्विषयकं ज्ञानं वक्ष्यमाणस्वरूपब्रह्मैवाहमस्मीत्यखण्डाकारा चित्तवृत्तिः, सा च प्रत्यक्चैतन्यव्याप्ता सती प्रत्यगभिन्नम-ज्ञानं केवलं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव सर्वानर्थमूलं निश्शेषं दूरीकृत्य दग्धेन्धनानलवत्स्वयमेव विनश्यतीति तयै-वापनोदयितुं निवर्तयितुमव्याकृतं शक्यमित्यर्थः।

ननु सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं ब्रह्म, किञ्चिज्ज्ञत्वादिगुणविशिष्टो जीवः, अतः कथं तयोरैक्यमित्याशंक्याह—केवलेति। यद्य-प्यौपाधिकयोस्तयोरैक्यं न सम्भवति तथापि केवलयोरुपाधि-परित्यागेन शुद्धयोश्चिन्मात्रयोस्तत्त्वम्पदलक्ष्ययोस्तद्युक्तमेवेत्यर्थः। केवलमिति ज्ञानस्यापि विशेषणं द्रष्टव्यं, तथा च कर्मसमुच्चय-निरासः।

एवमव्याकृतस्य स्वरूपभूतामाधिदैविकीमवस्थां निरूप्य सुषुप्तिलक्षणां तत्कार्यभूतामाध्यात्मिकीमाह—सर्वप्रकारकेति।

सर्वप्रकारकज्ञानोपसंहारे[1] बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः।

इन्द्रियसंस्पृष्टस्थूलार्थाकारतया स्थूलत्वं वासनामयसूक्ष्मा-र्थाकारतया सूक्ष्मत्वं च वृत्त्यात्मकज्ञानानां सर्वप्रकारकत्वं तेषा-मशेषविशेषविज्ञानानामुपशमो मोक्षदशायामप्यस्तीति बुद्धेः कार-णात्मनाऽवस्थानमित्युक्तं, तावत्युक्ते जागरितादावतिव्याप्तिः कार्यदशायामपि कार्यस्य कारणरूपेणाप्यवस्थानात्, अत आद्यं विशेषणम्। ननु सर्वान्तःपातिन्या बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं प्रलयेऽप्यस्तीति चेत्, सत्यम्, तत्र सर्वकार्यवासनावासितस्य कारणस्यावस्थानेऽपि न केवलं बुद्धिविशेषवासनावासितस्य कारणस्यावस्थानमस्ति येन झटिति बुद्धिमेवोत्पादयेदिति बुद्धे-र्यत्कारणं तस्यैव तद्वासनावासितस्य पुनर्झटिति बुद्ध्युत्पादन-समर्थस्यावस्थानं स्थितिरित्यर्थः। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतिभ्यः पूर्वोक्तं चिन्मात्राश्रयविषयमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेण एकमनेकमिति व्यवह्रियते। तत्र त्रिगुणात्मिकानादिः समस्तकार्यव्यापिनी समष्टिरखिलकारणत्वाद्भोगायतनत्वाच्च कारणशरीरमानन्दप्रचुर-त्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयः कोशः सर्वोपरमत्वान्महा-सुषुप्तिः स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। इयमेव रजस्त-मोभ्यामनभिभूतसत्त्वप्रधाना सर्वशक्तिमती परमार्थतोऽसङ्गस्यापि चैतन्यस्यानाद्याध्यासिकसम्बन्धसम्बद्धा सती तदुपाधिर्भवति। एतदुपहितश्चिदात्मा सर्वज्ञत्वादिगुणकः परमेश्वरः। तस्यैवाज्ञा-नस्य वृक्षस्य शाखापत्रफलपुष्पादिरूपांशा इवानिर्वचनीयांशभूता अनादयो व्यस्तकार्यव्यापिन्यो व्यष्टयोऽनन्ता जीवावरकवि-

१. 'सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे' इतीतरटीकाकारसम्मतः पाठः।

क्षेपका मलिनसत्त्वप्रधाना भवन्ति। इयं व्यष्टिरप्यहङ्कारादिकारणत्वात्कारणशरीरं, आनन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयः कोशः, जाग्रत्स्वप्नोपरमत्वात्सुषुप्तिः, स्थूलसूक्ष्मशरीरलयस्थानमिति चोच्यते। एतदुपहितश्चिदात्माल्पज्ञत्वादिगुणकः प्रायेणाज्ञः प्राज्ञो भवति।

एवमंशांशिनोरिवाज्ञानव्यष्टिसमष्ट्योः कारणशरीरभूतयोस्तद्भोगसाधनत्वानुकूलयोस्तदवस्थाविशेषयोः सुषुप्तिप्रलययोस्तदभिमानिनोश्चिदात्मनोश्च स्वरूपतोऽभेदं सिद्धवत्कृत्य व्यवहारलाघवार्थमव्याकृतसुषुप्त्यभिमानिनः श्रुतिसिद्धां संज्ञां कथयति–तदुभयेति।

तदुभयाभिमान्यात्मा प्राज्ञः।

प्रज्ञा चैतन्यं तत्प्रधानः प्राज्ञः। तदुपाधेस्तत्प्रकाश्यत्वेनोपसर्जनत्वात्प्रज्ञायाः प्राधान्यं द्रष्टव्यम्। यदाऽयं हृदि सोपाधिकपरमेश्वरैक्यं प्राप्तः किमपि न कामयते, न च पश्यति, किन्तु चैतन्यदीप्ताभिर्दुर्लक्ष्याभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवति, तज्जन्यसंस्कारसंस्कृतः कर्मवशाद्यां त्यक्त्वोत्थितः 'सुखमहमस्वाप्सं, न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यनुभूतमानन्दं स्थूलसूक्ष्मविषयकज्ञानाभावं च स्मरति, सेयमस्य सुषुप्त्यवस्था। तथा च श्रुतयः– 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत्सुषुप्तं सुषुप्तस्थान एकीभूतः, प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः' 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' इत्याद्याः। वार्तिके तु 'चैतन्याभासखचितं' इत्यादिना कारणशरीरं निरूप्य 'ज्ञानानामुपसंहारो बुद्धेः कारणतास्थितिः' 'वटबीजे वटस्येव सुषुप्तिमभिधीयते' इति सुषुप्तिं निरूप्य 'अभिमानी तयोर्यस्तु प्राज्ञ इत्यभिधीयते' इति प्राज्ञं च निरूप्य 'जगत्कारणरूपेण प्राज्ञात्मानं विचिन्तयेत्' इत्यौपाधिकभेदनिवृत्तये प्राज्ञेश्वरयोः श्रौतमुपासनं प्रदर्शितम्।

अथ प्रस्थादिमानेन यथा प्रवेशनिर्गमाभ्यां यवादयो मीयन्ते तथा प्राज्ञेन विश्वतैजसौ ॐकारावयवेन मकारेण त्वकारोकारौ मीयेते इव। यतः प्रलयोत्पत्त्योर्विश्वतैजसौ प्राज्ञे ॐकारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे चकारोकारौ मकारे प्रविशत इति भातः, निर्गच्छत इवेति भातः। यथा वा ॐकारोच्चारणे अन्ते अक्षरे एकीभूताविवाकारोकारौ तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तिकाले प्राज्ञे।

एवं श्रुतिसिद्धाभ्यां मानैकीभावसामान्याभ्यां मकारप्राज्ञयोरैकत्वं विदुषः सर्वज्ञत्वादिरूपफलश्रवणान्मकारवाच्यः प्राज्ञो मकार एवेत्यभिप्रेत्याह—एतत्त्रयं मकार इति।

एतत्त्रयं मकारः।

अभिधानाभिधेययोः कार्यकारणयोश्चैकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापनार्थं अविद्यान्तःकरणस्थूलशरीरावच्छिन्नो जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वोऽकारः। स एव स्थूलशरीराभिमानरहित उपाधिद्वयोपहितः स्वप्नाभिमानी तैजस उकारः। स एव शरीरान्तःकरणोपाधिद्वयरहितोऽन्तःकरणसंस्कारावच्छिन्नाविद्यामात्रोपहितः सुषुप्त्यवस्थाभिमानी प्राज्ञो मकार इत्युक्तम्।

एतेषां त्रयाणामपि जीवानां विराट्सूत्रान्तर्यामिभिरभेदेन चिन्तनेनेश्वरकोटिप्रविष्टानां तदुपाधीनां च स्वरूपतो भेदाभावेऽपि केनचिद्रूपेण भेदो व्यवह्रीयते। साक्षी तु सर्वानुसन्धाता सर्वानुगतस्तुरीयाख्य एकविध एव, तत्रोपाधिभेदेनापि न क्वचिद्भेदः सर्वानुस्यूतमायाख्यस्य तदुपाधेरेकरूपत्वात्। साक्षित्वा-

दिकमपि तस्योपाधिप्रयुक्तमेव तदसम्भवात्। स चोङ्कारस्य लक्ष्यार्थः। वाच्यार्थस्तु विश्वादिसमूहः। स च शुक्तिकादौ रजतादिवत् परमार्थभूते साक्षिण्येवाध्यस्तः सोऽपि तत्र भासमानत्वादध्यस्त इवेति रजतादिप्रतिषेधेनैव शुक्त्यादिस्वरूपनिश्चयवद्विश्वादिप्रतिषेधेनैव व्यवस्थस्यैव तुरीयत्वादिना निश्चयो युक्तः।

तथा चोङ्कार एव परमपरं च ब्रह्म "आत्मैवेदं सर्वं, सर्वभूतस्य आत्मैक एव, सर्वभूतानि चात्मनि" इत्यादिवाक्यानामेकरूपता स्यादित्यभिप्रेत्याद्वैतमेवानुसरन्नपवादप्रक्रियां लाघवेन प्रकटयति—अकार उकार एवेति।

अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ॐकारे, ॐकारोऽहमेव।

पञ्चीकृतभूत–तत्कार्यजाग्रदवस्था–तदभिमान्यात्मकमकारं तत्कारणीभूतापञ्चीकृतभूतात्मक उकारे प्रविलापयेत्। तमप्यपञ्चीकृतभूत-तत्कार्यलिङ्गस्वप्नावस्था-तदभिमान्यात्मकं तत्कारणीभूतत्रिगुणात्मकाव्यक्तात्मके मकारे प्रविलापयेत्। तमप्यव्यक्त-सुषुप्त्यवस्था-तदभिमान्यात्मकं तदधिष्ठानभूते ॐकारलक्षिते निष्कले शुद्धे चिन्मात्रात्मके ब्रह्मणि प्रविलापयेत्। यद्यपि 'नातःपरतरं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' तथाप्यसम्भावनादिदोषजनितां तत्तटस्थ्यशङ्कां निश्शेषां दूरीकर्तुं 'तदहमेव' इत्युक्तमिति सूक्ष्मदृशाऽवधातव्यम्। तथा चोङ्कारलक्षित-सर्वोपाधिशून्याखण्डचिन्मात्रब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मपर्यन्तमारोपितस्य स्थूलशरीराद्यव्याकृतप्रपञ्चस्यापवादेन प्रत्यगात्मैकः पर्यवशेषितः।

१. 'ॐकारोऽहम्येव' इत्यपि पाठान्तरम्।

ननु यदि अध्यारोपापवादन्यायमनुसृत्य प्रणवस्वरूपनिरूपणेन प्रत्यगात्मैव परमार्थत्वेन सम्मतः, तदतिरिक्तं सर्वं मिथ्यैव, तर्हि तस्य दुर्बोधत्वाद्वादिविप्रतिपत्तेश्च स एव पुनः पुनर्विशेषतो निर्धारणीय इति शिष्याभिप्रायं मन्वानः सर्वज्ञाचार्यः सुहृद्भूत्वा वेदान्तश्रवणादिसमुद्भूतस्वानुभवं प्रकटयन्नाह—अहमात्मेति।

अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः।

अहमिति प्रत्यय आत्मानमेव विषयीकरोतीति सर्ववादिसिद्धान्तः। तत्र पुत्रदेहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यज्ञानाज्ञानोपहितचैतन्यशून्यान्येवात्मत्वेनाभिमतानि प्राकृतपुरुषादीनाम्। तेऽपि पुनरतिप्राकृतादयः स्वस्वाभिमतात्मसु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासान्प्रमाणत्वेन प्रदर्शयन्ति मोहयन्ति च जनानविवेकिनो जन्ममरणादिदुःखात्मकं संसारमेव पुनः पुनरनुभवन्ति, नैव ततो विमुच्यन्ते, आत्मयथार्थानुभवाभावात्। तथाहि पुत्रस्तावत्प्रीतिविषयोऽप्यनात्मा दृश्यत्वात् जडत्वात् परिच्छिन्नत्वादाद्यन्तवत्त्वाच्च घटादिवत्। एवं देहादीनामपि तैस्तैर्वादिभिरेव स्वाभिमतदुर्बलश्रुत्यादिभिरात्मत्वस्य खण्डितत्वादनात्मत्वं स्पष्टमेव। कथं विवादकुशलपण्डितप्रयुक्तानां श्रुत्यादीनामाभासत्वमिति चेत्, तात्पर्याभावादिति गृहाण। तथा च 'प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमनोऽकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सत्' इत्यादिप्रबलश्रुतिविरोधात्पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तत्वादिप्रयुक्तानां 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादिश्रुतीनां पुत्रप्रियत्वादियुक्तीनां 'पुत्रे पुष्टे अहमेव पुष्टः' इत्याद्यनु-

भवानां च बाध एव युक्तः । अतोऽपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैवेति युक्तम् । प्रपञ्चितं चैतदस्माभिः **शारीरसूत्रसारार्थचन्द्रिकायां** चतुःसूत्रीवर्णने, वृद्धैरप्याचार्यैस्तत्र तत्र वेदान्तविवरणे ।

भवत्वहमनुभवप्रकाशमान आत्मा पुत्रादिविलक्षणः सोऽपि जडः किं न स्यादित्यत—आह साक्षीति । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादिश्रुतिसिद्धस्वप्रकाशात्मकदेहादिसाक्षिणोऽपि जडत्वे घटादिवदनात्मत्वप्रसङ्गः जगदान्ध्यप्रसङ्गः उक्तश्रुतिबाधश्च स्यादिति भावः । भवतु साक्षी चित्स्वरूपः सोऽपि चित्स्वरूपधर्मवान् स्यादित्याशंक्याह—केवलेति । केवलः शुद्धः, सर्वधर्मशून्य इति यावत् । ननु चिच्छब्दापरपर्यायज्ञानस्य नियमेन विषयघटितत्वात्कथमद्वैतं सिद्ध्येदित्याशङ्कयाह—**मात्रेति** । नहि ज्ञानं विषयघटितमेवेति नियमो युक्तः, विषयाणां व्यभिचारेऽपि ज्ञानाव्यभिचारात् । नापि ज्ञानस्य स्वतो भेदो जन्मनाशो वा प्रतीयमानभेदादेर्घटादिविषयभेदघटितत्वेनौपाधिकत्वात् । नहि ज्ञानस्य नित्यत्वैकत्वप्रतिपादकाः श्रुतयो यथातथेच्छादीनामति येन तेषामप्ययं नियमो भवेत् । तस्मात् कल्पितमिथ्याभूतसर्वदृश्यनिमित्तकसाक्षित्वेऽप्यसङ्गो विषयापेक्षवृत्तिज्ञानभिन्नशुद्धनित्यज्ञानात्मक एवात्मेत्यभिप्रायः । वृद्धैस्तु केवलशब्देन चितो विषयनिरपेक्षत्वं विवक्ष्यते । मात्रशब्देनात्मनो द्रव्यबोधरूपत्वं परेष्टं तन्निराचष्टे इति व्याख्यातम् ।

कालत्रयेऽपि शुक्त्यादौ रजतादिवदात्मन्यज्ञानं तत्कार्यभूतं जगच्च नास्त्येवेति कुतस्तयोरात्मत्वशङ्केति परमार्थाभिप्रायेणाह—नाज्ञानं नापि तत्कार्यं चेति ।

नाज्ञानं, नापि तत्कार्यं च[1], किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं ब्रह्मैवाहमस्म्यहं [2]ब्रह्मास्मीत्यभेदेनावस्थानं समाधिः ।

तथा चाज्ञानतत्कार्यसम्बन्धरहितश्चिदात्मा परिशुद्धस्त्वम्पदार्थो द्रष्टव्यः । अस्तु स तथैव, तथापि ब्रह्मणोऽर्थान्तरं किं न स्यात् ? नहि परिच्छिन्नस्यापरिच्छिन्नेन ब्रह्मणा सहाभेदो मुख्यः सम्भवति, येनोङ्कारोऽहमेवेत्युक्त्यैवाद्वैतं सिद्ध्येदित्याक्षिपति—किमिति । नित्यत्वादयः श्रुत्युक्ता ये ब्रह्मधर्मास्ते अवस्थात्रयसाक्षिण्यप्युपलभ्यन्ते । नहि देहाद्युपाधिमन्तरेण तादृशस्य परिच्छेदः सम्भवति, येन दण्डादिना घटमठोपाधिनिरासे तदवच्छिन्नाकाशयोरिव ज्ञानमात्रेण मिथ्यांशा न तत्कृतव्यष्टिसमष्ट्युपाधिनाशेऽपि तदवच्छिन्नयोर्जीवेश्वरयोरैक्यं मुख्यं न भवेत्तस्माद् ब्रह्माभिन्नोऽद्वितीय एवात्मेति नैवाक्षेपं परिहरति—त्विति ।

एतावताऽध्यारोपापवादाभ्यां यः प्रणवार्थो निर्धारितः स एव प्रत्यगात्मा, यश्चायं प्रत्यगात्मा, स एव प्रणवार्थः, तं वक्तुं तत्पदार्थपरिशुद्धिं करोति—नित्येत्यादिना । नित्यविशेषणेन श्रुतिसम्मतेन ब्रह्मणोऽनित्यकार्यैक्यं निरस्यते । एवं शुद्धविशेषणेन कार्यतादात्म्यम्, बुद्धविशेषणेन कारणैक्यम्, मुक्तविशेषणेन कारणतादात्म्यमपि निरस्यते । तादात्म्यैक्योर्भेदसहत्वभेदासहत्वाभ्यां भेद इति वृद्धाः । शुद्धं पापरहितं स्मरणमात्रेण पावनकरम् । अथापि तज्जडं स्यादित्यत आह—

१. अत्र 'च' शब्दो नेतरटीकाकारसम्मतः ।

२. अत्र 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यधिकं त्वेतट्टीकाकारसम्मतम् । अतस्तत्तथैवात्र मूले निवेशितम् ।

बुद्धेति। बुद्धं ज्ञानस्वरूपम्। अथापि जीववद्बद्धं स्यादित्यत आह—मुक्तेति। मुक्तं संसारबन्धशून्यम्। ननु तत्प्रपञ्चाद्भिन्नमभिन्नं वा? नाद्यः, अब्रह्मत्वप्रसङ्गात्, ब्रह्मत्वं नाम बृहत्त्वं बृंहणत्वं वा तच्च बृंह्यमाणप्रपञ्चात्परिच्छिन्नस्य न सम्भवतीति। नापि द्वितीयः, तस्यापि बाधप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—सत्येति। यद्यपि प्रपञ्चाधिष्ठानत्वात्तदात्मकत्वं प्रपञ्चस्य तथैकमेवाधिष्ठानं विभिन्नमिवाविवेकात्प्रतीयते। अथापि निरधिष्ठानस्य बाधस्यायोगात् 'सत्यस्य सत्यम्' इत्यादिश्रुतेश्च बाधाधिष्ठानमेव सत्यमबाध्यं वक्तव्यमित्यभिप्रायः।

अथापि तत्प्रेप्साविषयो न स्यात्, अपुरुषार्थत्वादित्यत आह—परमानन्देति। ब्रह्मानन्दस्य क्षयिष्णुत्वसातिशयत्वनिरासार्थं परमविशेषणम्। यदि परमार्थतः प्रपञ्चः स्यात्तर्हि ब्रह्म प्रपञ्चाद्भिन्नं न वेत्यादिविकल्पावकाशो युक्तः, स कालत्रयेऽपि नास्त्येव, भासमानस्य वाचारम्भणश्रुत्यादिभिर्मिथ्यात्वावगमादिति परमार्थाभिप्रायेणाह—अद्वयेति। न च स्वाङ्गमव्यवधायकमिति न्यायं समाश्रित्याद्वैतत्वधर्माङ्गीकारो युक्त इति वाच्यम्, अपौरुषनिर्दोषस्वतःप्रमाणभूततात्पर्यवन्निर्धर्मकत्वप्रतिपादकास्थूलादिश्रुतिकोपप्रसङ्गात्। तस्मादद्वयं द्वैताभावोपलक्षितं ब्रह्मेत्येवं बोध्यम्। नित्यपदं शुद्धेत्यादिषु सर्वत्र योजनीयं नित्यशुद्धं नित्यबुद्धमिति। तथा च शुद्धत्वादीनां कदाचित्कत्वं निरस्तम्।

एवं तत्पदार्थं विविच्य तेन सह विविक्तत्वं पदार्थस्यैक्यं प्रकटयति—ब्रह्मैवाहमस्मीति। अभेदस्य नीरक्षीरयोरिवौपचारिकत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थमेवकारः। 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं' इतिवद्वाक्यार्थदार्ढ्याय पुनरप्याह—अहं ब्रह्मास्मीति।

एवं जीवब्रह्मणोर्मिथोऽत्यन्तैक्यसम्पादनात्मकव्यतिहारेणाखण्डैकरसात्मकं महावाक्यार्थं निरूप्य तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात् 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति श्वेताश्वतरीये। तथा 'संधिं समाधावात्मन्याचरेत्' इत्यारुण्युपनिषत्। 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः' इति गीता। 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्यो यद्ध्यायति सदा स तदेव पश्यति तदात्मकश्च भवति' इति हि न्यायः। एवमादिभ्यः श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो यथोक्तवाक्यार्थस्यासम्भावनादिदोषनिरासपूर्वकसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणादिवत्ससमाधेरप्यावश्यकत्वात्तं लक्षयति—**इत्यभेदेनावस्थानं समाधिरिति**। इति पूर्वोक्ताध्यारोपापवादाभ्यां सम्यक्प्रणवस्वरूपानुसन्धानेनाखण्डैकरसवस्तुतल्लुब्धस्य चित्तस्य तदाकारतया स्थितिविशेषोऽवस्थानं सम्प्रज्ञातसमाधिरित्युच्यते। स च ज्ञात्रादिविभागोल्लसनपूर्वकः। तदा यथा कुम्भकारनिर्मित मृद्गजादौ गजोऽयमश्वोऽयमिति बुद्धौ तत्तदाकारोल्लेखेऽपि मृन्मात्रमेव सत्यं भासते, गजाद्याकारस्य मिथ्यात्वनिश्चयान्न तस्य सत्यत्वेन भानम्। एवं ब्रह्माकारायां वृत्तौ ज्ञातृज्ञानाद्याकारे उल्लिख्यमानेऽपि ब्रह्मैव सत्यं भासते, न ज्ञात्रादिविभाग इति द्रष्टव्यम्। तथाविधस्वानुभवमङ्गचेष्टात्मकाभिनयं कृत्वाऽऽचार्योऽप्याह—'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्। अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तः'॥ ॐमिति। चैतन्यघनं सर्वगतं मायातीतं एकदैव कृत्स्नमभिव्यक्तं जन्मादिशून्यं सजातीयादिशून्यं कूटस्थनित्यं निरवद्यं सर्वानुस्यूतसन्मात्रं स्वगतभेदशून्यं यद्ब्रह्म तदेवाहमस्मीत्यतः सर्वदैव मुक्तोऽस्मि, न कदाचिदपि बद्ध इत्यर्थः।

वृत्तिमपि तन्मात्रत्वेनोपसंहृत्य वृत्तिमतश्चित्तस्यापि प्रयत्न-

पूर्वकं वस्तुमात्रत्वेनातितरानेकीभावेनावस्थानमसम्प्रज्ञातसमाधिरुच्यते। तदा ज्ञात्रादिविभागोल्लेखाभाव एव। किन्तु जलप्रक्षिप्तस्य लवणस्य जलेनैकीभावमापन्नस्यानवभासेन जलमात्रं यथा भासते तथाऽद्वितीयवस्तुमात्रत्वेन स्थितस्य निर्वृत्तिकस्य चित्तस्यानवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रं भासते। अस्य च प्रयत्नपूर्वकत्वात्सुषुप्तितो विशेषः। सुषुप्तौ तु चित्तस्य कारणात्मनाऽवस्थानात्तन्नास्त्येवेति शरीरपातः। इह तु शुद्धवस्तुमात्रत्वेनावस्थानात्तदस्त्येवेति योगिन आसीनास्तिष्ठन्ति। न चेयं मुक्तिः, तत्राविद्यातत्कार्यसंस्काराणामत्यन्तोच्छेदादिह पुनर्व्युत्थानादिव्यवहारदर्शनेन तेषामनुवृत्तेरिष्टत्वात्। नापि जीवन्मुक्तिः, जीवन्मुक्तस्य व्युत्थानदशायामपि बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासेऽपि स्वस्वरूप एवावस्थानात्। साधकस्य तु तथावभासाभावान्न तथेति। नापीयं प्रमा, विधीयमानत्वात्। ब्रह्मसाक्षात्कारमुद्दिश्य श्रवणादेरिव प्रमायाः प्रमाणजन्यत्वेन विध्यसम्भवात्।

न च श्रवणादेर्ज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवस्य तस्याभिध्यानाद्योजनादिति ध्यानादेर्मायाख्याविद्यानिवर्तकत्वश्रुतेश्चानुपपत्तिरिति वाच्यम्, मूलाज्ञाननिवर्तकवाक्यार्थाप्रतिबद्धसाक्षात्कारोपयोगितात्पर्यनिर्णयचित्तैकाग्रतासम्पादनद्वारा श्रवणादेरज्ञानविरोधितया स्मृत्यादीनामुपपत्तेः। अस्तु नाम श्रवणादिनिर्गुणविषयकमपरोक्षकल्पं ज्ञानं शब्दप्रमाणजन्यत्वात्, अथापि निश्शेषाज्ञानोच्छेदकासन्दिग्धसाक्षात्कारपर्यन्तं तस्यावृत्तिरिष्टैव।

तथाहि उपक्रमादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गैः सर्वेषां वेदान्तानामद्वितीयब्रह्मात्मैक्यरसपरत्वनिश्चयः श्रवणम्, श्रुतस्यार्थस्य वेदान्तानुकूलयुक्तिभिरनुचिन्तनं मननम्, तस्यैव झटिति झटिति विच्छिद्य विच्छिद्य प्रत्ययानां प्रवाहो ध्यानं, निदिध्या-

सनमुपासनं चेत्युच्यते। एतद्द्विविधं दृश्यानुविद्धं शब्दानुविद्धं चेति। यदैकान्ते यमनियमादिबहिरङ्गसम्पन्नो विवेकी सेन्द्रियस्य चित्तस्याखण्डैकरसे लक्ष्ये धारणां कृत्वा ध्यानारम्भं करोति तदान्तिमं तदेव घटिकादिदीर्घकालं प्रयत्नपूर्वकं कृतं सद्दृश्यानुविद्धं तदेव परिपक्वं सत्समाधिश्च भवतीति ज्ञेयम्।

एवं पुनः पुनरभ्यस्यमाना ब्रह्मविद्याख्याऽखण्डाकारा चित्तवृत्तिः सत्त्वोत्कर्षतारतम्यवशादचला सूक्ष्मा शुद्धा च सती प्रमाणप्रमेयगतासम्भावनाविपरीतभावनादिब्रह्मसाक्षात्कारप्रतिबन्धकानि निराकृत्य दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमपि समूलप्रपञ्चमुच्छिद्य चिन्मात्रा सती नष्टा भवति। तदेतद्बोद्धव्यं श्रवणं नाम विचारितशब्दज्ञानम्, तच्च परोक्षम्, तेन ब्रह्मासत्त्वापादकमज्ञानं विनश्यति, नतु सर्वदुःखानि मननादिना। ब्रह्मसाक्षात्कारस्तु सकार्यं मूलाज्ञानं विनाशयति प्रारब्धं विना तन्नाशश्च भोगेन योगेन वा दृढब्रह्मविद्ययैव, तथा च त्रिविधज्ञानेन त्रिविधज्ञाननाशिनी या ब्रह्मविद्या परममुक्तिवदेकरूपापि मनोवस्थाविशेषोपाधिभेदेन श्रवणादिनामभिरपरमुक्तिरिव भिन्ना इति। तदुक्तम्—'शास्त्रेण नश्येत्परमार्थरूपं कार्यक्षमं नश्यति चापरोक्ष्यात्। प्रारब्धनाशात्प्रतिभासनाश एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया'॥ तदेवं श्रवणादिशब्दाभिधे व्यवह्रियते। तथा च श्रवणादीनां ब्रह्मात्मैक्यरूपविषयस्यैकत्वेऽपि शब्दप्रधानत्वयुक्तिप्रधानत्वप्रयत्नसत्त्वोत्कर्षचित्तपरिपाकादितारतम्येन भेदोऽवगन्तव्यः।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधयो योगशब्दवाच्यस्यासम्प्रज्ञातसमाधेरष्टाङ्गानि। तानि च ध्यानवल्ल्यां जीवन्मुक्तिप्रकरणेऽस्माभिः प्रपञ्चितानीत्यत्रोपरम्यते। तत्र धारणादित्रयमेकविषयकत्वाद्योगस्यान्तरङ्गं, यमा-

दिकं बहिरङ्गम् । अशक्तस्य नियमपरित्यागे दोषो न, शक्तस्य तु करणे अभ्युच्चयः । यमास्त्वामरणमनुष्ठेया एव ।

एवं साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य मुख्याधिकारिणः श्रवणादिसमाध्यन्तसाधनानुष्ठानपरिपाके सति गुरूपदिष्टमहावाक्याभ्निःसंदिग्धो दृढश्च ब्रह्मात्मैक्यरससाक्षात्कारः समुदेति तदा चिज्जडग्रन्थिर्भिद्यतेऽपि देहाद्यभिमानोऽपि सर्वानर्थहेतुर्विलीयते, तस्मादविद्यातत्कार्यात्मकसर्वप्रपञ्चोच्छेदाद्ब्रह्मभावलक्षणविदेहमुक्तिरेव भवति, नैव तस्य किञ्चित्कर्तव्यमवशिष्यते, प्रयोजनाभावादधिकाराभावाच्च ।

तथा च श्रुतिस्मृतिन्यायभाष्यकारादिवचनानि—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिन्द्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' ॥ [परं सगुणं अवरं निकृष्टं यस्मात्तत्परावरं निर्गुणम् ।] 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते' 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' 'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'आत्मानं चेद्विजानीयत्' 'यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवति' इति । 'तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम् । ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः' ॥ 'वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नपि क्षितौ पतति । तद्वद्गुणपुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवली भवति' ॥ इति भगवान् शेषः । 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' 'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन । एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत' ॥ इति । "अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्" इति । 'अहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि देहेन्द्रियादिषु अहम्ममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुप-

पत्तेः' इति । 'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्वे पुत्रदेहादिबाधनात् । ब्रह्मैवात्माऽहमस्मीति बोधे कार्यं कथं भवेत्' ॥ इति । 'अधिष्ठाने परे ज्ञाते प्रपंचे विलयं गते । देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावसरः कुतः' इत्यादीनि । तस्मादखण्डब्रह्मात्मनावस्थितिरूपपरमपुरुषार्थैकसाधनदृढसाक्षात्कारपर्यन्तं गुरूपदिष्टमहावाक्यजन्यनिर्गुणप्रत्ययावृत्तिः सर्वसम्मतेति सिद्धम् ।

यस्तु कश्चिदतिशुद्धसत्त्वोऽनेकजन्मसंसिद्धो मुख्याधिकारी व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नो वापि सकृदुपदेशमात्रेण शब्दस्याचिन्त्यशक्तित्वाद्यथोपदिष्टं ब्रह्म निस्संशयं साक्षात्करोति, न तं प्रत्यावृत्तिरुपदिश्यते शारीरकादेः शास्त्रस्यामुख्याधिकारिविषयत्वोपपत्तेः । तदुक्तं भारते-'आत्मानं विन्दते यस्तु सर्वभूतगुहाशयम् । श्लोकेन यदि वाऽर्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम्' ॥ आचार्यैरप्युक्तम्-'वाक्यश्रवणमात्रेण पिशाचवदवाप्नुयात्' इति । व्युत्पन्नोऽपि शास्त्रपाठादिना व्याकुलचित्तो यदि तद्वसकृदुपदेशेऽपि न साक्षात्करोति किन्तु परोक्षत्वेनैव ब्रह्मानुभवतीति तं प्रत्यावृत्तिः सफलैव ।

यद्यपि ब्रह्मणो निर्गुणत्वान्निरवयवत्वाच्च सगुणस्येव विशेषपरिज्ञानार्थं प्रत्ययावृत्तिर्नोपपद्यते, तथाप्याविद्यकदेहादिविशेषाध्यासात्तन्निरासायोपपद्यते । तथा च कतिचिद्दोषाः श्रवणेन निरस्यन्ते, कतिचिन्मननेन, कतिचिन्निदिध्यासनादिना । एवं सर्वेष्वाविद्यकदोषेषु क्षीणेषु स्वत एव ब्रह्म प्रकाशते, मेघापाये रविरिवेति परमरहस्यमनुसंधेयम् ।

निर्गुणश्रवणादीनामावृत्तिर्भाष्यकारैरपि "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति चतुर्थारम्भे प्रतिपादिता । उक्तं च-'एवं निरन्तरकृता ब्रह्मैवास्मीति वासना । हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव

रसायनम्' इति ॥ यदा ज्ञानोत्पत्तिसमये प्रबलं प्रारब्धकर्म न क्षीयते तदाऽविद्यालेशानुवृत्त्या शरीरावस्थानेऽपि प्रारब्धमात्र-भोगार्थं जीवन्नपि मुक्तसंसारो भवति। प्रारब्धक्षये तु केवलं ब्रह्मैव। तथा च श्रुत्यादयः—"तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते।" "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"। "विमुक्तश्च विमुच्यते"। "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" इत्यादिश्रुतिः। 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह'। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभि-जायते' ॥ 'स योगी मयि वर्तते'। 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'। 'प्रजहाति यदा कामान्' 'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च' इत्यादिगीता। 'हयमेधशतसहस्राण्यथ कुरुते ब्रह्म-घातलक्षाणि। परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः' इति शेषो भगवान्। 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्'। 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यन्ते'। 'बलवत्प्रयुक्तबाणपाषाणादिवत्प्रवृत्तफलस्य कर्मणो यावद्वेगक्षयं निवारकाभावान्न तदधीनस्य देहस्य सद्यः पातः' इत्यादि-न्यायः। 'यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः। एवं जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि'। 'इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्'। इत्यादिपुराणम्। स यदा पूर्वाभ्यासवशादप्रयत्नतः समाधिनिष्ठस्तदा ब्रह्मानन्दमेवानुभवति, न तु तद्भिन्नं किंचिदपि। तथा च श्रुतिः—'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसा निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' ॥ 'यं लब्ध्वा नापरं लाभं मन्यते' इत्यादिस्मृतिश्च।

व्युत्थानदशायां दैववशादिन्द्रजालमिव सर्वं पश्यन्नपि परमार्थतो न पश्यति 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव'

इत्यादि श्रुतेः। उक्तं च—'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः। तथापि कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः' ॥ इति। 'चिदिहास्तीह चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव तत्। चित्त्वं चिदहमेवेति लोकाश्चिदिति संग्रहः' ॥ (द्वयं द्वैतं अद्वयत्वतः द्वैतस्य बाधितत्वादित्यर्थः।) 'सुषुप्तवद्यश्चरति स मुक्त इति कथ्यते' इति वशिष्ठः। अस्य ज्ञानात्पूर्वमेव साधकावस्थायामशुभवासनानां क्रोधादीनां निवर्तितत्वाच्छुभवासनानां क्षान्त्यादीनां चाभ्यस्तत्वात्तासामे-वानुवृत्तिर्युक्ता। कदाचिद्दैववशादशुभं कुर्वतोऽप्यभिमाना-भावान्न दोषः। एवं शुभं कुर्वतोऽपि न पुण्यम्। तथा च सर्वत्रौदासीन्यमेव मुक्तलक्षणम्। न तु विध्यधीनप्रवृत्तिमत्त्वं निषेधाधीननिवृत्तिमत्त्वं वेति रहस्यं बोध्यम्। यद्यपि स साधुः पापादिषु समो हिंसानुग्रहशून्यश्च तथापि ये तं द्विषन्ति ते यादृच्छिकं तत्पापं गृह्णन्ति दुःखान्यनुभवन्ति च, ये भक्त्याऽ-र्चयन्ति ते तु तत्पुण्यं गृहीत्वा सुखिनो भवन्ति। 'सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति श्रुतेः।

यद्यप्यस्य कर्मजाः सिद्धयो न सन्ति तथाप्यतिविरक्तस्य सर्वकामनारहितस्य परिपूर्णचित्तस्य ब्रह्माद्यानन्दाः स्वत एव भवन्ति। तथा च श्रुतिः—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'। 'अथ मर्त्योऽमृतो भवति' 'सोऽश्नुते सर्वान्का-मान्सह ब्रह्मणा' 'अथ तदा सह युगपत्। श्रोत्रियस्य चाकामह-तस्य' इत्यादिः। स्मृतिरपि—'यच्च कामं सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्' ॥ इत्यादिः। वासिष्ठेऽपि तथोक्तम्—'जीवन्मुक्तशरीराणां कथ-मात्मविदांवर। शक्तयो नेह दृश्यन्ते आकाशगमनादिकाः' ॥ तत्र वसिष्ठः—'अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम्। अणि-

माद्यष्टशक्तीनां सिद्धिजालं विवाञ्छति । नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक् । सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि सः ॥ स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते' इति । तस्माद्भगवता पतञ्जलिना तथाऽन्यैरपि भौतिका भूततन्मात्रेन्द्रियाहङ्कारादिविषयकाः सम्प्रज्ञातसमाधयोऽन्तर्धानादिफलका बहुधा ये प्रपञ्चितास्तान्सर्वाननादृत्य मुमुक्षुणा यतिना विरक्तेन विवेकिना चोक्तरीत्योङ्कारार्थानुसंधानपूर्वकं कल्पितं सर्व तदधिष्ठानभूते तुरीये ॐङ्कारलक्षिते शुद्धे ब्रह्मणि प्रविलाप्य तदभिन्नप्रत्यगात्ममात्रविषयक एव मुक्तिहेतुः समाधिरादरणीय इति स्थितम् ।

एवं परमार्थदर्शिना विवेकिना श्रद्धातिशयेन प्रयुक्तस्त्रिमात्रः परममन्त्रोऽचिन्त्यशक्तिरोङ्कारः सबीजं सर्वानर्थनिधिं प्रपञ्चं दग्ध्वैव तुरीयं शुद्धं प्रविशतीति न पुनस्तस्य पुनः पूर्ववत्प्रपञ्चानुभवो युक्तः । नहि रज्जुसर्पयोर्विवेकिना 'नायं सर्पः, किन्तु रज्जुरेव' इति रज्ज्वां प्रविलापितः सर्पो बुद्धिजसंस्कारात् पुनः स्मृतोऽपि न पूर्ववद्भयकम्पादिकार्यकरणक्षमो भवति विवेकवतः । मन्दमध्यमधियां तु साधकानां श्रद्धावतां यतीनामकारादीनां मात्राणां विश्वादीनां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां विदां विधिवदुपास्यमान ॐङ्कारो ब्रह्मप्रतिपत्तये आलम्बनो भवति । तथा चोक्तम्—'ॐङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः । ॐङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् । प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्' । इत्यादिना ॥ सगुणं ब्रह्मैव प्रणवः क्षीणेषु मात्रापादेषु निर्गुणं ब्रह्मापि स एवेति निश्चित्य तत्रैव चेतः समादध्यादित्यर्थः । विश्वादिसमूहमोङ्कारवाच्यमोङ्कारलक्षिते तुरीये कल्पितत्वान्न तदतिरिक्तं किन्तु चिन्मात्रमेव

तदिति निश्चित्य तदहमेवेति प्रत्ययप्रवाहात्मकं प्रणवसामान्यनिर्गुणोपासनं तदेव विशेषणांशपरित्यागेन यथाऽन्तःकरणवृत्तिश्चिदात्माकारतया सूक्ष्मा भवति तथाऽभ्यस्तं समाधिरित्युक्तम् ।

केचित्तु—'सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत् । सन्धिं च पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्' ॥ इत्यनुसृत्य 'सोऽहमित्यस्य परमात्माऽहं इत्यर्थो यथा तथा ॐमित्यस्यापीति मत्त्वा तमुपासते' 'ॐमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' । 'ॐमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्यादिवाक्येभ्यः । विवेकनिपुणास्तु 'यो मां पश्यति सर्वत्र' 'सर्वभूतस्थमात्मानं' 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम् ॥ उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः । समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाऽथ वा बहिः ॥ स्वरूपे निर्मले नित्ये निमेषमपि विस्मृते । दृश्यमुल्लासमायाति प्रावृषीव पयोधरः ॥ देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि । यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥' इत्यादिवाक्यान्यनुसृत्य 'क्षणमात्रं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना । शुकादिव व्याहरतो प्रणवं ब्रह्म चाक्षरम्' ॥ अयं राजयोगमार्ग इति व्यवह्रियते सर्वत्र सर्वदा सर्वावस्थासु चित्तनिरोधं विनापि सम्भवात् ।

विवेकिसुहृदो भक्तास्तु अव्यक्तोपासकानामधिकतरं क्लेशमालोच्य दहराद्युपासनानां मार्गस्येदानीमुच्छिन्नत्वात्सर्वेषामुपासनानामात्मज्ञानोपयोगिचित्तैकाग्र्ये तात्पर्यात् 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया' इत्यादिश्रुतेः 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ तेषामहं समुद्धर्ता' इत्यादिवाक्यान्यनुसृत्य प्रणववाच्यं शङ्खचक्र-

गदाम्बुजमण्डितवेदकराम्बुजनवनीरदाभं पूर्णेन्दुसुन्दरमुखं कमललोचनं सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं विष्णुं परप्रेम्णा सुखेन सच्चिदानन्दरूपं प्रणवेनैव मानसोपचारैः पूजयन्ति स्तुवन्ति ध्यायन्ति च तेन तत्कृपया तन्मात्रमनोवृत्तिप्रवाहदार्ढ्ये सति प्रसन्नं शुद्धमेकाग्रं चित्तं सगुणसाक्षिण्येव स्थापयित्वा तमेव निर्गुणं पूर्णमनुभवन्ति । एवमोङ्कारस्य सामान्यविशेषस्वरूपेण निर्गुणोपासनानि । अवयवद्वारा निर्गुणोपासनं तु सप्रपञ्चं सप्रयोजनं चाधस्तात्प्रतिपादितम् ।

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्' इति । निर्गुणोपासनविधिवद्वाक्यव्याख्यानावसरे श्रीभाष्यकारैः पर्युपासते परि समन्तादुपासते, उपासनं नाम यथाशास्त्रं उपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षत इत्युक्तम् । आत्मबोधप्रकरणे तु—"आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः । भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा' इत्युक्तम् । अन्यत्र तु 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वम्भरा पुण्यवती च तस्य । अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥' 'चित्तैकाग्र्यं परं तपश्च' इत्युक्तम् । तस्मान्मुमुक्षुणा मुक्तये ॐकारेणैव परमात्मन्येव चित्तसमाधानं प्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यमिति स्थितम् । तथा च श्रीवार्तिकम्—'ॐकारः सर्ववेदानां सारस्तत्त्वप्रकाशकः । तेन चित्तसमाधानं मुमुक्षूणां प्रकाश्यते' इति ।

सर्वेषां साधनानां परमफले मोक्ष एव पर्यवसानात् 'अहं ब्रह्म, तदहं' इत्यन्योन्यतादात्म्येन सदावस्थानं विवेकिनः समाधिः । सम्यगभेदेन आ समन्तात्सर्वदा धीयते प्राप्यते विवेकिभिरिति परमात्मा परमपुरुषार्थं इति यावदित्यप्यर्थो

द्रष्टव्यः । तदुक्तम्—'दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः । यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म [एव] न ब्रह्मवित्' इति ।

एवं अपर्यायानेकशब्दप्रकाशिताविशिष्टं सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्यात्मकं कालदेशवस्तुपरिच्छेदशून्यात्मकं, वाऽखण्डं सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्मात्मैक्यमेव तात्पर्येण सर्वश्रुतिसारभूतप्रणवप्रकाश्यं मुक्तिस्वरूपं मुमुक्षुज्ञेयं, तत्प्रतिपत्तिसाधनं निदानं त्वध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वं निश्चित्य तत्र सर्वदाऽऽदरेण प्रणवजपार्थानुसन्धानाभ्यां चित्तनिधानं ततस्तदसन्दिग्धसाक्षात्कारमात्रेण तत्प्राप्तिरूपः परमपुरुषार्थश्चेति निर्णीय सर्वप्रमाणनिर्णीतजीवब्रह्मैक्यरसे श्रुत्यादिप्रमाणैकनिष्ठः सर्वज्ञो भगवान् शङ्कराचार्यः श्रुतिमुख्यानि वाक्यानि प्रमाणयति—**"अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि"** 'इत्यादिवाक्येभ्यः' इति ।

"अयमात्मा ब्रह्म" (बृह. २।५।१९) "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) "अहं ब्रह्मास्मि" (परमहं० ३) इत्यादिवाक्येभ्यः ।

इति पञ्चीकरणं भवति ॥ ॐ ।

अत्रादिपदेन 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं', 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः', 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतस्तमेवैकं जानीथाः,' 'आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ,' 'इदं सर्वं यदयमात्मा,' 'आत्मैवेदं सर्वं,' 'ब्रह्मैवेदं सर्वं,' 'पुरुष एवेदं सर्वं,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि,' 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः

सनातनः,' 'वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च, ''वासुदेवः सर्वं,' 'नारायणः सर्वमिदं पुराणः' इत्यादयो ब्रह्मजीवयोरैक्यस्य ब्रह्मभिन्नजगतोऽसत्त्वस्य च प्रतिपादकाः श्रुतिस्मृतयो गृह्यन्ते। तथा च–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्,' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादीनि तत्पदार्थस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिविषयाणि 'तद्यथा महामत्स्यः' इत्यादीनि 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः,' 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः,' 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यादीनि च त्वम्पदार्थस्य च प्रतिपादकानि वाक्यान्यपि।

तथा च प्रथमं ब्रह्मात्मैकत्वपर्यवसितेभ्योऽवान्तरवाक्येभ्यो महावाक्यार्थज्ञानोपयोगिनौ तत्त्वम्पदार्थौ विनिश्चित्य मननादौ प्रवृत्तस्य साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य देवगुरुमन्त्रानुगृहीतस्य व्युत्पन्नस्य मुख्याधिकारिणो गृहीतसङ्गतिकं तत्त्वमस्यादिमहावाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थावबोधकं भवति, अखण्डार्थनिष्ठत्वात् 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यवत्। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः, पदयोस्तदर्थयोर्वा लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तत्र भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यसम्बन्धः प्रथमः। यथा–'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्र तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य च एकस्मिन्पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्ये परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वकिंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य च एकस्मिंश्चैतन्ये, व्यवच्छेदकं विशेषणं व्यवच्छेद्यं विशेष्यं तयोर्भावः स एव सम्बन्धः, सम्बन्धवदुभयनिरूपणीयत्वात्। यथा तत्रैव तत्कालैतत्कालविशिष्टयोः सोऽयंशब्दार्थयोरन्योन्य-

भेदव्यावर्तकतया द्वयोरपि विशेषणविशेष्यभावः 'अयं सः, सोऽयं' इति।

तथात्रापि तत्त्वम्पदार्थयोरीश्वरजीवयोरन्योन्यभेदव्यावर्तकतया त्वं तदसि तत्त्वमसीति सः। पदपदार्थयोः स्मार्यस्मारकभावः सङ्गतिः, सा द्विधा शक्तिर्लक्षणा चेति। शक्तिर्नाम मुख्या वृत्तिः। पदपदार्थयोर्वाच्यवाचकसम्बन्ध इति यावत्। सा च द्विधा योगो रूढिश्चेति। तत्र अवयवशक्तिर्योगः, यथा पाचकादिपदानाम्। रूढिः समुदायशक्तिः, यथा घटादिपदानाम्। सा च पदार्थे इति तार्किकाः, कार्यान्वित इति मीमांसकाः, अन्वित इति वेदान्तिनः। सा च व्यवहारादिना गृह्यते।

शक्यसम्बन्धो लक्षणा। सा त्रिविधा जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। तत्र शक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा। यथा 'अयं गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदस्य तीरे लक्षणा। शक्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि वृत्तिरजहल्लक्षणा। यथा 'शोणो धावति' इत्यत्र शोणगुणाश्रयेऽश्वादौ शोणशब्दस्य तद्विशिष्टे लक्षणा। शक्यैकदेशपरित्यागेन एकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा, इयमेव भागत्यागलक्षणेत्युच्यते। यथा सोऽयमिति वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धकेवलदेवदत्तपिण्डे लक्षणा, तथा च तयोः पिण्डेन सह लक्ष्यलक्षणभावात्मकः सम्बन्धः। तथाऽत्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्ध-परोक्षत्व-सर्वज्ञत्वापरोक्षत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वादि-विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धकेवलचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथा च तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठं अकार्यकारणद्रव्य-

मात्रनिष्ठत्वे सति सामानाधिकरण्यवाक्यत्वात्, सोऽयं देवदत्त इत्यादिवाक्यवत् इति प्रयोगः ।

घटपटौ स्त इत्यादौ व्यभिचारवारणायोत्तरदलं, नीलोत्पलमित्यादौ व्यभिचारवारणाय पूर्वदलमिति बोध्यम् । तदेवं पदयोरखण्डार्थनिष्ठत्वेन प्रतीयमानं सामानाधिकरण्यं वाच्यार्थांशे विरोधाद्विना लक्षणां न सङ्गच्छते । एवं विरुद्धयोः परस्परं प्रतीयमानविशेषणविशेष्यभावोऽपीति लक्षणायां प्रसक्तायां जहदजहल्लक्षणयोः प्रकृतासङ्गतेः पदवाच्यगतविरुद्धांशप्रहाणेनाविरुद्धांशयोर्लक्षणयैव सामानाधिकरण्ये सति गृहीतसङ्गतिकादाकाङ्क्षादिसहकारिसंपन्नाच्च निर्दोषश्रुतिवाक्यादधिकारिणो व्युत्पन्नस्याखण्डार्थनिश्चयो भवत्येव ।

नहि तत्त्वमर्थयोः श्रुतिसिद्धयोः परमार्थतः केवलचैतन्यस्वरूपयोर्निर्विकारयोर्गुणगुण्यादिभावः सम्भवति । नापि तात्पर्यवदनेकवेदवाक्यनिर्णीतार्थस्य बाधः शक्रेणापि कर्तुं शक्यः । येन नीलोत्पलादिवाक्यवदस्याप्यखण्डार्थो न भवेत् । तस्मादुक्तरीत्यैव श्रद्धालुना विवेकिना वाक्यार्थोऽनुसन्धेयः । गुरुवेददेवश्रद्धारहितस्य संदिहानस्य तत्त्वज्ञानं नैवोत्पद्यते यथोक्तं व्युत्पन्नस्यापि अव्युत्पन्नस्यापि गुरुवेददेवश्रद्धासंपन्नस्य गुरूपदिष्टब्रह्मनिष्ठयैव साक्षात्कारो मरणे ब्रह्मलोके वा ।

तथा चोक्तम्—'तस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः' 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति', 'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' । 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते', 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च', 'संशयात्मा विनश्यति' 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं', 'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥' 'अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा

सामग्र्याश्चाप्यसम्भवात् । यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥' 'मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं ज्ञात्वा विमुच्यते । ब्रह्मैवाहं न संसारी मुक्तोऽस्मीति विभावयेत् । अशक्नुवन् भावयितुं वाक्यमेत्र सदाऽभ्यसेत् । बद्धो बद्धाभिमानी स्यान्मुक्तो मुक्ताभिमान्यपि ॥' 'किंवदन्तीह सत्यार्था या मतिः सा गतिर्भवेत् ।' किंवदन्ती लोकश्रुतिः । 'भिन्नः कीटो भयोपास्त्या भृङ्गिरीटोऽभवत्तथा । कश्चिद्यतिर्जडमतिर्गुर्वादिष्टो मुदे प्रियः । महिष्यवच्छिन्नब्रह्मोपास्त्या तद्रूपतां गतः । किं चित्रं ब्रह्मरूपो हि जीवो ब्रह्मत्वमाप्नुयात् ।' 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च' इत्यादिश्रुत्यादिभिः । ततो दृढोपासनात्मकसमाधेः ।

अत्रेदं तत्त्वम्—गुरूपदिष्टशङ्खचक्रगदाब्जधनुर्बाणाद्यङ्कितादिव्यमनोहरश्रीकृष्णरामरूपाद्यवच्छिन्नसर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टब्रह्मोपासकस्य भक्त्यतिशयादिहैव साक्षात्कारो ध्रुवादेरिव यदि भवेत्तर्हि विरक्तस्य परमेश्वरोपदेशमात्रेण ब्रह्मविद्यया तदैवाविद्यानिवृत्त्युपलक्षितब्रह्मभावलक्षणो मोक्षः । अविरक्तस्य तु ब्रह्मलोकादिदिव्यभोगानन्तरम् । यथोक्तनिर्गुणब्रह्मोपासकस्य मरणे जीवद्दशायामपि गुर्वाद्यनुगृहीतस्य ब्रह्मसाक्षात्कारः, न तु ब्रह्मलोकादिप्राप्तिः, किन्तु तदैव मुक्तिः प्रारब्धक्षयश्च तत्सत्त्वे तु मन्दबुद्धेर्ज्ञानं नैवोपजायते विरक्तस्यापि जन्मान्तरं विना । यदि गुर्वाद्यनुगृहीतो विवेक्यपि सगुणनिर्गुणब्रह्मनिष्ठो भवेत्तर्हि स समस्तसाधनसम्पन्नः समाहितो योगी व्यवहरन्नपि सर्वदा मुक्त एव सर्वान् लोकान् पुनाति उपदेशमात्रेण, मन्दप्रज्ञानपि संसारान्मोचयति । तस्मात्सर्वैरपि मुमुक्षुभिश्चित्तविश्रान्त्या परमसुखप्राप्तये तत्त्वज्ञाननिष्ठैव प्रयत्नतः सम्पादनीयेति बोध्यम् ।

तदेवं गुर्वाद्यनुगृहीतस्यैव गुरूपदिष्टमहावाक्यार्थनिष्ठस्य मुख्याधिकारिणो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-परमानन्दाद्वय-ब्रह्मैवाहमस्मीत्यखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपा दृढब्रह्मविद्योदेति हृदये शमदमादिसंस्कृते। सा तु चित्प्रतिबिम्बिता सती सर्वानर्थ-कारणं सकार्यं मूलाज्ञानमशेषं निरस्य तदन्तर्भूता स्वयमपि निरिन्धनाग्निज्वालेव नष्टा भवति। स्वोपाधिनाशे वृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं ब्रह्ममात्रं भवति, न तु तत्प्रकाशयति स्वप्रकाशरूपं, जडं घटमिव। घटाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं तु वृत्त्या घटाज्ञाने निरस्ते स्वयं घटमपि भासयतीति ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वेऽपि फलव्याप्यत्वाभावात् 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'यन्मनसा न मनुते' इति श्रुत्योरविरोधः। गुर्वादिनिष्ठोज्ज्वलितब्रह्मविद्यया समूल-सर्वप्रपञ्चोच्छेदे केवलः प्रत्यगात्माऽखण्डसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मैवेति सिद्धम्।

यद्यप्यारंभणाधिकरणन्यायेन ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वनिश्चयात् सर्वदा केवलं ब्रह्मैव, तथापि यावद्ब्रह्म-ज्ञानं पारमार्थिकव्यावहारिकप्रातिभासिकरूपेण वस्तुत्रैविध्या-ङ्गीकारात्तथोक्तं शिष्टव्यवहारमनुसृत्य शिष्यशिक्षार्थम्। परमार्थतस्तु नैव बन्धमोक्षादिव्यवहार इति परमं मङ्गलमोंम्।

तथा च श्रुत्यादिवचनानि—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैवेदं जगन्मतम्॥

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम्।
चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्॥

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च॥

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः॥

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते॥

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥

इत्यादीनि तुष्यन्ति।

अद्वैतसौख्यगुरुपूज्यपदे प्रणम्य
श्रीव्यासशङ्करसुरेश्वरपद्मपादान् ।
तत्त्वप्रबोधकनिबन्धकृतस्तथाऽन्या-
न्विद्यापरान्यतिवरान् सततं प्रणौमि ॥

येषां सतां सुपदवीमनुसृत्य बालो
वेदान्तशास्त्रसुनिबन्धकरोऽहमस्मि ।
तानेव वेदविदुषः परमार्थनिष्ठान्
विप्रान्स्मृणामि सततं हृदि संस्मरामि ॥

ब्रह्मादिदेवमुनिवांछितपादपद्मं
संसारतप्तशरणागतदीनबन्धुम् ।
विश्वोद्भवादिशुभलीलमनन्तशक्तिं
स्वौङ्कारवाच्यममलं हरिमाश्रयेऽहम् ॥

वेदैर्विधानसुनिषेधत आदरेण
यो लक्ष्यते प्रणवतो मनसाऽप्यचिन्त्यः ।
सत्योऽभयोऽगुणपरो विभुरेक एव
सोऽहं शिवोऽस्म्यनुभवो न निबन्धकर्तोम् ॥

इति श्रीमन्महाडकरोपनामकसदाशिवसूरिसूनुना श्रीमदद्वै-
तानन्द-परमहंसवर-गुरुपदारविन्दसङ्गलब्धवेदान्ति-
नामधेयेन भगवद्भक्तकिङ्करेण श्रीगङ्गाधरकविना
विरचिता यतिहिता परमार्थावलम्बिनी
पञ्चीकरणचन्द्रिका समाप्ता

परिशिष्ट—२

वार्तिक-श्लोकानुक्रम

परिशिष्ट–३

उद्धरण-सन्दर्भ

प्रतीक	आकर
इन्द्रो मायाभिः	बृह. २।५।१५
इन्द्रो मे बले	
इहैव तैर्जितः	गीता ५।१९
उत्क्रामन्तं प्राणो	
उपक्रमोपसंहारा	
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे	
एकमेवाद्वितीयं	छांदो. ६।२।१
एतस्माज्जायते प्राणो	मुण्ड. २।१।३।, कैव. १५.
एतावदरे	बृह. ४।५।१२
एवं निरन्तरकृता	
एष त आत्माऽन्तर्या	बृह. ३।७।३।, ४।२,३
एष सर्वेश्वरः	बृह. ४।४।२२।२। माण्डू. ६
एष सर्वेष्वरः	मुण्ड. ६
ऐतदात्म्यमिदं	छान्दो. ६।८।७
ओङ्कार एवेदं	छान्दो. २।२३।४
ओङ्कारं पादशो	आगम. २।२४
ओमिति ब्रह्म	तै. उ. १।८।१
ओमित्यात्मानं	महाना. १७।१५
ओमित्येकाक्षरं	ना. प. ८।२
ओमित्येतदक्षरमिदं	माण्डू. १, नृ. पू. ४।२
ओमित्येतेनैव	
ओमित्येवं ध्यायथ	मुण्ड. २।२।६
ओङ्कारश्चाथ	
ओषधिवनस्पतयो	ऐत २।५
किंवदन्तीह सत्यार्था	
कुर्यात् क्रियेत कर्त्तव्यं	
कुलं पवित्रं जननी	भागवत
क्षणमात्रं न तिष्ठन्ति	
क्षेत्रज्ञं चापि मां	भ. गी. १३।३

प्रतीक	आकर
गुहाँ प्रविष्टौ	ब्र. सू. १।२।११
गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां	
गौणमिथ्यात्मनो	
चित्तैकाग्र्यं परं	
चिदिहस्तीह	वराहो. २।४७
जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे	वि. पु.
जीवन्मुक्तशरीराणां	वासिष्ठे
ज्ञानादेव तु कैवल्यम्	
तत्त्वमसि	छान्दो. ६।८।७
तत्सत्यं स आत्मा	छां. ६।८।७
ततः प्रत्यक्चेतना	यो. सू. १।२९
तदनन्यत्वमा	ब्र. सू. २।१।१४
तदापीतेः संसार	ब्र. सू. ४।२।८
तद् यथा महा	बृह. ४।३।१८
तद्यथा शङ्कुना	छां. २।२३।३
तद्यथाहिनिर्ल्व	बृह. ४।४।७
तद्यथेह कर्म	छां. ८।१।६
तद् योऽहं सोऽसौ	ऐत. २।४।३
तद्धेदं तर्ह्य	बृह. १।४।७
तद्विज्ञानार्थं स	मुण्ड. १।२।१२
तद् विद्धि प्रणि	भ. गी. ४।३४
तमेव विदित्वा	श्वेता. ३।८।, ६।१५
तरति शोकमात्म	छां. ७।१।३
तस्माच्छास्त्रं	भ. गी. १६।२
तस्माद्वा एतस्मा	तै. २।१।१
तस्य तावदेव चिरं	छां. ६।१४।२
तस्य त्रय भाव	ऐत. ३।१२
तस्य द्वैतस्य	बृह. २।३।६
तस्मिंस्तस्मिंस्तु	वि. पु.
तासां त्रिवृतं	छां. ६।३।३,४
तीर्थे श्वपचगृहे	पैङ्गलो. ४।५

प्रतीक	आकर
तेजोमयी वाक्	छां. ६।५।४,५।६।,६।७।६
तेषामहं समुद्धर्त्ता	भ. गी. १२।७
त्रीणि रूपाणि	छां. ६।८।७
दर्शनादर्शने हित्वा	मुक्तिको २।६४
दिग्वातार्कप्रचेतो	पैङ्गलो. २।४।, वराहो. १।१४
दिशः श्रोत्रं भूत्वा	ऐत. २।४
दृशिस्वरूपं	मुक्तिको. २।७३
दृश्यते त्वग्रयया	कठो. ३।१२
देवात्मशक्ति	
देहाभिमाने गलिते	सरस्व. ५५
न तत्र रथा न	बृह ४।३।१०
न तस्य कार्यं करणं	श्वेता. ६।८।, भवत. २।४४
न तस्य प्राणा	बृह. ४।४,६
न दृष्टेर्द्रष्टारं	बृह. ३।४।२
न निरोधो न	मा. का. वै. ३३ ब्र. बि. १०, आत्मो. ३१
नात्मज्ञस्यैष	अ. पू. ४।३।, वराहो. ३।२७
नारायणः सर्वं	ना. पू. ता. ५।४
नित्यं विज्ञान	दृह. ३।२८
निर्मलं निष्क्रियं	अमन. २।२६
नेति नेति	बृह. २।३।६
नेह नानास्ति	बृह. ४।४।१९ कठ ४।११
नैव तस्य कृते	भ. गी. ३।१८
पञ्च चेन्द्रिय	गीता १३।५
पञ्चवृत्तिर्मनो	
पञ्चीकृतानि भूतानि	

प्रतीक	आकर
पञ्चीकृत्य शिवाज्ञया	ब्रह्मगीता
पृथिवी च पृथिवी	प्रश्नो. ४।८
पुरुष एवेदं	श्वेता. ३।१५ ऋ. वे. १०।९०।२
पुरुषान्न परं	कठोप. ३।११
पूर्वापरबलीयस्त्वं	कु. भट्ट
पृथिवी वाऽन्नम्	तै. ३।६।१
प्रकाशं च प्रवृत्ति	गीता १४।२२
प्रजहाति यदा	वराहो. ४।२८
प्रज्ञानघन	बृह. ४।५।१३
प्रज्ञानमानन्दं	ऐत. ३।९
प्रत्यगस्थूलोऽचक्षु	
प्राणोऽपानो व्यान	बृह.५।१४।३
प्रारब्धकर्मणां	
बाहोर्बलम्	
ब्रह्मविदाप्नोति	तै. २।१।१
ब्रह्मवेद ब्रह्मैव	मुण्ड. ३।२।६
ब्रह्मसंस्थोऽमृत	छां. २।२३।१
ब्रह्माकारमनो	
ब्रह्माहमस्मि	परमहं. ३
ब्रह्मैव सन् ब्रह्मा	बृह. ४।४।६
ब्रह्मैवेदं सर्वं	नृसिंहो. ७।३
भवप्रत्ययो	यो. सू. १।१९
भिद्यते हृदय	मुण्ड २।२।८
भिन्नः कीटो भयो	
भूतं भवद्	नृ. पू. ४।२
भूयश्चान्ते विश्व	श्वेता. १।१० ना. प. ९।९
मनःषष्ठानी	भ. गी. १५।७
मनः सर्वेन्द्रियाणि	नारा. १
मनसैवानुद्रष्ट	बृह. ४।४।१९
मनसो वृत्ति	